CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्म-साधना

गुह्य-विद्या के प्रकाश में आत्मानुसंधान और
आत्मानुभूति की समस्या

8.4

(SELF-CULTURE)

(The Problem of Self-Discovery and Self-Realisation
in the Light of Occultism)

लेखक
डा. इकबाल किशन तैमिनी

अनुवादक
डा. रघुवीर शरण गुप्ता

प्रकाशक
इंडियन बुक शॉप
थिऑसोफिकल सोसायटी, भारतीयं शाखा, वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्म-साधना

गुह्य-विद्या के प्रकाश में आत्मानुसंधान और आत्मानुभूति की समस्या

(SELF-CULTURE)

(The Problem of Self-Discovery and Self-Realisation in the Light of Occultism)

लेखक
डा. इकबाल किशन तैमिनी

अनुवादक
डा. रघुवीर शरण गुप्ता

प्रकाशक
इंडियन बुक शॉप
थिऑसोफिकल सोसायटी, भारतीय शाखा, वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशक :
इंडियन बुक शॉप,
थिऑसोफिकल सोसायटी, कमच्छा वाराणसी–221010

प्रथम संस्करण : नवम्बर 1978
द्वितीय संस्करण : अप्रैल 2004

मुद्रक :
रत्ना ऑफसेट्स लि.
कमच्छा, वाराणसी 221010

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

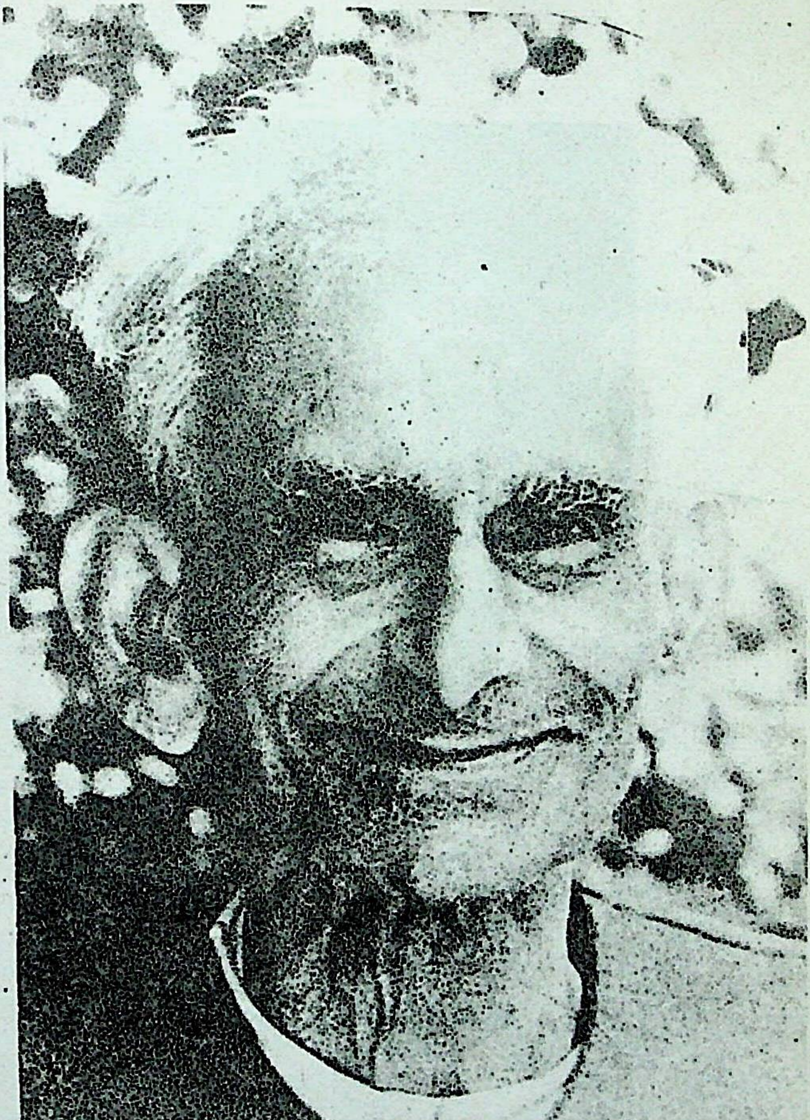

लेखक

डा. इकबाल किशन तैमिनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादक

डा. रघुवीर शरण गुप्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्म-साधना

पुस्तक में ठीक की गई अशुद्धियाँ

पृष्ठ संख्या	स्थान	अशुद्धि	शुद्ध स्वरूप
भूमिका	लाइन		
XI	ऊपर से 2	का	को
XI	नीचे से 12	चित्रों	चीजों
XI	नीचे से 3	बात	बातें
XII	ऊपर से 8	अभा	अभी
5	नीचे से 8	तत्व	सत्य
4	नीचे से 10	पूर्णतर	पूर्णतः
4	नीचे से 2	ए	एक
8	ऊपर से 12	अनुदित	अनुचित
10	ऊपर से 12	में	Dilit
16	ऊपर से 12	निर्माण	निर्वाण
21	ऊपर से 4	निभर	निर्भर
21	ऊपर से 8	में	निभर
28	नीचे से 2	केन्द्र के	केन्द्र का
33	ऊपर से 15	तो	दो
34	ऊपर से 10	चेतन	चेतना
63	नीचे से 7	न तो दुखद होते है और	न तो सुखद होते हैं न दुःखद
66	नीचे से 10	तो	का
69	नीचे से 2	या	Dilit
70	ऊपर से 7	कुछ	जो
81	नीचे से 4	प्रम	प्रेम
84	ऊपर से 7	निमित्त	विभिन्न
85	नीचे से 12	देवात्मा	देहात्मा
	नीचे से 12	मध्यम	माध्यम
	नीचे से 12	व्यक्ति	व्यक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृष्ठ संख्या	स्थान	अशुद्धि	शुद्ध स्वरूप
91	ऊपर से 10	ज्ञान	भान
101	ऊपर से 1	माध्यस से	माध्यम में
105	नीचे से 7	में	से
107	ऊपर से 4	पक्ष	पक्षों
109	ऊपर से 7	को	की
112	ऊपर से 8	लाइन के अन्त में	Dilit
113	नीचे से 1 (अन्तिम)	आय	आभा
114	ऊपर से 12		' सकते के बाद – (अस्पष्ट सा) के बाद Dilit उसके स्थान पर
120	नीचे से 13	भी	ही
123	नीचे से 8	को	कीं
137	ऊपर से 12	नियर्दता	निर्दयता
138	नीचे से 5	1	Dilit
149	ऊपर से 9	द्धि में,	बुद्धि में
155	नीचे से 4	उसका	उनका
156	ऊपर से 12	से	में
157	ऊपर से 8	आपके	आप की
160	नीचे से 8	को	की
169	नीचे से 7	अपूर्णतः	अपूर्णता
"	नीचे से 6	भ्रात्तिया	भ्रान्तियाँ
170	अन्तिम	हैं	है
176	ऊपर से 1	उसको	उसकी
178	ऊपर से 10	आत्मिक	अध्यात्मिक
180	नीचे से 2	अपने	अपनी
181	ऊपर से 6	यदि हमारे कार्य	यदि ये हमारे कार्य
183	नीचे से 2	विरोध	निरोध
191	नीचे से 3	मन को	मन के
196	ऊपर से 13	1	?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृष्ठ संख्या	स्थान	अशुद्धि	शुद्ध स्वरूप
201	ऊपर से 19	वृद्धि	बुद्धि
209	ऊपर से 9	उसके	उनके
211	ऊपर से 8	था	Dilit
212	ऊपर से 14	में	से
218	तालिका	मन	मनस्
224	ऊपर से 16	सहस	सहज
225	अन्तिम	कामय माना	काम्य माना
226	अन्तिम	स्थान कट गया या. मत. चिप्पी लगादी	(अस्थायी)
231	नीचे से 11	श्लोक	श्लोकों
	ऊपर से 2	१४ व	१४ वें
235	ऊपर से 10	लोके	लोक
241	ऊपर से 4	उ	उस
243	नीचे से 6	से	में
244	ऊपर से 7	(अन्तिम) र्म	कर्म
246	नीचे से 14	यही	वही
	नीचे से 4	तन्तु	तत्तु
251	ऊपर से 2	(पदों)	(पादों)
256	ऊपर से 13	मणेगृ	मणेर्गृ
	नीचे से 14	वास्तविकता	वास्तविक
257	ऊपर से 3	आपके	आप की
	ऊपर से 7	पूर्ण	पूर्णतः
260	ऊपर से 10	?	।
262	ऊपर से 16	उसको	उसकी
264	नीचे से 13	नियत्रित	नियंत्रित
267	ऊपर से 13	है ।	हैं ।
268	ऊपर से 5	सर्जनात्मक	सृजनात्मक
	ऊपर से 7	सर्जनात्मक	सृजनात्मक
	ऊपर से 15	सर्जनात्मक	सृजनात्मक
	नीचे से 3	भावी	भावी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृष्ठ संख्या	स्थान	अशुद्धि	शुद्ध स्वरूप
274	नीचे से 9	आनुकमिक	अनुकमिक
276	ऊपर से 4	अन्तिम अक्षर हो	ही
285	ऊपर से 1	विधा	विद्या
288	नीचे से 2	करेंगे	करेंगे
296	नीचे से 11	से	में
297	ऊपर से 3	का	को
	ऊपर से 14	सूर्यमण्डल	सौर्यमंडल
	नीचे से 12	है,	है ।
298	ऊपर से 2	अन्यथा-	अन्यथा......
299	ऊपर से 8	की	का
299	ऊपर से 3	भी	छोड़
	ऊपर से 6	क	के
302	ऊपर से 3	भी	छोड़
	ऊपर से 6	क	के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्म-साधना

गुह्य-विद्या के प्रकाश में आत्मानुसंधान और
आत्मानुभूति की समस्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूमिका

आत्म-साधना जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। इनमें से कुछ पुस्तकें तो ऐसे लोगों ने लिखी हैं जिनका जीवन-दृष्टिकोण स्पष्टतः या तो भौतिकवादी है, या फिर धार्मिक कट्टरता से परिपूर्ण है। परन्तु लगभग वे सभी इस अन्तर्हित मान्यता पर आधारित हैं कि हमें इस पृथ्वी पर एक ही जीवन बिताना है और हमें आत्म-सुधार के ऐसे साधन अपनाने चाहिए जिनसे मानव जीवन की स्वाभाविक सीमाओं में रहते हुए जो भी सफलता या सुख सम्भव है वह प्राप्त हो सके। नैतिक या आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को लेकर जो लेखक इस विषय का विवेचन करते हैं वे भी जीवन के महत्त्वपूर्ण विषयों को अछूता छोड़ जाते हैं। वे केवल एक ही जीवन से सम्बन्धित क्षुद्र और सीमित हितों तक ही प्रायः अपने को सीमित रखते हैं। वहाँ यह बताने का प्रयत्न ही नहीं किया जाता कि जिस विश्व में मनुष्य रहता है उससे उसका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है अथवा उसकी अपनी अन्तिम नियति क्या है ?

मानव जीवन के सम्बन्ध में ऐसी संकुचित अवधारणा आत्म-साधना के सच्चे विज्ञान के लिए सन्तोषजनक आधार हो ही नहीं सकती। यदि हमें इस पृथ्वी पर कुछ वर्षों तक केवल एक ही जीवन बिताना है, यदि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का भविष्य अन्धकारमय अथवा अस्पष्ट है, यदि मन और भावनाओं के क्षेत्र में कोई निश्चित नियम ही नहीं हैं, यदि ऐसा कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है जिस तक प्रत्येक मनुष्य पहुँच सकता है या पहुँचेगा ही, तो ऐसी स्थिति में आत्म-साधना, अपने व्यापक अर्थों में, एक अस्पष्ट और असाध्य आदर्श की प्राप्ति के लिए मनुष्य का अर्थहीन और व्यर्थ का प्रयास मात्र रह जाएगा। अपनी कमजोरियों और उत्तरदायित्वों के भार से दबे आज के सामान्य व्यक्ति के लिए यह कैसे सम्भव है कि वह पूर्णत्व के उस स्तर तक पहुँच पाये जो संसार के वास्तव में महान् व्यक्तियों के जीवन में देखने को मिलता है ? और इस आदर्श तक पहुँचने के लिए जिनकी परिस्थितियाँ अनुकूल भी हैं, उनके लिए भी क्या यह निश्चित है कि जीवन की अनिश्चितताओं के बीच वे वहाँ तक पहुँच ही जाएँगे ? यदि लक्ष्य-प्राप्ति संदिग्ध है, यदि लक्ष्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष करते-करते ही अधिकांश साधकों का जीवन समाप्त हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाना है तो उस आदर्श या लक्ष्य के लिए प्रयत्न करने से भी क्या लाभ ? आज के परम्परानिष्ठ धर्मों द्वारा मृत्यु के पश्चात् किसी फल की प्राप्ति का अस्पष्ट-सा आश्वासन सामान्य लोगों को पवित्र जीवन बिताने की प्रेरणा देने के लिए तो पर्याप्त हो सकता है, परन्तु पूर्णत्व तक ले जाने वाले लम्बे और कठिन मार्ग पर चलने के लिए उन्हें आवश्यक अदम्य उत्साह और दृढ़ता प्रदान नहीं कर सकता।

सच तो यह है, कि सम्पूर्ण जीवन के व्यापक और प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर ही आत्म-साधना का सही विज्ञान बनाया जा सकता है; और यह ज्ञान गुह्य-विद्या में ही मिलता है। जो यह मानने को ही तैयार नहीं हैं कि इस प्रकार का ज्ञान भी है और उसे प्राप्त भी किया जा सकता है, वे उस मार्ग पर चल पाने की स्थिति में ही नहीं हैं जो अनेक जीवन के उपरान्त पूर्णत्व और आत्मबोध के लक्ष्य तक ले जाता है। यह तो सम्भव है कि आचार-व्यवहार सम्बन्धी नियमों का पालन करके पवित्र जीवन बिताया जा सके अथवा अपनी मानसिक शक्तियों और क्षमताओं के विकास के लिए कुछ साधना अपना ली जाए। परन्तु ऐसे सभी प्रयत्न मानव के एक छोटे और अनिश्चित जीवन की क्षुद्र और सीमित परिधि तक ही सीमित रह जाएँगे। जीवात्मा के उस विशाल और व्यापक जीवन से उन प्रयत्नों का कोई सम्बन्ध नहीं रह पाएगा जिसमें एक मानव जीवन स्वतंत्र अध्याय के समान है।

इस पुस्तक में, संक्षेप में भी, गुह्यविद्या (Occultism) नाम से जाने जाने वाले विशाल ज्ञान का विवरण देना सम्भव नहीं है। बहुत-से तथ्य तो इस ज्ञान के अभिन्न अंग हैं और लोगों को उनकी जानकारी बहुत ही कम है। उनके प्रमाण दे पाना तो और भी कठिन है। परन्तु गुह्य-विद्या की उन आधारभूत बातों से पाठक को थोड़ा अवगत करा देना उचित ही होगा जिनके आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है। फिर यह उस पर छोड़ दिया जाएगा कि आत्म-साधना के सम्यक् विज्ञान के आधार के रूप में वह इन बातों को स्वीकार कर सकता है या नहीं। यह सच है कि आत्म-साधना के लिए अपनाए गये साधनों की प्रभावशीलता इन आधारभूत बातों की सत्यता पर निर्भर नहीं करती जिस प्रकार विद्युत-प्रवाह-सिद्धान्त की जानकारी पर हमारा बिजली का उपयोग निर्भर नहीं करता। फिर भी, यह आशा नहीं की जा सकती कि कोई व्यक्ति अपने आपको पूर्णतः बदल डालने का लम्बा और कठिन कार्य करने के लिए तैयार हो जायगा जब तक कि वह गुह्य विद्या के सत्यों को एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्भावना के रूप में स्वीकार न कर ले, अथवा अभ्यास के लिए उन्हें कम-से-कम एक तर्क संगत आधार मानने को तैयार न हो। जो प्रमुख विचार गुह्य-विद्या के अंग हैं और जिनके आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है वे निम्नलिखित हैं :—

१. व्यक्त जगत् का आधार एक नित्य, असीम, निर्विकार सर्वदा-अव्यक्त तत्त्व है जिसे परिपूर्ण, परब्रह्म या परम सत्ता कहते हैं। इस तत्त्व को समझ पाना मानव की शक्ति के परे है।

२. चैतन्य और शक्ति, या पुरुष और प्रकृति, दो स्वतंत्र सत्ताएं नहीं हैं। वे उस परब्रह्म के दो स्वरूप मात्र हैं। एक से अनेक होने में सर्वप्रथम ये ही प्रकट होते हैं और व्यक्त सृष्टि के आधार हैं।

३. इस 'त्रय' से अनन्त विश्व प्रकट होते हैं। सृष्टि और प्रलय के अनन्त चक्र में इनकी उत्पत्ति और विलय होता रहता है।

४. व्यक्त जगत् में असंख्य सौरमंडल उसी एक परब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं। प्रत्येक सौरमंडल एक स्वतंत्र इकाई होते हुए भी उस सर्वदा अव्यक्त सत्ता में स्थित रहता है।

५. प्रत्येक सौर मंडल एक पूर्णतः सुव्यवस्थित इकाई है। इसका संचालन प्रकृति के अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार होता है परन्तु यह उस परात्पर चैतन्य शक्ति की अभिव्यक्ति भी है जिसे ईश्वर या लॉगोस कहते हैं।

६. सूर्य और उससे सम्बन्धित ग्रह इस सौर मंडल के बाह्य या स्थूलतम भाग हैं। भौतिक जगत में व्याप्त तथा उसके परे बहुत-से अदृश्य जगत् हैं जो अधिकाधिक सूक्ष्म तत्त्वों से बने हैं।

७. दृश्य और अदृश्य ग्रहमालाओं सहित सम्पूर्ण सौरमंडल जीवन-विकास का एक विशाल क्षेत्र है। यहाँ विभिन्न स्तरों पर तथा अगणित रूपों में जीवन अधिकाधिक पूर्णता की ओर विकसित हो रहा है।

८. विकास की यह सारी विशाल प्रक्रिया एक निश्चित योजना के अनुसार हो रही है। यह योजना ईश्वरीय चेतना में विद्यमान है। विभिन्न स्तरों पर अनेक देवगण इस प्रक्रिया का नियंत्रण और निर्देशन कर रहे हैं।

९. हमारी पृथ्वी पर मानव जाति का विकास एक परात्पर सिद्ध-संघ के निर्देशन में हो रहा है। इस संघ में वे पूर्ण-पुरुष हैं जो अपनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसी अलौकिक शक्तियों और क्षमताओं को विकसित कर चुके हैं जिनकी कल्पना हम अपनी वर्तमान स्थिति में कर ही नहीं सकते। इनका परस्पर तथा संसार के क्रिया-कलापों से निरन्तर और घनिष्ठ सम्पर्क बना रहता है। ये संसार का निर्देशन ईश्वरीय योजना के अनुसार पूर्ण कुशलता और बुद्धिमत्ता से करते रहते हैं।

१०. जीवन का विकास धीरे-धीरे क्रमशः खनिज, वनस्पति, पशु और मानव वर्गों में होता है। मानव वर्ग में पूर्णता प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी विकास का यह क्रम चलता रहता है।

११. प्रत्येक मनुष्य तत्त्वतः ईश्वर ही है। जिन समस्त गुणों और शक्तियों की कल्पना हम ईश्वर में करते हैं वे सब बीज-रूप में मनुष्य में भी हैं और इनका विकास धीरे-धीरे ही होता है। वह निरन्तर अधिकाधिक ऐसी पूर्णता और चैतन्यता की ओर अग्रसर होता जाता है जिसकी कोई सीमा नहीं है।

१२. इन छिपे गुणों और शक्तियों का विकास पुनर्जन्म की प्रक्रिया के द्वारा होता है। जीवात्मा बार-बार विभिन्न देशों में तथा विभिन्न परिस्थितियों में सभी प्रकार के अनुभव प्राप्त करने के लिए जन्म लेता है। फिर उन अनुभवों को आत्मसात् करने के लिए कुछ समय तक सूक्ष्म लोकों में विश्राम करता है।

१३. मानव जीवन के भौतिक ही नहीं, वरन् सभी पक्ष, सम्बन्धित लोकों में क्रियाशील प्राकृतिक नियमों द्वारा नियंत्रित होते हैं। कार्य-कारण के इस सर्वव्यापी नियम को सामान्यतः कर्म नियम कहते हैं। यह नियम मनुष्य को अपना भाग्य-विधाता और अपने आपको सुख अथवा दुःख का दाता बना देता है।

१४. जैसे जीव-विज्ञान के नियमों के प्रयोग से वनस्पति और पशु वर्गों के विकास को तीव्र किया जा सकता है उसी प्रकार सम्बन्धित लोकों में क्रियाशील मानसिक और आध्यात्मिक नियमों के प्रयोग से मनुष्य भी अपना विकास काफी तीव्रता से कर सकता है।

● १५. मानवीय विकास के लिये इन सम्पूर्ण प्राकृतिक नियमों के उपयोग पर ही आत्म-साधना का विज्ञान आधारित है। इसीलिए निश्चित परिणाम प्राप्त करने लिए यह विज्ञान उतना ही असंदिग्ध और विश्वसनीय है जितना कि आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक जगत् के नियम।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऊपर कही गई कुछ बातें उन लोगों को विचित्र और अविश्वसनीय लग सकती हैं जो इन्हें प्रथम बार पढ़ेंगे। परन्तु यदि हम इन सभी बातों पर ध्यानपूर्वक विचार करें और उनके पक्ष में उपलब्ध प्रमाणों को देखें तो लगेगा कि बात वास्तव में ऐसी नहीं है। यदि ध्यानपूर्वक और गहराई से इन बातों का अध्ययन किया जाय तो इनमें जीवन की प्रायः सभी गम्भीर समस्याओं का सम्पूर्ण हल मिल जाएगा—एक ऐसा हल जो अपने आप में तर्क संगत और आधुनिक ज्ञान के अनुसार है। यदि पाठक चाहें तो इन बातों को एक परिकल्पना के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि ये उसी अर्थ में परिकल्पना नहीं होगी जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग विज्ञान में होता है। विज्ञान में इस शब्द का उपयोग उन सम्पूर्ण मान्यताओं के समूह के लिए किया जाता है जो किसी घटना या दृश्य-समूह को समझाने तथा उस दिशा में और प्रयोगों के निर्देशन के लिए स्वेच्छा से अपना ली जाती हैं। गुह्य-विद्या के सिद्धान्त इस अर्थ में अप्रमाणित मान्यताएँ नहीं हैं। गुह्यविदों को और कम से कम उनमें से अधिक उन्नत व्यक्तियों को—उन सब बातों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पूर्णत्व-पथ का प्रत्येक साधक भी धीरे धीरे उनकी सत्यता की जाँच कर लेता है। नये व्यक्ति के लिए तो ये बातें अप्रमाणित ही रहेंगी परन्तु वह गुह्य-विद्या के साहित्य का गहन अध्ययन करके आसानी से उनकी सत्यता और उनमें निहित उपयुक्तता पर विश्वास कर सकता है। इन बातों की सत्यता का प्रमाण और बोध तो केवल उनको ही प्राप्त हो सकता है जो आन्तरिक विकास के पथ पर चलें और आत्म-साधना के विज्ञान में स्वयं भी सिद्ध हो जाएँ।

प्रायः गुह्य-विद्या को भ्रान्ति-वश जादू या गुह्य-कलाएँ—जैसे ज्योतिष, सम्मोहन और भविष्य-दर्शन—समझ लिया जाता है। चूँकि इन कलाओं में प्रायः कपट-व्यवहार का समावेश हो जाता है इसीलिए स्वाभाविक ही है कि आजकल के पढ़े-लिखे लोग उन सभी बातों के प्रति गहरा अविश्वास रखें जो आधुनिक विज्ञान के अंग न हों। यह सच है कि कुछ संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा गुह्य-विद्या के नाम से प्रसारित बहुत-सा ज्ञान और अभ्यास बहुधा मिथ्या या भ्रामक होता है। परन्तु इस झूठी गुह्य-विद्या के पीछे भी बहुत बड़ी सचाई या वास्तविकता रहती है और साधारण व्यक्ति को उसकी कोई कल्पना हो ही नहीं सकती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिस भौतिक जगत् का हमें अपनी भौतिक इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान होता है उसमें समाये हुए और उसके पीछे अधिकाधिक सौन्दर्य से परिपूर्ण अनेक सूक्ष्म जगत् हैं। अभी भी संसार में अतिविकसित मानव विद्यमान हैं। उन्हें इन सूक्ष्म जगतों के कार्यों का सम्पूर्ण ज्ञान है। जो व्यक्ति इन बातों को पहली बार सुनेगा, स्वाभाविक है कि उसे ये अविश्वसनीय लगें। परन्तु जो व्यक्ति सिद्ध-पुरुषों के सम्पर्क में हैं और जिन्होंने इन जगतों से सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यक क्षमता विकसित कर ली है उनके लिए ये वातें सामान्य अनुभव की हैं।

जो व्यक्ति भौतिकवादी दर्शन से ग्रस्त नहीं हैं और यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य अविनाशी है और उसका भौतिक जीवन सूक्ष्म लोकों के उसके लम्बे और अविच्छिन्न जीवन का एक अध्याय मात्र है, वे समझ सकेंगे कि यदि सूक्ष्म लोक हैं तो उनके सम्बन्ध में ज्ञान होना भी सम्भव है और ऐसे व्यक्ति भी होने ही चाहिए जिन्हें यह ज्ञान प्राप्त है। कुछ प्राचीन जातियों के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य से स्पष्ट होता है कि इन जातियों के उन्नत एवं सुसंस्कृत लोग जीवन के रहस्यों में झाँकने तथा इन रहस्यों को सुलझाने की प्रविधियों को विकसित करने का प्रयत्न लम्बे समय तक करते रहे। इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन काल में जीवन की गहन समस्याओं से सम्बन्धित आत्म-ज्ञान की शिक्षा देने के लिए गुह्य-विद्या की पाठशालाएँ भी थीं। ये सब बातें इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि जीवन के गहनतम रहस्यों से सम्बन्धित सच्चा ज्ञान सम्भव ही नहीं, कुछ लोगों को उपलब्ध भी है।

अनादि काल से इस पृथ्वी पर सदैव ही अतिविकसित व्यक्तियों का ऐसा समूह रहा है जिन्होंने गुह्य-ज्ञान का संरक्षण किया है। उन्होंने कठोर नियमों का पालन करते हुए इस ज्ञान का उपयोग मानव जाति की प्रगति और निर्देशन के लिए किया है। उन्होंने प्रत्येक युग में, प्राकृतिक शक्तियों और दैवी-कार्यकर्त्ताओं के साथ सहयोग करते हुए बाह्य-जगत् में अज्ञात् और अप्रकट रहकर कार्य किया है। उन्होंने ईश्वरीय योजना की पूर्ति के लिए संसार के व्यक्तियों और घटनाओं का अपने यंत्र के रूप में प्रयोग किया है। इसी परात्पर सिद्ध-संघ से समय-समय पर विभिन्न जातियों के महान् धर्म गुरू आए हैं। संसार में अधिकांश कल्याणकारी कार्य जिनसे विभिन्न सभ्यताओं में धीरे-धीरे परिवर्तन हुए हैं और मानव जाति विकास-क्रम में आगे बढ़ी है, इन्हीं की प्रेरणा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के प्रत्यक्ष परिणाम हैं। वे सभी महामना जो इस सिद्ध-संघ के सदस्य हैं एक स्तर पर नहीं हैं। इस सिद्ध-संघ में भी विभिन्न श्रेणियाँ हैं। इसकी निम्नतम श्रेणी में दीक्षित शिष्य-समुदाय हैं। उच्चतम श्रेणी में अपार शक्ति और ज्ञान से परिपूर्ण ऐसे महानतम व्यक्ति हैं जिनकी कोई भी कल्पना कर पाने में हम असमर्थ हैं।

इस सौरमंडल से सम्बन्धित सभी बातों का सम्पूर्ण ज्ञान इन सिद्ध-संघ के अधिकार में है, परन्तु संघ के प्रत्येक सदस्य को यह सारा ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। जैसे-जैसे एक सिद्ध-पुरुष विकासक्रम में प्रगति करता है और अपनी क्षमताएँ विकसित करता जाता है ईश्वरीय चेतना के गहनतर स्तरों से उसका सम्पर्क होने लगता है। जीवन तथा सूक्ष्म-लोकों के सम्बन्ध में उसको अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त होने लगता है। इसी प्रकार का बहुत-सा ज्ञान ही सच्ची गुह्य-विद्या है। इसे विज्ञान के साधारण ज्ञान के समान न तो भाषाबद्ध किया जा सकता है और न एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को बता ही सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि गुह्य-विद्या का निम्नस्तरीय ज्ञान इस प्रकार दूसरों को बताया जा सकता है। परन्तु इस ज्ञान के उच्च पक्ष तो विचार की पहुँच के परे हैं और उनका बोध प्रत्यक्ष अनुभव से ही सम्भव हो सकता है!

यह समझ लेना आवश्यक है कि हमारे सौर-मंडल के ईश्वर की चेतना में सम्पूर्ण ज्ञान सदैव रहता है। हमारी आन्तरिक शक्तियाँ विकसित होने पर विभिन्न स्तरों पर उसके सम्पर्क में आने की क्षमता हमें प्राप्त हो जाती है। या यह कहिए कि अपने विभिन्न कोषों के माध्यम से हम उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों से समस्वरता स्थापित करके सम्बन्धित स्तरों की समस्त जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। जीवन की सर्वातीत वास्तविकताओं का ज्ञान केवल इसी अनोखे ढंग से प्राप्त किया जा सकता है। इसकी प्राप्ति आन्तरिक लोकों पर विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कम्पनों को ग्रहण कर पाने की हमारी शक्ति पर निर्भर करती है। इसीलिए यह सम्भव ही नहीं है कि इस प्रकार का ज्ञान दूसरों को बताया जा सके अथवा अन्य वैज्ञानिक ज्ञान की भाँति इसे सुसंबद्ध रूप में संसार के सामने रखा जा सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आन्तरिक शक्तियाँ विकसित करके इस ज्ञान को अपने अन्तर से ही प्राप्त करना होगा।

यही नहीं कि इस प्रकार अधिकांश ज्ञान दूसरों को बताया ही नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जा सकता, उच्च लोकों से सम्बन्धित बहुत-सा ज्ञान मानवीय समझ के परे भी है। हम तो तीन आयामों वाली दुनिया की बातों और विचारों से ही परिचित हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि हम उन लोकों की वास्तविकताओं को समझ ही न सकें जहाँ चेतना अधिकाधिक आयामों में कार्य करती है। उन्हें समझने के लिए हमें अपने आपको उन लोकों तक 'उठा कर' स्वयं उन चीजों को 'देखना' होगा। ईश्वरीय चेतना की अगाध गहराईयों में हम जितना अधिक पैठ पाते हैं उन लोकों की वास्तविकताओं को प्रचलित विचारों तथा अवधारणाओं के रूप में रख पाना उतना ही अधिक कठिन हो जाता है। अतः उन वास्तविकताओं को समझने के लिए हमें अपनी स्वयं की आन्तरिक क्षमताओं को विकसित करना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि ईश्वर के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान् बुद्ध मौन रहे। "हृदय सिद्धान्त" के सभी सच्चे शिक्षक जीवन के गहरे रहस्यों की चर्चा ऐसे लोगों से करने को तैयार ही नहीं होते जो या तो दीक्षित नहीं है या जिनमें कुतुहल मात्र है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उनसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सच्ची गुह्य-विद्या को तथा इसके सिद्ध पुरुषों के स्वरूप और शक्तियों को हम कितना कम समझ सकते हैं। इस परा विद्या के अध्ययन से हम मात्र यही आशा कर सकते हैं कि उस असीम ज्ञान के एक छोर को छू पाएँ और उसकी सहायता से अपने आत्मस्वरूप और आन्तरिक क्षमताओं को विकसित करना प्रारम्भ कर दें। जैसे-जैसे हमें अपने प्रयत्नों में सफलता मिलेगी हमें जीवन के गहनतर रहस्यों का प्रत्यक्ष बोध हो सकेगा। सैद्धान्तिक दार्शनिक मन के क्षेत्र में और रूढ़िवादी धार्मिक लोग धर्म-पुस्तकों में जिन सत्यों को खोजने की भूल करते हैं उनका तब हमें प्रत्यक्ष बोध हो जाएगा।

इस प्रकार का आन्तरिक विकास इसलिए सम्भव है क्योंकि गुह्य-विद्या के सिद्ध-पुरुषों को प्रकृति के रहस्यों का ही नहीं, वरन् आत्म-साधना के व्यावहारिक विज्ञान का भी सम्पूर्ण ज्ञान है। कोई भी व्यक्ति इस ज्ञान में दक्षता प्राप्त करके धीरे-धीरे अपनी आन्तरिक शक्तियाँ विकसित कर सकता है और एक-एक करके गुह्य-विद्या की सारी बातों की जाँच स्वयं कर सकता है। आत्म-साधना के तत्त्वों का ज्ञान संसार को इसलिए दे दिया गया है ताकि प्रत्येक व्यक्ति को आत्मानुभूति के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पथ पर चलने का सुअवसर मिल सके। परन्तु प्रकृति के रहस्यों के विषय में उच्चतर ज्ञान—जिससे दीक्षित व्यक्ति की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं—सिद्ध-पुरुषों द्वारा केवल विश्वासपात्र शिष्यों को ही दिया जा सकता है। ऐसे शिष्य लम्बे परीक्षण और जाँच के बाद यह सिद्ध कर देते हैं कि वे प्राणिमात्र के हितों के लिए पूर्णतः समर्पित हैं। वे पथ-भ्रष्ट नहीं होंगे और उस ज्ञान का उपयोग अपने निजी स्वार्थों के लिए कर ही नहीं सकेंगे। इसीलिए संसार के ऐसे सभी व्यक्ति जो गुह्य-विद्या की ओर निजी स्वार्थों के लिए आकर्षित होते हैं—भले ही वह स्वार्थ सूक्ष्म ही क्यों न हो—उनकी सहायता प्राप्त कर, ही नहीं सकते। ऐसे लोग तो उस पवित्र मन्दिर के बाह्य-प्रांगण में ही रह जायेंगे और वहाँ उन्हें अधिक-से-अधिक प्रकृति के रहस्यों की सामान्य-सी जानकारी तथा आत्मा की कम महत्त्व वाली शक्तियों की प्राप्ति ही सम्भव हो सकेगी। जो अपने सभी स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को त्यागने को तत्पर हैं और अध्यात्म मार्ग की ओर पवित्र हृदय और शुद्ध जीवन लेकर बढ़ते हैं केवल उनके लिए ही आन्तरिक रहस्यों के द्वार खुलते हैं। ऐसे ही व्यक्ति आत्मा की उस शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं जो उन्हें आन्तरिक लोकों में तो शक्तिशाली बना देती है परन्तु "सामान्य लोगों की दृष्टि में वे कुछ भी नहीं होते।" सिद्ध-पुरुष तो अपनी आत्मा की गहराइयों में जितना अधिक उतरता जाता है और जीवन के सत्यों का जितना अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेता है उतना ही अधिक वह उन तुच्छ और कभी-कभी बचकानी इच्छाओं से ऊपर उठ जाता है जो साधारण मनुष्य को जीवन की नश्वर चित्रों में शक्ति, क्षणिक कीर्ति और लोकप्रियता खोजने के लिए प्रेरित करती हैं। सच्चा गुह्यविद तो अज्ञात बना रहता है। जान-बूझकर जनसाधारण की निगाहों से बचता है। परन्तु झूठे गुह्यविद् तो तुच्छ वासनाओं से भरे रहते हैं और अपने अनुयायियों और संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए एक-दूसरे से होड़ करने में ही लगे रहते हैं।

गुह्य-विद्या के सभी सच्चे सिद्ध-पुरुष अपने ज्ञान और अपनी शक्ति को लोगों की कुदृष्टि से बचा कर रखते हैं। इसीलिए लोग शंका भी करते हैं कि गुह्य-विद्या में कुछ सच्चाई है भी या नहीं, अथवा सूक्ष्म लोकों और अति मानवों की ये सब बातें केवल मन गढ़न्त तो नहीं हैं। परन्तु जिन्हें इन बातों का सच्चा ज्ञान होता है वे जानबूझकर मनुष्य और प्रकृति में छिपी अपार क्षमताओं के विषय में संसार को अन्धकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और संशय में ही रहने देते हैं। जब तक मनुष्यों के स्वभाव में स्वार्थ-परता, पूर्वाग्रह और अविवेकपूर्ण अतिशयोक्ति का प्राधान्य है इन महान् शक्तियों तथा गुह्य-विद्या से प्राप्त होने वाली अपार सम्भावनाओं के बारे में वे अनजान बने रहें यह अच्छा ही है। यदि कोई देखे कि आज संसार में क्या हो रहा है और भौतिक जगत् की शक्तियों के ज्ञान का सिद्धान्तविहीन लोग और राष्ट्र किस प्रकार दुरुपयोग कर रहे हैं तो वह सरलता से समझ सकेगा कि प्रकृति की सूक्ष्म-शक्तियों के ज्ञान को अविकसित, और कुछ अंशों में अभी भी बर्बर, मानव जाति से छिपा कर रखने में कितनी बुद्धिमत्ता है। ये शक्तियाँ, हानि पहुँचाने में कहीं अधिक शक्तिशाली और सक्षम हैं और इसीलिए कहीं अधिक खतरनाक भी हैं।

अतः यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि गुह्यज्ञान का जो भाग पुस्तकों में मिलता है और साधारण व्यक्ति को उपलब्ध है वह सबसे बाहरी और सबसे कम महत्त्व वाला भाग है। जो प्रतीक या छिपे संकेत हमें प्रायः मिलते हैं उनके पीछे महान् सत्य छिपे रहते हैं। उन सत्यों की कल्पना बाह्य-जगत् का कोई व्यक्ति कर ही नहीं सकता। फिर भी, जो थोड़ा-बहुत ज्ञान प्रकट कर दिया गया है सत्य के लगन-शील साधक को जीवन की समस्याओं को समझने के लिए सन्तोषजनक संकेत देने तथा अध्यात्म-पथ पर प्रारम्भिक कदम उठाने में उसकी सहायता करने के लिए पर्याप्त है। असल में, सच्चा आध्यात्मिक जीवन तो तभी प्रारम्भ होता है जब मनुष्य अपने ही अन्तर में छिपी वास्त-विकताओं के सीधे सम्पर्क में आता है और अपनी क्षमताओं और शक्तियों के विकास पर अधिकाधिक तथा बाह्य निर्देशन पर कम-से-कम निर्भर रहता है।

इस छोटी-सी भूमिका को देकर यह निर्णय अब पाठक पर छोड़ दिया जाता है कि इस पुस्तक को पढ़ना और पढ़कर आत्मानुसन्धान और आत्म-बोध की यात्रा प्रारम्भ करने के लिए इस पुस्तक में बताये आत्म-साधना के दर्शन और उसकी प्रविधि को अपनाना उपयोगी होगा भी या नहीं।

यह पुस्तक तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में आत्म-साधना के विज्ञान का सैद्धान्तिक आधार दिया गया है। इस आत्म-साधना का अन्तिम लक्ष्य प्रत्येक मानव के हृदय में छिपे परमसत्य की खोज करना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। इस बात के सामान्य ज्ञान के बिना कि मनुष्य का अपने परम आश्रय ईश्वर से क्या सम्बन्ध है तथा जिस विश्व में वह विकास कर रहा है उससे उसका क्या सम्बन्ध हैं, आत्म-साधना की विभिन्न समस्याओं को वह बुद्धिमत्तापूर्वक और विधिवत् हल कर ही नहीं सकता।

खण्ड दो में आत्म-संयम और आत्म-साधना की कुछ समस्याओं का विवेचन है। विभिन्न लोकों में दिव्य जीवन और चेतना की अभिव्यक्ति के लिए अपने कोषों को सक्षम यंत्र बनाने में ये समस्याएँ साधक के सामने आती हैं। इन समस्याओं को समझने तथा कोषों में अभीष्ट परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक कदम उठाये बिना आत्मानुसन्धान और आत्मानुभूति की समस्या को हल कर पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। कोषों में पर्याप्त समस्वरता आने पर तथा उच्च 'स्व' का उन पर नियन्त्रण हो जाने पर ही बुद्धि मन को आलोकित कर सकती है और आत्मा अपने कोषों के माध्यम से निम्न लोकों में कार्य कर सकता है।

खण्ड तीन में आत्मानुसन्धान और आत्मानुभूति की समस्याओं तथा उनसे सम्बन्धित प्रविधियों का वर्णन है। उन प्रविधियों का विस्तृत ज्ञान देने का यहाँ प्रयास नहीं किया गया है। उसे तो विशिष्ट ग्रन्थों और अन्य साधनों से ही प्राप्त करना होगा। इसका उद्देश्य तो बस इतना ही है कि साधक को इन समस्याओं का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो जाए तथा इन प्रविधियों के अधिक गहन अध्ययन और अभ्यास के लिए उसका मन तैयार हो सके।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-सूची

पृष्ठ

भूमिका iii

खण्ड १

आत्म-साधना का सैद्धान्तिक आधार

अध्याय

१. गुह्य-विद्या के अनुसार विकास-सिद्धान्त ३
२. मनुष्य की सम्पूर्ण संरचना १८
३. आत्म-साधना—एक विज्ञान ३०

खण्ड २

आत्म-संयम और आत्म-साधना

४. स्थूल शरीर के कार्य ४५
५. स्थूल शरीर—नियंत्रण, परिशुद्धि और संवेदनशीलता ५२
६. वासना कोष के कार्य ६०
७. भावनाओं का नियंत्रण, परिष्कार एवं साधना ७२
८. निम्न मनोमय कोष के कार्य ८३
९. निम्न मन का नियंत्रण परिष्करण और विकास ९२
१०. कारण शरीर के कार्य १०७
११. उच्च मन का विकास ११८
१२. हमारे जीवन में बुद्धि की भूमिका १३०
१३. बुद्धि का विकास १४४
१४. मन और बुद्धि १५३
१५. हमारे जीवन में आत्मा की भूमिका १६३
१६. आत्मिक संकल्प-शक्ति का विकास १७८

खण्ड ३

आत्मानुसंधान और आत्मानुभूति

अध्याय पृष्ठ

१७. आत्मानुसंधान—हमारा यह असत् जगत १९१
१८. आत्मानुसंधान—प्रतीक्षारत सत् जगत २०३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१९. ज्ञान, प्रज्ञान और अनुभूति की अवस्थाएँ २१४
२०. भक्ति का स्वरूप २१९
२१. भक्ति के साधन २३५
२२. समाधि-योग की आवश्यक प्रविधि २५१
२३. योग के लिए तैयारी २६३
२४. योग-साधना के आठ अंग २७४
२५. आत्मानुभूति और सुख की खोज २८७
२६. पथ-प्रदर्शन की समस्या २९५

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खण्ड : १

आत्म-साधना का सैद्धान्तिक आधार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १

गुह्य-विद्या के अनुसार विकास-सिद्धान्त

आधुनिक जगत् को विज्ञान द्वारा दिए गए विचारों में विकास सम्बन्धी विचार सबसे महान् और उपयोगी है। परन्तु प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक विचार को भौतिकवादी झुकाव दे देने के कारण यह विचार अर्द्ध-सत्य ही रह गया और मानव जीवन में इसका सही अर्थ और महत्त्व स्पष्ट न हो सका। गुह्य-विद्या उस सत्य का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करती है। इस प्रकार जीवन तथा उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों को समझने के लिए इस विचार को सचमुच शक्तिशाली और महान् सहायक बना देती है।

विकास के बारे में विज्ञान द्वारा प्रस्तुत मूल विचार को समझना सरल है। विकास-सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रारम्भ में डारविन ने पशु जगत् के अनेकानेक वर्गों को समझाने के लिए किया था। परन्तु शीघ्र ही इसका प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी होने लगा और इसकी सहायता से विभिन्न विषय स्पष्ट होने लगे। इस सिद्धान्त का प्रमुख विचार यह है कि जिन परिवर्तनों के कारण पशु जगत् में इतने विविध और विभिन्न वर्ग हो गए हैं वे अव्यवस्थित ढंग से नहीं होते। पशुओं के शारीरिक-रूप प्राप्त वातावरण के अनुरूप अपने को बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रयत्न के कारण उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। बदलते वातावरण की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप इनके रूप भी निरन्तर बदलते रहते हैं। बड़े और अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों से विभिन्न वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं तथा छोटे-मोटे और स्थानीय परिवर्तनों से विभिन्न जातियों की उत्पत्ति होती है। शारीरिक-रूपों में निरन्तर परिवर्तन को प्रकृति का एक सत्य स्वीकार किया गया और इसका कारण है धीरे-धीरे बदलने वाले वातावरण पर इन रूपों की निर्भरता। इस प्रकार इस सिद्धान्त का वास्तविक परिणाम यह हुआ कि जीव-विज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित अव्यवस्था के स्थान पर एक सुव्यवस्था को स्वीकार किया जाने लगा। इससे यह स्पष्ट हो गया कि विभिन्न प्रकार के जीवित स्वरूप एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं। रूपों के इन परिवर्तनों के पीछे एक विकास-सिद्धान्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्य कर रहा है और वही इन्हें प्राप्त वातावरण के अधिकाधिक अनुकूल बना रहा है।

विज्ञान द्वारा प्रतिपादित विकास-सम्बन्धी विचार से यह प्रतीत होगा कि रूपों में परिवर्तन मूलतः वातावरण के अनुरूप अपने आपको ढालने के प्रयत्न का परिणाम मात्र है। सारी प्रक्रिया को केवल एक भौतिक क्रिया ही मानने तथा इस प्रक्रिया के जीवन-पक्ष को भौतिक परिवर्तनों का एक उप-परिणाम मानने पर यह निष्कर्ष स्वाभाविक ही था। जीवन को पदार्थ (मैटर) और शक्ति (फोर्स) की पारस्परिक क्रिया मानने पर यह अनिवार्य ही था कि रूपों के परिवर्तन-क्रम पर विचार करते समय जीवन का विचार ही न किया जाए और इन परिवर्तनों को वातावरण के प्रभाव का परिणाम मात्र ही समझा जाए। विकास सम्बन्धी वैज्ञानिक धारणा की सीमाएँ तो उस स्थिति में ही निहित हैं जो आधुनिक विज्ञान ने विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में स्वीकार की हैं। और वह स्थिति एक शब्द में है—भौतिकवाद।

इस विचार का दूसरा पक्ष स्पष्ट करना और इस प्रकार इस प्रक्रिया का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना विकास सम्बन्धी विचारधारा को गुह्य विद्या का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण योगदान है। गुह्य-विद्या में ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनसे भौतिक जीवन की जाँच विज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और व्यापक ढंग से की जा सके। इन्हीं अनुसंधानों के परिणामस्वरूप यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि जीवन, पदार्थ और शक्ति का उप-परिणाम नहीं है। जीवन तो एक स्वतन्त्र सत्ता है जो स्थूल जगत् में अपनी अभिव्यक्ति के लिए पदार्थ और शक्ति का उपयोग करती है। शारीरिक रूप तो इसलिए है कि उसके माध्यम से अन्तर्हित जीवन अपने आपको व्यक्त कर सके। जीवन की पूर्णतर अभिव्यक्ति सम्भव हो इसीलिए रूपों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। जीवन एक के बाद एक शरीर धारण करता है और उन शरीरों के माध्यम से प्राप्त प्रेरक प्रभावों के कारण ही उसमें छिपी समस्त संभावनाएँ धीरे-धीरे विकसित एवं व्यक्त होती हैं। शरीर या रूप समाप्त और लुप्त होते रहते हैं परन्तु उनमें कार्यरत जीवन अधिकाधिक उन्नत होता जाता है।

वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार लगता था कि विकास अन्तहीन परिवर्तनों की एक अर्थहीन शृंखला मात्र है। परन्तु अब हम देखते हैं कि रूपों की इन शृंखलाओं के पीछे एक निरन्तर विकासोन्मुख जीवन है। विकास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की विभिन्न अवस्थाओं में यह जीवन ही विभिन्न शरीरों का उपयोग करता है। शरीरों या रूपों की अनन्त विविधता एवं उनके विनाश के पीछे प्रकृति के एक सुनिश्चित और बुद्धिगम्य उद्देश्य के दर्शन होते हैं जिसे विज्ञान अभी भी अस्वीकार करता है। आधुनिक विज्ञान उस बहरे व्यक्ति के समान है जो अनेक प्रकार के और अधिकाधिक माधुर्य-पूर्ण संगीत-वाद्यों का अध्ययन करे। वह यंत्रों का अध्ययन तो बड़ी सावधानी से करे परन्तु यह मानने को तैयार ही न हो कि संगीत जैसी कोई चीज भी है।

इसीलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि विज्ञान द्वारा प्रस्तुत और प्रतिपादित विकास-सिद्धान्त अत्यन्त ही अनाकर्षक विषय है—एक ऐसा विषय जिसमें नीरस तथ्य मात्र हैं, जिसमें पृथ्वी के गर्भ से खोद कर निकाले गए अंशों को जोड़कर ढाँचे तैयार किए गए हों। इसीलिए विज्ञान सारी विकास-प्रक्रिया का यदि विकृत नहीं तो अत्यन्त ही आंशिक रूप प्रस्तुत करता है। दूसरी ओर, गुह्य-विद्या द्वारा प्रस्तुत विकास-सिद्धान्त एक गतिशील विचार है। जितना ही हम इसका अध्ययन करते हैं उतना ही हमें यह आकर्षक लगता है। इस सिद्धान्त के प्रकाश से प्रदीप्त होकर प्रकृति की समस्त प्रक्रियाओं के विषय में हमें स्पष्ट बोध होता है और जीवन सम्बन्धी समस्त ज्ञात तथ्य और बातें हमें पूर्णतः समन्वित प्रतीत होती हैं। यह मानव जाति के नहीं, वरन् हम व्यक्तियों के अतीत और वर्तमान पर तो प्रकाश डालता ही है, साथ ही हमें भविष्य की झाँकी भी कराता है। यह हमें उस पूर्णत्व के दर्शन कराता है जो हमें एक-न-एक दिन प्राप्त करना ही है। साथ ही, उस पूर्णत्व तक ले जाने वाली सीढ़ी के विभिन्न चरणों का ज्ञान भी यह हमें कराता है। वास्तव में, विकास के सम्बन्ध में गुह्य-विद्या के दृष्टिकोण की सबसे प्रमुख विशेषता यह नहीं है कि यह हमें प्रकृति के कार्यों का बौद्धिक ज्ञान प्रदान करता है बल्कि वह निश्चित तत्त्व है कि हम अपनी कठिनाइयों, अपूर्णताओं और सीमाओं पर अन्ततः विजयी होंगे। इसी कारण हमारे लिए यह सम्भव है कि हम आत्म-साधना की सम्पूर्ण समस्या को वैज्ञानिक ढंग से समझ सकें और अपनी समस्त शक्तियों और क्षमताओं का विकास उसी विश्वास के साथ कर सकें जिस विश्वास के साथ वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में कार्य करता है।

इस पुस्तक का उद्देश्य आत्म-साधना की समस्या पर विस्तार से विचार करना है और गुह्य-विद्या द्वारा प्रतिपादित विकास-सिद्धान्त के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर ही यह सम्भव हो सकता है। इसलिए विज्ञान के विकास-सिद्धान्त को हमें यहाँ तिलाञ्जलि देनी ही होगी ताकि हम देख सकें कि गुह्य-विद्या में विकास का अर्थ क्या है तथा पूर्णत्व तक ले जाने वाले लम्बे मार्ग पर विभिन्न अवस्थाएँ कौन-सी हैं। परन्तु पहले हम इस पर विचार करें कि पूर्णत्व का अर्थ क्या है—उस पूर्णत्व का जो समस्त मानवीय प्रयत्न का लक्ष्य है।

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि विश्व के विभिन्न रूपों में जो दिव्य जीवन व्यक्त हो रहा है उसके क्रमिक विकास की कोई सीमा नहीं है। ऐसी कोई स्थिति नहीं है जब यह कहा जा सके कि परम पूर्णत्व प्राप्त हो चुका है। परन्तु मानव के लिए एक निश्चित सीमा अवश्य है। इस सीमा तक वह तब पहुँचता है जब पवित्र-पथ पर एक अर्हत पाँचवीं दीक्षा प्राप्त करके जीवन-मुक्त या सिद्ध-पुरुष हो जाता है। उस निश्चित अवस्था की प्राप्ति पर सिद्ध-पुरुष के लिए पुनर्जन्म की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है, वह मानव से अतिमानव हो जाता है। उसका आत्म-विकास फिर अतिभौतिक लोकों पर चलता रहता है। ऊपर जिस पूर्णत्व की ओर संकेत किया गया है और जिसको एक जीवन्मुक्त महात्मा प्राप्त करता है वह यही सापेक्षिक पूर्णत्व है।

हमें यह याद रखना भी आवश्यक है कि हम समझ ही नहीं सकते कि वह पूर्णत्व क्या है जब तक कि हम स्वयं उस स्थिति को प्राप्त न कर लें। उच्च जीवन की वास्तविकताएँ तो केवल प्रत्यक्ष अनुभव से ही जानी जा सकती हैं। वाणी द्वारा उनके वर्णन से या कल्पना के अधिकतम प्रयास से हम समझ ही नहीं सकते कि वे वास्तव में क्या हैं। अतः मन के क्षेत्र में रहते हुए जब हम यह कहते हैं कि इन बातों को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं तो इसका अर्थ इतना ही होता है कि हम उस छिपी आभा के इधर-उधर बिखरे क्षीण-से प्रकाश या धुंधली सी प्रतिच्छाया को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं। और वह आभा ऐसी है जो मानवीय कल्पना के बिल्कुल परे की चीज है। उसका थोड़ा-बहुत अनुभव आन्तरिक विकास हो जाने पर केवल अपने हृदय के अन्दर ही किया जा सकता है।

इस स्पष्टीकरण के पश्चात् अब हम विकास की विशाल प्रक्रिया पर संक्षेप में विचार करेंगे। यह विषय बड़ा रोचक तो है परन्तु स्थानाभाव के कारण इसकी गहराइयों में जाना सम्भव नहीं है। यहाँ केवल इतना ही सम्भव है कि कुछ सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख कर दिया जाए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा जिस पथ के हम पथिक हैं उसके कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों की ओर संकेत कर दिया जाए।

गुह्य-विद्या के अनुसार हम अपने आस-पास जिस जीवन को व्यक्त होता देखते हैं वह एक परम दिव्य सत्ता या तत्त्व से प्रकट हुआ है। अपनी समस्त सम्भावनाओं को विकसित करके वह फिर अपने उसी दिव्य स्रोत में मिल जाएगा। जिन समस्त गुणों और शक्तियों की कल्पना हम दिव्य पूर्णत्व में करते हैं वे सुप्त या बीज रूप में उस समय भी विद्यमान रहती हैं जब जीवन अपने दिव्य स्रोत से प्रकट होता है, ठीक इसी तरह जैसे बीज में पेड़ छिपा रहता है। विकासवादी कारणों के माध्यम से प्राप्त बाह्य सम्पर्कों तथा अन्तर से ईश्वरीय संकल्पशक्ति के निरन्तर दबाव के परिणामस्वरूप ये शक्तियाँ धीरे-धीरे विकसित होती और कार्य करती हैं। पूर्णत्व की प्राप्ति पर जीवन सचेतन होकर जब फिर दिव्य स्वरूप में लय होता है तब पूर्णत्व की उस अवस्था से सम्बन्धित सभी गुण और शक्तियाँ उसमें पूर्णतः अभिव्यक्त होती हैं।

गुह्य-विद्या की दूसरी आधारभूत शिक्षा यह है कि हमारा जो सौर मडल विकास के लिए एक विशाल मंच है उसकी रचना सप्तगुणी है। जिस स्थूल जगत् को हम अपनी इन्द्रियों के माध्यम से जानते हैं उसमें अन्तर्व्याप्त अधिकाधिक सूक्ष्म तत्त्वों वाले छः जगत् और हैं। थिओसॉफिकल साहित्य में इन्हें लोक कहा गया है और इनके नाम निश्चित हैं। स्थूल जगत् से अगला लोक जिसमें हम सोने पर तथा मृत्यु के पश्चात् जाते हैं भुवर्लोक या वासनामय लोक (एस्ट्रल प्लेन) कहलाता है। यह लोक हमारी अनुभूतियों, वासनाओं, कामनाओं और भावनाओं से सम्बन्धित है। अगला उच्च लोक जिसमें हम दो जन्मों के बीच का अधिकांश समय बिताते हैं मनोलोक या स्वर्गलोक कहलाता है। यह हमारे विचारों से सम्बन्धित है। फिर आते हैं क्रमशः बुद्धिक, आत्मिक, अनुपादक और आदि लोक। ये हमारी आत्मिक और नित्य, शाश्वत सत्ता से सम्बन्धित हैं और हमारे उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान और शक्तियों के स्रोत हैं।

मनुष्य और वास्तव में विभिन्न रूपों में व्यक्त समस्त जीवन एक प्रकार से सौर मंडल के सभी सातों लोकों से सम्बद्ध है। परन्तु इस समय मनुष्य तक ही अपने को सीमित रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि सभी लोकों में उसकी चेतना का एक-एक कोष या शरीर है। उच्चतम लोक पर ईश्वर का जीवन ही उसके जीवन का मूल है। विभिन्न लोकों से सम्बन्धित सभी कोषों में वही जीवन उस सर्व-समावेशित केन्द्र से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवाहित होता है। दिव्य चेतना की एक किरण विभिन्न लोकों में आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है। वहीं किरण इन कोषों के पूरे समूह में प्रविष्ट होकर इन्हें क्रियाशील बनाती है। वही उन कोषों का धीरे-धीरे विकास तब तक करती रहती है जब तक कि दिव्य चेतना का अंश पूर्णतः विकसित होकर समस्त लोकों में सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ न हो जाए।

इन सत्यों को अगले पृष्ठ पर दिए चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है। वास्तव में हमें यह याद रखना होगा कि इन सत्यों को समझने में हमारी सहायता करने के लिए यह चित्र केवल दो आयामवाला है और उच्च लोकों की अनुभवातीत वास्तविकताओं को किसी तरह व्यक्त नहीं कर सकता। चित्रों, चिन्हों और उपमाओं के प्रयोग में सदैव एक भय रहता है कि हम उनका अनुदित और अत्यधिक प्रयोग करके ऐसे निष्कर्ष न निकाल लें जिनका तथ्यों के आधार पर कोई औचित्य ही न हो।

इस चित्र में सौरमंडल के सात लोक एक ही केन्द्र वाले सात वृत्तों द्वारा दिखाए गए हैं। केन्द्र उस सौरमंडल के अधिष्ठाता या ईश्वर का प्रतीक है जो अभिव्यक्ति काल में व्यक्त सौरमंडल पर अधिशासन करता है। इस चित्र को समझते समय एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखने की है। चित्र में लोकों को वृत्तों के रूप में दिखाया तो गया है परन्तु ये वास्तव में एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त क्षेत्र हैं। प्रत्येक सूक्ष्म क्षेत्र अपने से स्थूलतर क्षेत्रों में समाविष्ट एवं अन्तर्व्याप्त हैं। इस प्रकार वृत्त या गोले विभिन्न लोकों का आकार बताने के लिए नहीं वरन् उनका स्थान सम्बन्धी सम्बन्ध बताने के लिए हैं। स्थान के सम्बन्ध में हमारी चेतना तीन आयामों (लम्बाई, चौड़ाई और गहराई या ऊँचाई) की अभ्यस्त है। परन्तु उच्चतर लोकों में उसे तीन से अधिक आयामों में कार्य करना पड़ता है और इसीलिए हमारी चेतना वहाँ की परिस्थितियों की कल्पना नहीं कर सकती। यही कारण है कि विभिन्न लोकों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में थोड़ी-सी भी जानकारी हमें बड़ी कठिनाई से हो पाती है। वर्तमान में हमारी चेतना अधिकांशतः स्थूल जगत् तक ही सीमित रहती है। यह जगत् या लोक स्थूलतम और बाह्यतम है और इसमें सीमाएँ और भ्रान्तियाँ सर्वाधिक हैं। जैसे-जैसे हम एक के बाद एक आन्तरिक लोक में प्रवेश करते हैं ये सीमाएँ कम होती जाती हैं, भ्रान्ति के आवरण क्षीण होने लगते हैं और जब हम सबमें व्याप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

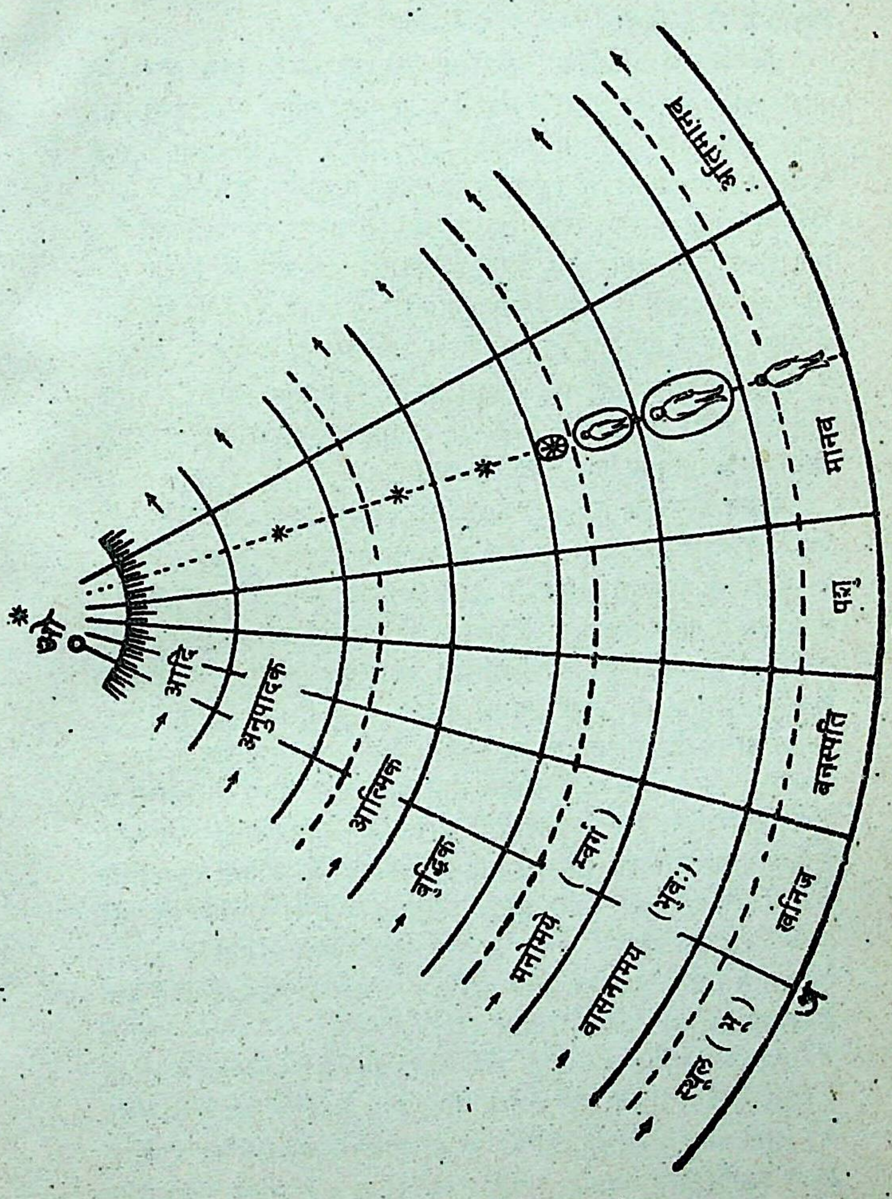

चित्र ३.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और सबके आधार सौरमंडल के अधिष्ठाता ईश्वर की चेतना तक पहुँचते हैं तो ये सीमाएँ पूर्णतः नष्ट हो जाती हैं।

इस चित्र में अभिव्यक्त जीवात्मा को एक केन्द्र वाले वृत्तों के अर्द्धव्यास के रूप में दिखाया गया है। यह अर्द्धव्यास सभी वृत्तों को काटता है। इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि जीवात्मा के रूप में व्यक्त दिव्य चेतना की किरण सभी लोकों में होकर गुजरती है और विभिन्न लोकों में उसके कोषों के पूरे वर्ग को शक्ति प्रदान करती है। एक जीवात्मा के सभी कोष चेतना के किरण रूपी धागे में पिरोए हुए भी माने जा सकते हैं। इस प्रकार इन कोषों के कार्य करने की विधियों में महान् अन्तर होते हुए भी यह किरण उन्हें एकता के सूत्र में बाँधती है। जैसे-जैसे विकास होता है, स्थूल शरीर में प्रारम्भ होकर एक के बाद एक शरीर क्रमशः विकसित और प्रदीप्त होकर विभिन्न लोकों में जीवात्मा के कार्य के लिए तैयार हो जाते हैं।

जीवन ईश्वर से प्रकट होता है और अपनी दिव्य क्षमताओं को विकसित करके फिर उसी में लय हो जाता है। इस बात को चित्र में वृत्त-खण्डों के बीच तीर-चिह्न के द्वारा दिखाया गया है। खनिज वर्ग में पहुँचने से पहले जीवन के अवतरण की स्थिति खाली स्थल द्वारा बताई गई है क्योंकि उन परिस्थितियों का विशेष अध्ययन नहीं हुआ है और वे बहुत-कुछ हमारी समझ के परे भी हैं। फिर भी यह याद रखना उचित ही होगा कि खनिज वर्ग में—जिसे अधिकांश लोग निम्नतम समझते हैं—पहुँचने से पहले जीवन तीन स्पष्ट और मान्य अवस्थाओं में होकर गुजर लेता है। ये वास्तव में जीवन के अवतरण की अवस्थाएँ हैं विकास या आरोहण की नहीं। इन अवस्थाओं में जीवन जड़-पदार्थों में अधिकाधिक गहरा प्रविष्ट होता जाता है। उसके पश्चात् ही पुनः उसका आरोहण प्रारम्भ होता है और वह विकास प्रक्रिया में होकर गुजरता है। अतः अवतरण और आरोहण के चक्र को दिखाने वाले वृत्त में खनिज वर्ग का स्थान निम्नतम है।

इसीलिए खनिज वर्ग में ही हमें जीवन स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। इस चित्र में ओ-अ रेखा अज्ञात और ज्ञात के बीच की सीमा-रेखा है। स्थूल जगत में खनिज वर्ग की व्यक्त जीवन-अवस्थाओं का अध्ययन हमारे वैज्ञानिकों ने काफी अच्छी तरह किया है। उनसे सम्बन्धित नियम रसायन, भौतिकी, भूगर्भ और खगोल जैसे विज्ञानों के साहित्य में उपलब्ध हैं। परन्तु जिस खनिज वर्ग का इतना विस्तृत और गहरा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्ययन विज्ञान ने किया है उसके कुछ पक्षों की जानकारी भी गुह्य-विद्या को कहीं अधिक है। परन्तु इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

विकास की अगली अवस्था का क्षेत्र वनस्पति जगत् होता है। खनिज वर्ग की अपेक्षा बाह्य प्रभावों की प्रतिक्रिया इस वर्ग में कुछ अधिक होती है और संवेदन-क्षमता थोड़ी अधिक विकसित हो जाती है। संवेदन तो अभी भी अस्पष्ट होते हैं क्योंकि संवेदन अनुभव करने वाला वासना शरीर इस अवस्था में भुवर्लोक या वासना लोक के पदार्थ का एक पिंड मात्र होता है न कि एक सुव्यवस्थित कोष। इसीलिए हम यह नहीं कह सकते कि पौधे और वृक्ष सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। परन्तु बाह्य प्रभावों से उनमें उत्पन्न प्रतिक्रियाएँ एक प्रकार से सुख-दुःख से मिलती-जुलती होती हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वनस्पति जगत् में भी विकास-स्तर से सम्बन्धित विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। इस जगत् के अतिविकसित सदस्यों की संवेदन-क्षमता पशु जगत् के निम्नतम सदस्यों से सम्भवतः कहीं अधिक होती है। प्रकृति के विभिन्न वर्ग एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् तो नहीं हैं। उनमें काफी अन्तर्व्याप्तिता है। कभी-कभी तो यह निश्चय कर पाना कठिन हो जाता है कि सीमान्त-रेखा वाला सदस्य किस वर्ग का है। स्थूल जगत् के वनस्पति वर्ग का जीवन भी काफी अनुसंधान का विषय रहा है और इससे सम्बन्धित नियम तथा तथ्य वनस्पति विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं।

वनस्पति जगत् में जीवन खनिज वर्ग की अपेक्षा निश्चित ही अधिक विकसित होता है। परन्तु पेड़-पौधों की जड़ों के एक ही स्थान पर जमे रहने के कारण वातावरण से प्राप्त होने वाले उत्तेजक प्रभावों की विविधता बहुत ही सीमित हो जाती है। पशु जगत् की अगली अवस्था में यह बन्धन समाप्त हो जाता है और घूमने-फिरने की क्षमता से पशुओं के लिए अनेक और विविध प्रकार के अनुभवों के द्वार खुल जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार जीवन के विकास की गति काफी तीव्र हो जाती है। सम्भवतः इसीलिए उच्च वर्ग के पशुओं में संवेदन अनुभव करने की क्षमता ही नहीं, मानसिक क्रिया का प्रारम्भ भी देखने को मिलता है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि पशुओं के वासना शरीर और उनकी स्नायु-प्रणाली काफी सुव्यवस्थित होती है। इसीलिए सुख-दुख अनुभव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करने की क्षमता उनमें काफी विकसित हो जाती है। यही कारण है कि स्थूल शरीर पर की गई चोट का पशु तीव्र अनुभव करता है, भले ही वह अपनी भावनाओं को व्यक्त न कर पाये। जो लोग अपने भोजन अथवा मनोरंजन के लिए पशुओं को कष्ट देते या दिलवाते हैं उन्हें इस बात को समझ लेना चाहिए। दूसरों को दिया गया कष्ट, देर-सबेर, अनिवार्यतः कष्ट दाता पर ही लौटकर आता है। जो कर्म के सर्वव्यापी नियम से अनभिज्ञ हैं अथवा अपने गलत कार्य के लिए उचित बहाना ढूँढने का प्रयास करते हैं उनके लिए यह नियम कार्य करना बन्द नहीं कर देता। यदि लोग मात्र इतना जान पाते कि पशुओं के प्रति निर्दयतापूर्ण और क्रूर व्यवहार से वे अपने लिए कितने भयानक कष्टों का संग्रह कर रहे हैं तो केवल कन्धा झटक ऐसे अरुचिकर विषय पर विचार ही न करने की तथा गैर जिम्मेदारी के साथ दुर्व्यवहार करते रहने की उनकी प्रवृत्ति सम्भवतः कम हो जाती।

खनिज, वनस्पति और पशु वर्गों में विकास-प्रक्रिया को सुस्पष्ट करना गुह्य-विद्या का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। असामान्य दृष्टि द्वारा उच्च लोकों पर खोज करने से पता चला है कि मनुष्यों की अपेक्षा इन निम्नतर अवस्थाओं में विकास की प्रक्रिया में एक मूलभूत अन्तर है। वह अन्तर यह है कि मनुष्यों की भाँति इन वर्गों में प्रत्येक शरीर का एक अलग 'जीवात्मा' नहीं होता। एक जाति के सभी स्थूल शरीरों का समूह एक "समूह जीवात्मा" (ग्रूप सोल) से सम्बद्ध होता है। यह समूह-जीवात्मा ही उन समस्त शरीरों द्वारा प्राप्त अनुभवों का संग्रहालय तथा उन शरीरों को ज्ञान और शक्ति प्रदान करने वाला जीवन होता है। सामूहिक विकास की इस रोचक बात से पशुओं और पौधों के जीवन से सम्बन्धित बहुत-सी समस्याएँ स्पष्ट होती हैं। साथ ही यह भी बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए किन विलक्षण विधियों का प्रयोग करती है। चूँकि यह प्रश्न प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित नहीं है अतः इस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हम अब मानव वर्ग का विवेचन करेंगे क्योंकि मनुष्य होने के नाते हम उससे मुख्यतः सम्बन्धित हैं।

सामान्य रूप से देखने पर यही लगता है कि मानवीय अवस्था उससे पूर्व की अवस्थाओं का एक अविच्छिन्न क्रम ही है। कुछ अर्थों में यह क्रम ऐसा है भी। फिर भी, यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि जीवन जब इस अवस्था में प्रवेश करता है तो एक महत्त्वपूर्ण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवर्तन होता है। यही परिवर्तन मानवीय अवस्था के जीवन को पशु वर्ग के जीवन से सर्वथा भिन्न बना देता है। अत्यन्त संक्षेप में यह परिवर्तन कारण शरीर का निर्माण है। कारण शरीर एक व्यक्तिगत जीवात्मा का बाह्यतम कोष होता है। इसमें ईश्वरीय जीवन ऊपर से सीधा अवतरित होता है और इसके माध्यम से अब वह अधिक गतिमान होकर कार्य करना प्रारम्भ करता है। शिव से प्राप्त इस नये दिव्य तत्व का मनुष्य में प्रवेश होने से (जो कि वनस्पति या पशुओं में नहीं होता) मनुष्य में एक विशेष क्षमता का आविर्भाव होता है। इसे मनोविज्ञान में आत्म-चेतना कहते हैं। उसी के कारण मानवीय और अतिमानवीय अवस्थाओं में दिव्य जीवन का तीव्र और अत्यधिक विकास सम्भव हो पाता है। जीवन अब दिव्य-चेतना की एक विशिष्ट इकाई हो जाती है। इस चेतना के विकास एवं विस्तार की कोई सीमा ही नहीं है।

मनुष्य जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाएँ असभ्य, अर्द्धसभ्य और सभ्य परिस्थितियों में होकर गुजरती हैं। सभी प्रकार की परिस्थितियों में मनुष्य विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है। अपने स्वयं के विचारों, वासनाओं और कर्मों से निर्मित विभिन्न परिस्थितियों में वह पुनर्जन्म लेता है और प्राप्त अनुभवों से उसके वासना और मनोमय कोष धीरे-धीरे विकसित होते हैं। उसकी भावनाओं और आवेगों से उसका वासना शरीर विकसित होता है। मूर्त विषय-वस्तुओं के विचार से उसका निम्न मनोमय कोष विकसित होता है। कारण शरीर या विज्ञान-मय कोष में कार्य करने वाला मन उच्चतर बातों एवं अमूर्त विषयों पर विचार करने से विकसित होता है। संसार के सभ्य लोगों में से अधि-कांश विकास की उस अवस्था को पहुँच गये हैं जहाँ उनका वासना शरीर तो काफी विकसित हो चुका है, निम्न मनस भी थोड़ा विकसित हुआ है परन्तु केवल वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और महान् विचारकों का कारण शरीर ही सच्चे अर्थों में क्रियाशील कहा जा सकता है।

अनेक जीवनों में जब व्यक्ति सभी प्रकार के अनुभव प्राप्त कर लेता है और धीरे-धीरे उच्च बातों पर विचार करने लगता है तथा उसका जीवन पवित्र और स्वार्थ रहित हो जाता है तो बुद्धि लोक वाले उसके अगले कोष का विकास भी धीरे-धीरे प्रारम्भ होता है। इस लोक से मन में प्राप्त प्रकाश को ही विवेक कहा जाता है। मनुष्य तब आध्या-त्मिक सत्यों में रस लेने लगता है और उनको अपनी अन्तःप्रज्ञा से जान लेता है चाहे उसके पास उनके प्रमाण न हों। बुद्धि या अन्तःप्रज्ञा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह शक्ति है जिसकी सहायता से समस्त आध्यात्मिक सत्यों का बोध होता है। इसके विकसित हुए बिना मनुष्य आध्यात्मिक क्षेत्र में कोई प्रगति कर ही नहीं सकता। जिस क्षेत्र में विचार-शक्ति की पहुँच ही नहीं है, वहाँ वह किस काम की।

जब बुद्धि कोष काफी विकसित हो जाता है और निश्चित रूप से मन को प्रभावित करने लगता है तब एक दिव्य प्रेरणा का जन्म होता है। यही आत्म-स्वरूप के जाग्रत होने का उद्घोष है। जीवन के विषय में मनुष्य जिज्ञासा करने लगता है। जीवन के परम लक्ष्य से सम्बन्धित समस्याओं पर वह प्रश्न करता है। ऐसे प्रश्नों का आध्यात्मिक दृष्टि से सोये हुए व्यक्ति को भान तक नहीं होता। संसार की भ्रान्तियों एवं कष्टों से मुक्ति पाने का वह मार्ग खोजने लगता है। उच्च जीवन जीने की उसमें आकांक्षा होती है। अपने अन्य साथियों के साथ एक आन्तरिक सम्बन्ध का उसे अनुभव होता है जिसे साधारण व्यक्ति कदाचित् ही समझ सके।

यदि इस प्रेरणा की ओर ध्यान देकर उसे सही दिशा प्रदान की गई तो देर-सबेर मनुष्य पूर्णत्व के मार्ग पर चलने लगता है और अन्ततः अपने लक्ष्य को प्राप्त करके मानव वर्ग से आगे निकल जाता है। यदि इस प्रेरणा को अनसुना कर दिया गया और निम्न मनस ने उसे दबा दिया या सांसारिक वासनाओं ने उसका विरोध किया तो मनुष्य को अनेक जीवनों तक परस्पर विरोधी आकर्षणों के बीच भटकना पड़ सकता है। निम्न जीवन के आकर्षण उसे नीचे की ओर और उच्च जीवन की आकांक्षाएँ उसे ऊपर की ओर खींचेंगी। परन्तु सांसारिक जीवन के कष्टों निराशाओं और विफलताओं के निरन्तर पाठों के फलस्वरूप वह दिव्य प्रेरणा कभी-न-कभी इतनी बलवती हो जाएगी कि उसका विरोध कर पाना असम्भव हो जाएगा। तब मनुष्य निम्न जीवन से मुँह मोड़ कर दिव्यता के उच्च शिखर की ओर एक-एक कदम चलना प्रारम्भ कर देगा।

अब तक हमने विकास के लम्बे पथ का बहुत ही संक्षेप में विचार किया है। परम दिव्य तत्त्व से प्रकट होने के समय से हम उसी पथ पर चल रहे हैं। अब तक हम इस स्थिति में पहुँच गए हैं जब दिव्य प्रेरणा हमारे अन्दर जाग्रत होती है और अपने सच्चे घर तथा वहाँ तक लौटने के साधनों पर विचार करने के लिए हमें बाध्य करती है। अब हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस मार्ग एवं अवस्थाओं पर विचार करें जिन पर हमें चलना और जिनसे गुजरना अभी शेष है।

उच्च जीवन के लिए इस प्रकार की उत्कण्ठा जाग्रत होने पर हमें क्या करना चाहिए ? वास्तव में, पहला काम तो यह है कि हम जीवन की मूलभूत समस्याओं पर गहराई से विचार करें। यह कार्य हमें तब तक करते रहना है जब तक कि ये समस्याएँ हमारे मन में बिल्कुल स्पष्ट न हो जाएँ और हम यह अनुभव न करने लगें कि पूर्णत्व और आत्म-बोध तक ले जाने वाले पथ पर चलना ही इन समस्याओं के स्थायी हल का एक मात्र उपाय है। गहराई से अध्ययन करने की, अच्छी तरह हृदय टटोलने की तथा इन महत्त्वपूर्ण विषयों के बारे में निर्णय लेने में समय लगाने की प्रारम्भिक प्रक्रिया बहुत आवश्यक है। कई बार हृदय में उत्पन्न होने वाली प्रेरणाएँ क्षणिक होती हैं और प्रायः जीवन में निराशा और विफलता से उत्पन्न प्रतिक्रिया के कारण ही होती हैं। संसार के आकर्षण जब पुनः मन पर अपनी मोहकता के आवरण डालते हैं तो ये प्रेरणाएँ धीरे-धीरे लोप हो जाती हैं। हम फिर से अपनी उच्चतम नियति के विस्मरण की सामान्य अवस्था में आ जाते हैं। अनेक जीवनों तक हमें अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित करती रहने वाली दिव्य प्रेरणा तो स्थायी और बलवती होनी चाहिए। सभी प्रकार के अनुभवों के दौर से गुजर कर उनके द्वारा सिखाये जाने वाले पाठ पढ़ लेने के पश्चात् ही जीवात्मा में वह परिपक्वता आती है जिसके परिणामस्वरूप ऐसी प्रेरणा जाग्रत होती है।

यदि सही प्रकार की प्रेरणा का हमें अनुभव होता है तो हमारा अगला कार्य यह होना चाहिए कि हम अपने लक्ष्य प्राप्ति के साधनों पर गम्भीरता से विचार करें। संसार में अनेक पथ हैं और अनेक ही पथ-प्रदर्शक। हमें तो अपना पथ और ऐसा गुरु ढूंढना है जो अन्त तक हमारा सफल निर्देशन कर सके। कुछ मार्ग तो हमें बन्द गली जैसे लगते हैं। कुछ गुरु जो हमें सिखाने को तत्पर हैं, ऐ' हैं जैसे एक अंधा दूसरे को राह बताए। इसीलिए पथ और गुरु के सही चयन से हमारा बहुत-सा समय और कष्ट बच जाएगा। जिन्होंने जीवन की समस्याओं पर गहराई से विचार किया है और विकास-योजना को समझा है उन्हें सही चयन करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। वे केवल उसी पथ को चुन सकते हैं जिस पर सभी सद्गुरु और ऋषिगण पहले चल चुके हैं। वही पथ मनुष्य को पूर्णत्व तक ले जाता है। उस पूर्णत्व को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्माण, आत्मबोध, जीवन मुक्ति या और किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। एक मात्र गुरु यदि कोई हो सकता है तो वह है उनका अपना उच्च 'स्व' या आत्म-तत्त्व। और वह तो उनके हृदय में ही विराजमान है। वही उन्हें उनकी वर्तमान अवस्था तक लाया है और आत्मबोध के परम लक्ष्य तक उनका सही-सही निर्देशन करने में पूर्णतः समर्थ है।

विकास की जिन अवस्थाओं में होकर हमें गुजरना है उसका यह अत्यन्त ही संक्षिप्त विवरण है। इसलिए यहाँ उन गुणों का वर्णन करना सम्भव नहीं है जो पथ पर चलने की आकांक्षा रखने वाले व्यक्तियों को विकसित करने होंगे। यही पथ अन्ततः आत्मबोध और मानव जीवन की भ्रान्तियों और कष्टों से मुक्ति की ओर ले जाता है। आध्यात्म साहित्य में बहुत-सी पुस्तकें हैं जिनमें इन विषयों पर विस्तृत और उपयोगी जानकारी मिल सकती है। इस प्रश्न पर आवश्यक संकेत इस प्रकार के साहित्य में कहीं-न-कहीं मिल ही जायेंगे। हमारे आध्यात्मिक विकास की समस्या से सम्बन्धित बहुत-से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विवेचन उपर्युक्त स्थलों पर बाद के अध्यायों में किया जाएगा।

क्या जीवन्मुक्ति की इस उच्चावस्था के विषय में कुछ समझ पाना सम्भव है? यह मुक्ति जीवन की परिपूर्णता है और इसे वे ही प्राप्त कर पाते हैं जो मानवीय अवस्था को उससे परे की अवस्था से अलग करने वाली सीमा को लाँघ जाते हैं। इस अवस्था की बहुत ही अस्पष्ट-सी कल्पना मात्र सम्भव है। इस अवस्था को प्राप्त सिद्ध-पुरुष की महान् प्रगति का थोड़ा-बहुत अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसकी चेतना के पाँचों निम्न कोष—स्थूल, वासनामय, मनोमय, बुद्धिक और आत्मिक—पूर्णतः विकसित और अनुप्राणित हो जाते हैं। वह इन शरीरों में से किसी में भी पूरी चेतना से इसी प्रकार कार्य कर सकता है जैसे साधारण व्यक्ति अपने स्थूल शरीर में कार्य करता है। आत्मिक लोक से नीचे किसी भी लोक से सम्पर्क स्थापित करने के लिए सिद्ध-पुरुष को केवल उस लोक से सम्बन्धित शरीर में अपनी चेतना केन्द्रित करनी पड़ती है। फिर उस लोक पर जो भी जानना हो आसानी से जाना जा सकता है। उच्च लोकों में चेतना के कार्य को व्यक्त करने के लिए 'जानना' शब्द बहुत ही अनुपयुक्त है। यही नहीं सिद्ध पुरुष की चेतना सामान्यतः आत्मिक लोक पर कार्य करती है। जब कभी उन्हें निचले किसी लोक में कार्य करना होता है तो कुछ समय के लिए वे अपनी चेतना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आंशिक रूप से उस ओर केन्द्रित कर देते हैं। इस प्रकार सौरमंडल के पाँचों निम्नलोक—जिनसे मानव जाति का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है—उनकी चेतना में रहते हैं और ये लोक ही ईश्वरीय योजना की पूर्ति के लिए उनके कार्य-क्षेत्र हैं।

यह याद रखना चाहिए कि तीन निम्न शरीरों—स्थूल, वासनामय और मनोमय—के विकसित और सुव्यवस्थित होने में करोड़ों वर्ष लगते हैं। जब मनुष्य मानवीय विकास की परिसमाप्ति के निकट होता है और दिव्यता के द्वार के निकट होता है तब आत्मिक क्षेत्रों में उसका विकास बहुत तेजी से होता है। और केवल उस समय ही उसके लिए यह सम्भव होता है कि सिद्ध-पुरुष और सामान्य व्यक्ति के बीच की महान् दूरी को वह कुछ ही जन्मों में पूरी कर ले।

अतिमानवीय क्षेत्रों में विकास की और कौन-सी अवस्थाएँ होंगी हम नहीं जानते। हमें केवल उनके नाम ज्ञात हैं। मनुष्य की विचार-शक्ति चकरा जाती है जब वह इन गहनतम रहस्यों में प्रवेश करने का प्रयास करती है। हम तो बस इतना ही कर सकते हैं कि विस्मय और श्रद्धा से आश्चर्य करते रहें कि जीवन की इतनी उच्च अवस्थाएँ भी हो सकती हैं। हमारे लिए इतना जान लेना पर्याप्त है कि ऐसी स्थितियाँ हैं और ऐसे महामना भी हैं जो कल्पनातीत ऊँचाइयों से अपने आशीर्वाद की वर्षा हम जैसों पर करते ही रहते हैं जो अभी भी भ्रान्तियों, कष्टों और मृत्यु की घाटियों में अपना जीवन जी रहे हैं।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : २

मनुष्य की सम्पूर्ण संरचना

सच्ची गुह्यविद्या से परिचित होने के बाद अब हम संक्षेप में उन बातों पर विचार करेंगे जिनका मनुष्य की आन्तरिक संरचना के बारे में गुह्यविदों ने पता लगाया है। ये बातें उन बहुत-से अनुसंधान-कर्ताओं की खोज के परिणाम हैं जो अपनी सूक्ष्म शक्तियों को विकसित करने में तथा आन्तरिक लोकों की क्रियाओं की पूर्ण वैज्ञानिक विधि से जाँच करने में सफल हो सके। वास्तव में बहुत-से उन्नत सिद्ध-पुरुषों के लिए सूक्ष्म लोकों से सम्बन्धित ये बातें प्रत्यक्ष अनुभव की बातें हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे स्थूल शरीरधारी साधारण मनुष्य के लिए भौतिक जीवन की क्रियाएँ।

पिछले अध्याय में इस बात का संकेत दिया जा चुका है कि मनुष्य की संरचना बहुत-ही जटिल है और वह चेतना के विभिन्न कोषों में कार्य करती है। उच्चतम लोक में उसकी चेतना हमारे सौरमंडल के अधिष्ठाता ईश्वर की चेतना में अवस्थित है और उसी का एक अंश है। उसकी चेतना धीरे-धीरे नीचे भूलोक तक उतरती है। यह भूलोक ईश्वरीय चेतना की परिधि पर है। चेतना की यह विशिष्ट इकाई सौरमंडल के प्रत्येक लोक में उस लोक का कुछ पदार्थ (मैटर) लेकर धीरे-धीरे अपने लिए एक कोष तैयार कर लेती है ताकि उस कोष के माध्यम से वह उस लोक में अधिकाधिक कुशलता से कार्य कर सके। विचार के लिए हम चेतना की एक ऐसी ही इकाई को लेकर उसके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न कोषों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का मोटे और सामान्य तौर पर अध्ययन करेंगे।

इन कोषों के सम्बन्ध में ध्यान देने की पहली बात यह है कि जैसे-जैसे हम परिधि से केन्द्र की ओर बढ़ते हैं ये कोष सूक्ष्मतर होते जाते हैं और चेतना का वर्चस्व बढ़ता जाता है। गुह्य-सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण सौरमंडल की उत्पत्ति सौरमंडल के अधिष्ठाता ईश्वर की चेतना से हुई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है और वही उसका आधार है। एक के बाद एक लोक पर उसकी अभिव्यक्ति का अर्थ उसके जीवन का अधिकाधिक स्थूलीकरण और उसकी चेतना पर अधिकाधिक मोटे आवरणों का पड़ जाना है। इस प्रकार चेतना के क्रमशः विभिन्न लोकों पर अवतरण से धीरे-धीरे उसकी शक्तियाँ और गुण लुप्त होते जाते हैं और बाह्यतम भौतिक जगत् में ये सीमाएँ या बन्धन अपनी पराकाष्ठा पर होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है—जैसा कि योगाभ्यास में होता है—और अवतरण की वह प्रक्रिया उलट जाती है तो ये सीमाएँ भी क्रमशः समाप्त होने लगती हैं और चेतना अधिकाधिक स्वतंत्रता से कार्य करने में समर्थ हो जाती है। अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया उसे दिव्य चेतना के असीम और उन्मुक्त सौन्दर्य के अधिकाधिक निकट ले आती है। एक लोक से दूसरे लोक में अपना चेतना-केन्द्र हो जाने पर तथा समग्र चेतना के आदि स्रोत के निकट पहुँचने पर प्रत्येक योगी सीमाओं की समाप्ति और आवरणों के क्षीण होने का अनुभव करता है। इस महत्त्वपूर्ण बात को समझ लेना बहुत आवश्यक है। क्योंकि जब हम भौतिक जगत् में नश्वर और अपेक्षाकृत नीरस विषयों में फँस कर अपना जीवन बिताते हैं तब ये ही हमें अत्यधिक वास्तविक और स्फूर्तिदायक लगते हैं। उच्च लोकों की वास्तविकताएँ हमें अस्पष्ट और असत्य-सी लगती हैं और इसीलिए उनके प्रति हमारा कोई आकर्षण भी नहीं होता। हम भौतिक जगत् से अपना सम्बन्ध तोड़ने में डरते हैं। हमें डर लगता है कि हम उसके क्षणिक सुखों से वंचित हो जाएँगे। हमें यह भान ही नहीं होता कि भौतिक जगत् तो सारे लोकों में सबसे कम प्रकाश और स्फूर्ति वाला लोक है और इसका जीवन तो उच्च लोकों में आत्मा के कल्पनातीत सौन्दर्य का विकृत और धुँधला-सा प्रतिबिम्ब मात्र है।

इन कोषों के सम्बन्ध में हमें दूसरी बात यह समझनी है कि कोषों की इतनी संख्या तथा उनके माध्यम से अभिव्यक्ति के स्वरूपों में महान् अन्तर होते हुए भी उन सब में कार्य करने वाली चेतना एक ही है और वह दिव्य चेतना की एक किरण है। मनुष्य और उसकी जटिल संरचना का अध्ययन करने के लिए, सुविधा की दृष्टि से, हम उसे विभिन्न भागों में बाँट सकते हैं। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि उसके अन्दर विभिन्न सत्ताएँ कार्य कर रही हैं। सम्पूर्ण कोष-समूह में कार्य करने वाली चेतना अविभाज्य है। किसी भी समय एक कोष में कार्यरत चेतना के केवल कुछ ही पक्ष, कम या ज्यादा, व्यक्त हो पाते हैं। यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

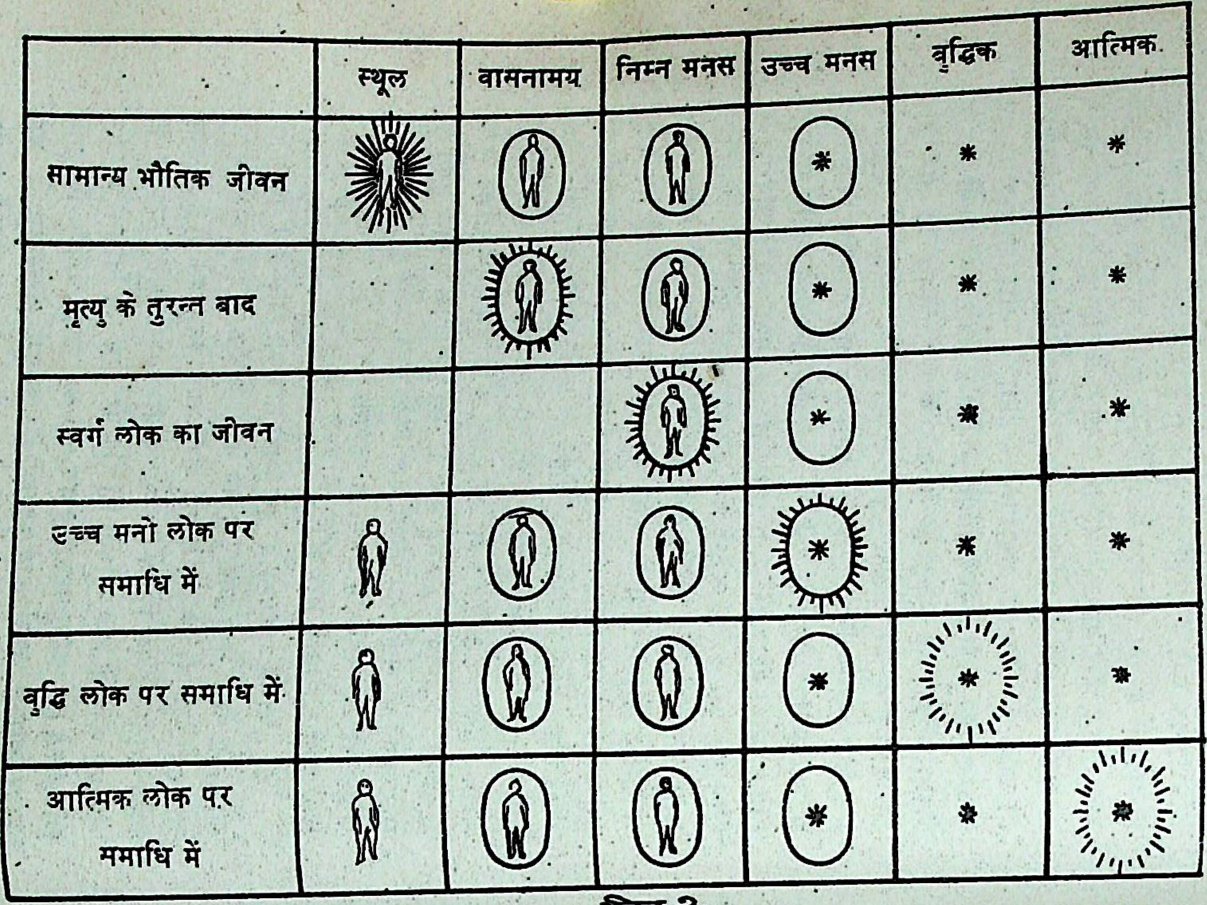

चित्र 2.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिव्यक्ति उस कोष के स्वरूप और उसके विकास के अनुरूप ही होती है। किसी लोक विशेष पर चेतना की यह अभिव्यक्ति उस लोक के मूल स्वरूप तथा जिन अन्य लोकों में होकर चेतना गुजरी है उनसे प्राप्त अनुभवों पर निर्भर करती है। अतः उदाहरणार्थ, जब जीवात्मा स्थूल शरीर में कार्य करता है तो चेतना भौतिक जगत् की सीमाओं में बँध जाती है। परन्तु जीवात्मा के अन्य कोष तो पृष्ठभूमि में रहते ही हैं और भौतिक जगत् के जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। मृत्यु के पश्चात् जब स्थूल शरीर समाप्त हो जाता है तो चेतना का केन्द्र वासना-कोष में हो जाता है और उसी की सीमाओं में चेतना कार्य करती है। फिर भी, अन्य सभी कोष पृष्ठभूमि में रहकर उसकी अभिव्यक्ति को प्रभावित करते रहते हैं। समाधि में चेतना का केन्द्र, प्रयत्न द्वारा, एक लोक से दूसरे लोक पर ले जाया जाता है। उस समय चेतना का केन्द्र तो किसी एक शरीर विशेष में रहता है परन्तु अन्य सभी कोष अग्र या पृष्ठ भाग में रहते हैं। इसी बात को पिछले पृष्ठ पर चित्र २ में दिखाया गया है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्म-साधना की समस्या पर पूर्ण रूप से विचार करने के लिए हमें अपनी सम्पूर्ण संरचना को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। हमारे सभी कोष एक दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा एक दूसरे पर आश्रित हैं। अन्य शरीरों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन लाये बिना हमारे किसी एक शरीर में परिवर्तन लाया ही नहीं जा सकता। यदि कोई व्यक्ति भावनात्मक स्वास्थ्य चाहता है तो वह अपना भावनात्मक जीवन अलग नहीं कर सकता और न केवल उसी तक अपने प्रयत्नों को सीमित कर सकता है। उसे अपने मानसिक और भौतिक जीवन पर ध्यान देना ही होगा। और यदि वह वास्तव में पूर्ण होना चाहता है तो उसे अपने आत्मिक स्वरूप पर भी ध्यान देना पड़ेगा।

इन कोषों या शरीरों के सम्बन्ध में एक और बात हमें समझ लेनी है। यद्यपि जीवात्मा के विभिन्न कोष विभिन्न लोकों में होते हैं और प्रत्येक लोक में उन कोषों के माध्यम से कार्य करने वाली चेतना की अभिव्यक्ति में अन्तर होता है, तथापि ये कोष तीन-तीन के समूह में कार्य करते हुए प्रतीत होते हैं। प्रत्येक कोष-समूह में कार्यरत चेतना एक इकाई होती है। यह इकाई अभिव्यक्ति की अगली उच्च बड़ी इकाई पर आश्रित और उसका अंग होती है। इसी बात को अगले पृष्ठ के चित्र में दिखाया गया है। (चित्र ३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

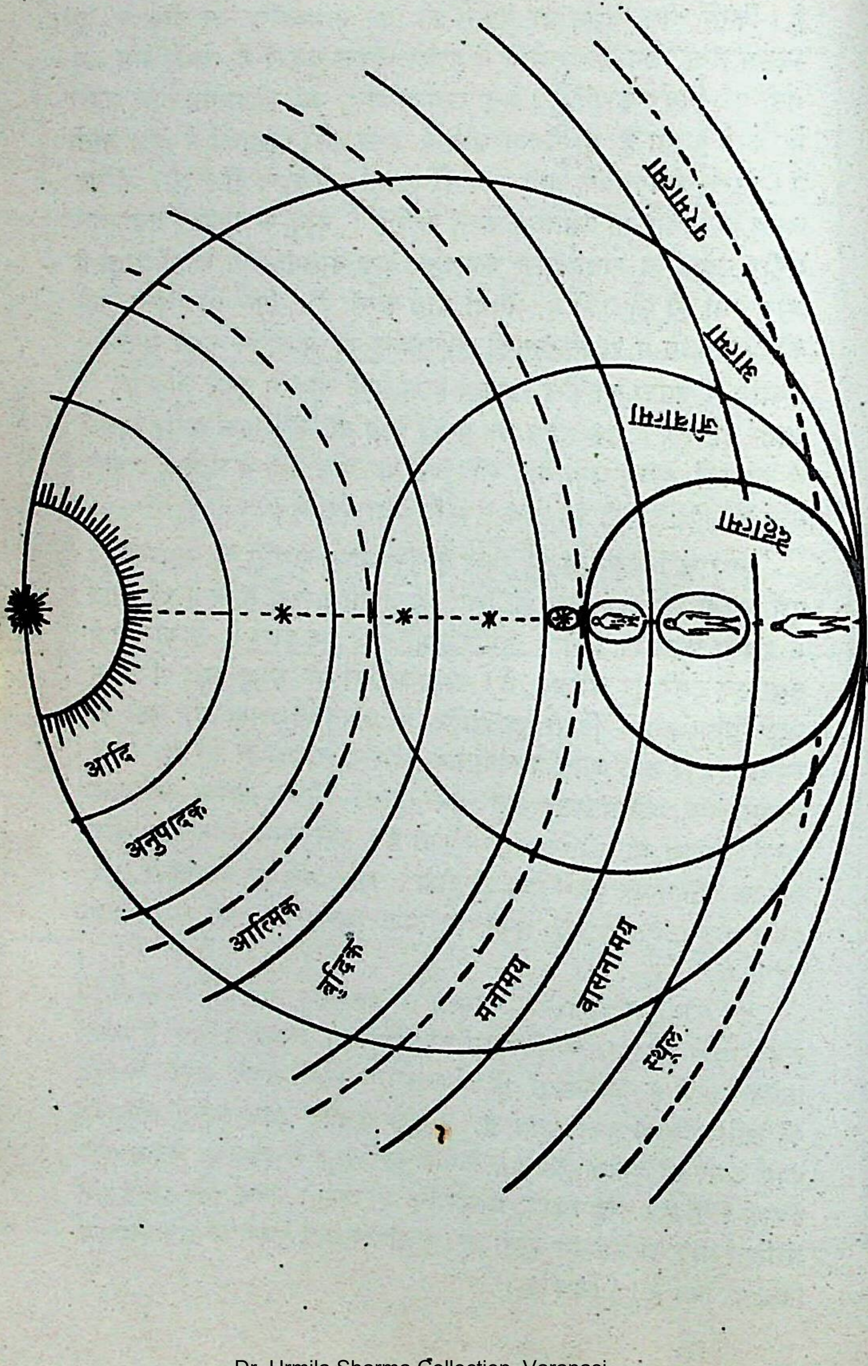

चित्र ३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सबसे छोटे वृत्त में चेतना तीन निम्न लोकों में स्थूल, वासनामय और निम्न मनोमय कोषों की सीमाओं में कार्य करती हुई दिखाई देती है। इसे हम देहात्मा, जीव (पर्सनैलिटी) का क्षेत्र कह सकते हैं। अगला बड़ा वृत्त जीवात्मा (इन्डिविज्वेलिटी) का है। यह आत्मिक, बौद्धिक और कारण शरीरों में कार्य करता है और इसमें देहात्मा समाया हुआ है। जीवात्मा भी आत्मा की अति व्यापक चेतना का अंग है। यह आत्मा आदि लोक में अवस्थित है, अनुपादक लोक में कार्य करता है और आत्मिक लोक को प्रभावित करता है। हम नीचे के लोकों में उसके इस कार्य को समझने में असमर्थ हैं। यह आत्मा भी ईश्वर की सर्वव्यापी चेतना का अंग है और इसे समझ पाना कठिन ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देहात्मा, जीवात्मा और आत्मा ईश्वरीय चेतना की आंशिक, और अनेक प्रकार से सीमित, अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रत्येक उच्च अभिव्यक्ति निम्न अभिव्यक्ति से अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण है और उसके व्यापक विस्तार के अन्तर्गत निम्न अभिव्यक्ति समाई हुई है। देहात्मा (पर्सनेलिटी), व्यक्तित्व या जीवात्मा (इन्डिविज्वेलिटी), आत्मा (मोनेड) और ईश्वर (लोगॉस) को वेदान्त की शब्दावली में क्रमशः जीव, जीवात्मा, आत्मा और परमात्मा कहा गया है।

अब हम अपनी संरचना के इन तीनों अंगों को एक-एक करके समझने का प्रयत्न करेंगे। देहात्मा सामान्य सीमित मानवीय चेतना है। यह स्थूल वासनामय और निम्न मनोमय कोषों में कार्य करता है। ये तीनों कोष अस्थायी हैं और प्रत्येक जन्म में नये बनते हैं। अतः स्पष्ट है कि देहात्मा एक अस्थायी अभिव्यक्ति है। मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक इन तीनों शरीरों का अन्त होने पर उनमें से चेतना क्रमशः निकल जाती है और तब देहात्मा का भी विलय और लोप हो जाता है। देहात्मा में कार्य करने वाली चेतना दिव्य चेतना रूपी सूर्य की एक किरण मात्र होती है। परन्तु निचले लोकों की सीमाओं और भ्रान्तियों के कारण उसे यह विस्मृत हो जाता है कि वह दिव्य चेतना का एक अंश है। तब एक ऐसी अस्थायी सत्ता का जन्म होता है जो अपने आपको स्वतंत्र और दूसरों से भिन्न समझती है। यह सत्ता संसार-मंच पर कुछ वर्षों तक कार्य करती है, स्थूल शरीर की मृत्यु पर सूक्ष्म लोकों में आ जाती है और इन लोकों में लम्बा या थोड़ा- सा समय बिता कर अन्त में सदा के विलीन और लोप हो जाती है। मनुष्य इस भ्रमोत्पादक सत्ता से अपने आपको एक समझकर इसके तुच्छ स्वार्थों में फँसे रहते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। उन्हें अपनी महान् नियति का और देहात्मा के पीछे छिपे कहीं अधिक भव्य जीवन का भान ही नहीं होता। इस भ्रान्ति को देख पाने वाले थोड़े से लोग उस मार्ग पर चल पड़ते हैं जो अन्ततः उन्हें उनके दिव्य स्वरूप की अनुभूति कराता है और देहात्मा को आत्मा के यंत्र के रूप में उपयोग करने में उनकी सहायता करता है। अधिकांश लोग तो बार-बार इसी भ्रान्ति में जन्मते, जीते और मर जाते हैं। खेत में खिले फूल या जंगल में विचरते पशु-पक्षियों की भाँति वे भी अपने सच्चे स्वरूप के विषय में अनभिज्ञ बने रहते हैं।

हमारी आन्तरिक संरचना का अगला उच्चतर भाग जीवात्मा या उच्च 'स्व' है। थिओसॉफिकल साहित्य में उसे 'ईगो' भी कहा गया है। यह कारण, बुद्धिक और आत्मिक कोषों के माध्यम से कार्य करता है। यही मनुष्य का आत्म-तत्त्व है तथा उसका अविनाशी स्वरूप है जो जन्म-जन्मान्तर तक रहता है। विकास के अनन्त काल में समस्त दिव्य गुणों और शक्तियों का क्रमिक विकास इसके अपने अन्तर से ही होता है। जैसे स्थूल, वासनामय और निम्न मनोमय कोषों के कार्य करने में एक प्रकार की एकता और मिलकर कार्य करने की क्षमता है और जिसके कारण इन तीनों कोषों में कार्यरत चेतना को देहात्म-भाव प्राप्त होता है उसी प्रकार आत्मिक, बुद्धिक और उच्च मनोलोकों में कार्य करने वाले तीनों कोष किसी प्रकार से एक सूत्र में गुँथे हुए हैं और उनमें कार्यरत चेतना भी एक इकाई के रूप में कार्य करती है। इस समन्वित चेतना को ही जीवात्मा कहते हैं। यद्यपि जीवात्मा सम्बन्धित लोकों की सीमाओं के अन्दर कार्य करता है फिर भी यह उन बहुत-सी निम्न भ्रान्तियों से मुक्त है जो देहात्मा की दृष्टि को धुँधला कर देती हैं और जिनके कारण वह अपने आपको एक स्वतन्त्र सत्ता समझने लगता है और अपना अलग अस्तित्व बनाये रखने के लिए दिव्य जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों से संघर्ष करता रहता है।

जीवात्मा के रूप में मनुष्य को अपने दिव्य अविनाशी स्वरूप का भान बना रहता है। जीवन की एकता और उस जीवन के साथ अपने ऐक्य का उसे बोध रहता है। उसे विकास के दिव्य उद्देश्य का ज्ञान होता है। विभिन्न देहात्माओं में बिताए गए समस्त विगत जीवनों की उसे स्मृति रहती है। बुद्धिक कोष में उसकी चेतना समस्त जीवित प्राणियों से एकत्व का अनुभव कर सकती है और आत्मिक कोष में वह दिव्य चेतना को छू सकती है। विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे दिव्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चेतना की विशेषताएँ–ज्ञान, प्रज्ञान और शक्ति—जीवात्मा में अधिकाधिक प्रकट होने लगती हैं क्योंकि "उसका भविष्य एक ऐसी वस्तु का भविष्य है जिसके विकास और जिसकी भव्यता की कोई सीमा नहीं है।"

परन्तु यह अविनाशी उच्च 'स्व' या जीवात्मा भी मनुष्य का उच्चतम स्वरूप नहीं है। उसके अन्दर उस आत्मा का नित्य वास है जिसे सांख्य दर्शन में "पुरुष" और वेदान्त में "आत्मा" कहा गया है। यह वह रहस्यमयी सत्ता है जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते यद्यपि वह हमारे जीवन का आधार है। जीवात्मा अविनाशी है और देहात्मा की तुलना में उसका जीवन अत्यन्त लम्बा है। जीवात्मा का जन्म कारण शरीर के निर्माण के साथ-साथ होता है। अतः जिसका जन्म हुआ है उसका अन्त भी होगा। परन्तु आत्मा काल की परिधि के परे है और वह नित्य है, शाश्वत है। मूलतः उसका ईश्वर से ऐक्य है। वह ईश्वर रूपी सूर्य की एक किरण है। उसकी स्थिति तो आदि लोक में है। उसकी चेतना का केन्द्र अनुपादक लोक है। आत्मिक लोक में आत्मा अपनी कान्ति से जीवात्मा को आच्छादित एवं प्रभावित करता रहता है। नीचे के लोकों में जीवात्मा का जो विकास और प्रकटीकरण प्रतीत होता है वह किसी रहस्यपूर्ण ढंग से आत्मा में सदा विद्यमान रहता है। यही कारण है कि हमारा विकास अव्यवस्थित ढंग से नहीं होता। हम वही हो जाते हैं जो अपने शाश्वत स्वरूप में पहले से ही हैं। इसी विचार को गुह्य-विद्या के सूत्र में विरोधाभासपूर्ण ढंग से व्यक्त किया गया है—"जो तुम हो वही हो जाओ।"

प्रत्येक जीवात्मा अनुपम और अपूर्व है क्योंकि वह एक भगवत्-कल्पित चित्र (आर्कीटाइप) की अभिव्यक्ति का परिणाम है। यह भगवत्-कल्पित चित्र मानवीय कल्पना के परे है परन्तु यह आत्मा में सदैव रहता है। काल और देश की सीमाओं में यही विकास प्रक्रिया में प्रकट होता रहता है। यह सब हमारे मन को सचमुच बहुत-ही अटपटा लगेगा। चूँकि मन तो उस परम सत्ता की बहुत ही निम्न अभिव्यक्ति है इसलिए मन से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह बुद्धि के प्रकाश के बिना परम सत्य के उच्च पक्षों को समझ सके। परन्तु उच्च लोकों की झाँकी मिल जाने पर जो मन को बेतुका-सा लगता है वह सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाता है। निम्न जीवन के विरोधाभास उच्च जीवन के अखण्ड और जीवन्त सत्यों में परिणत हो जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि चेतना की प्रत्येक व्यक्तिगत इकाई जिसे 'आत्मा', 'पुरुष' या 'मोनेड' कहते हैं अन्ततः एक केन्द्र मात्र है जिसके माध्यम से ईश्वरीय जीवन और चेतना विभिन्न लोकों में व्यक्त हो पाती है। फिर भी, इस इकाई की सम्पूर्ण संरचना पर विचार करते समय हमें इसके तीन सुनिश्चित और स्पष्ट भागों पर ध्यान देना होगा। प्रत्येक निचला भाग उससे पहले के उच्चतर भाग की आंशिक और अपेक्षाकृत सीमित अभिव्यक्ति है और विकास-योजना में उसका कार्य उच्चतर भाग के विकास में सहायता करता है।

जीवात्मा के विकास में देहात्मा के कार्य को हम पेड़ के विकास के उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं। प्रत्येक वर्ष वसन्त ऋतु में पेड़ पर नये पत्ते आते हैं। उन पत्तों के माध्यम से पेड़ पोषक-तत्त्व ग्रहण करता है और यही कुछ परिवर्तनों के पश्चात् पेड़ के अंग बन जाते हैं और उसके विकास में सहायक होते हैं। पतझड़ में पेड़ की पत्तियाँ गिर जाती हैं। परन्तु उससे पूर्व सम्पूर्ण सार-तत्त्व पेड़ में सिमट कर एकत्रित हो जाता है ताकि वसन्त ऋतु की नई पत्तियों में वह तत्त्व फिर से प्रवाहित हो सके। प्रतिवर्ष यह प्रक्रिया दोहराई जाती है और उसके फलस्वरूप पेड़ बड़ा और सुदृढ़ होता जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा निम्न लोकों में शरीरों का एक नया-समूह धारण करता है और नव-निर्मित्त देहात्मा में अपना एक अंश डाल देता है। यह देहात्मा पृथ्वी पर अपना निश्चित जीवन-काल बिताता है तथा अनेक अनुभव प्राप्त करता है। परन्तु स्वर्ग का जीवन भोगने के पश्चात् विलय और लोप होने से पूर्व देहात्मा अपने अनुभवों का सार जीवात्मा को सौंप देता है। इस प्रकार जीवात्मा का जीवन समृद्ध होता है और उसके विकास में सहायता मिलती है। प्रत्येक अगले जन्म में जीवात्मा की सुप्त क्षमताएँ और शक्तियाँ अपेक्षाकृत कुछ अधिक व्यक्त हो पाती हैं और वह दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत अधिक कुशल माध्यम बन जाता है।

चाहे हम समझ ही न पाएँ, लेकिन इसी प्रकार जीवात्मा आत्मा की एक आंशिक अभिव्यक्ति है और उसके प्रकटीकरण में सहायक होता है। प्रकटीकरण' शब्द से उच्च लोकों की उस प्रक्रिया का अनुमान लगाना कठिन है जिसकी प्रतिच्छाया को निम्न लोकों में विकास-क्रम कहते हैं। आत्मा के लोकों में चल रही इस प्रक्रिया के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द ही नहीं है। यह प्रक्रिया आत्मा, बुद्धिक और उच्च मनोलोकों में जीवात्मा में छिपे दिव्य गुणों और शक्तियों को धीरे-धीरे प्रकट होने से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलती-जुलती है। फिर भी, कुछ इसी प्रकार की और इससे भी कहीं अधिक महान् प्रक्रिया आत्मा के अपने लोक में हो रही होगी क्योंकि निम्न लोकों में जो कुछ भी होता है वह उच्च लोकों की अत्यधिक भव्यता और सुन्दरता की छाया मात्र है। "जैसा ऊपर वैसा ही नीचे।"

उच्च लोक निम्न लोकों में प्रतिबिम्वित तो होते ही हैं, निम्न लोकों में जो कुछ भी होता है उसका प्रभाव उच्च लोकों पर भी पड़ता है। ऐसा लगता है कि अन्तर और बाह्य, उच्च और निम्न के बीच क्रिया और प्रतिक्रिया का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है और उन्हीं के कारण वह प्रक्रिया सम्भव हो पाती है जिसे हम विकास या प्रकटीकरण के रूप में देखते हैं।

देहात्मा और जीवात्मा के पारस्पारक सम्बन्ध को समझ लेने पर आध्यात्मिक जीवन की कुछ मूलभूत समस्याएँ भी थोड़ी स्पष्ट हो जाएँगी। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह समझ में आ जाएगा कि जब तक चेतना देहात्मा के क्षेत्र में आबद्ध है और हम अपने आपको उस भ्रामक इकाई से एक समझते हैं, जो प्रत्येक जन्म के साथ नई बनती है, तब तक हम यथार्थ में वह इकाई ही हैं और उसका भाग्य ही हमारा भाग्य है। यदि हम केवल अपने विचारों और भावनाओं में ही जीते हैं और निम्न स्वार्थों में पूरी तरह लिप्त रहते हैं तो इन शरीरों के नाश होने पर—जो अनिवार्य है—हमारी भी मृत्यु हो जाती है। परन्तु मान लीजिए हमारी चेतना का केन्द्र देहात्मा से जीवात्मा में स्थित हो जाता है और हम यह अनुभव करते हैं—केवल सोचते या मानते ही नहीं हैं—कि हम वह आध्यात्मिक इकाई हैं जिसे अपने दिव्य स्वरूप का बोध है तो देहात्मा हमारे कोट के समान ही केवल एक सहायक अंग मात्र रह जाता है। फिर देहात्मा को जो कुछ भी होता है उससे हम प्रभावित नहीं होते। यदि हमारा कोट पुराना हो जाता है और फट जाता है तो हम दुखी नहीं होते क्योंकि हम जानते हैं कि हम उसे त्याग कर दूसरा कोट ले सकते हैं। परन्तु यदि हमारा स्थूल शरीर बूढ़ा हो जाता है तो हम दुखी होते हैं, मानों हमारा सब कुछ ही समाप्त हो गया हो। ऐसा क्यों? क्योंकि हम अपने को स्थूल शरीर ही मानते हैं, भले ही हम अपने मन में इसे एक यंत्र समझते हों।

अतः आध्यात्मिक जीवन की वास्तविक समस्या चेतना के इस केन्द्र को देहात्मा से जीवात्मा में ले जाना है। देहात्मा को निम्न लोकों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल एक यंत्र के रूप में उपयोग करते हुए हमें उस केन्द्र में स्थित होकर जीना है। यदि हम ऐसा कर सकें तो अपने स्थूल शरीर, अपने मन और अपनी भावनाओं से फिर भी काम करेंगे परन्तु तब हमें अपने सच्चे 'स्व', जीवात्मा, और निम्न लोकों में प्रयुक्त विभिन्न शरीरों के बीच द्वैत का भान हर समय बना रहेगा। जब हम अपने निम्न शरीरों से काम लेंगे तो हमें यह ज्ञान रहेगा कि सम्बन्धित लोकों में उनसे काम लेने के लिए ही हम उनमें प्रवेश कर रहे हैं परन्तु हमें अपने सच्चे स्वरूप का निरन्तर ज्ञान बना रहेगा। उच्च लोकों में चेतना के इस प्रकार स्थित हो जाने पर मुक्ति, अमरत्व और आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि हम उस देहात्म-भाव से मुक्त हो जाते हैं जो सभी प्रकार की सीमाओं—जैसे परिवर्तन, भ्रान्ति और मृत्यु—से प्रभावित होता रहता है। अमरत्व और आनन्द की प्राप्ति देहात्मा के क्षेत्र में हो ही नहीं सकती और उनको वहाँ ढूंढना व्यर्थ ही है। हम अपना भौतिक जीवन चाहे जितना लम्बा कर लें, स्वर्ग लोक में हजारों वर्ष तक रह लें, परन्तु कभी न कभी तो उस जन्म में किए कर्म-भोग समाप्त हो जाएँगे और उस देहात्मा का सदा के लिए विलय हो जाएगा।

इसीलिए जो बुद्धिमान व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह समझ और जान लेता है कि वह एक ऐसे जहाज में यात्रा कर रहा है जो एक न एक दिन नष्ट होगा ही तो वह शीघ्रातिशीघ्र एक ऐसे ठोस धरातल पर पहुँचने का प्रयास करता है जहाँ से वह जीवन के उमड़ते हुए सागर को शान्त भाव से देख सके। वह ठोस धरातल हमारी आत्मिक चेतना ही है। वह सदैव हमारे अपने अन्तर में है। वही हमारा सच्चा घर भी है। विकास के अन्तिम चरणों में चेतना का यह केन्द्र और भी अन्दर की ओर चला जाता है और जाकर आत्म-लोक में स्थिति हो जाता है। फिर वह वहीं से जीवात्मा के जीवन को संचालित और नियंत्रित करता है। कल्पों लम्बे विकास-क्रम में हमारी चेतना का केन्द्र निरन्तर अन्दर की ओर उस केन्द्र तक बढ़ता जाता है जो ईश्वरीय चेतना का प्रतीक है, यद्यपि वह उस केन्द्र तक कभी पहुँच नहीं सकता। "तुम प्रकाश में प्रवेश कर सकोगे परन्तु कभी ज्योति को छू न पाओगे।"

पाठक को यह याद दिला देना भी आवश्यक है कि आध्यात्मिक विकास का अर्थ हमारी चेतना के केन्द्र के जीवन के दिव्य केन्द्र की ओर बढ़ना और हमें अपनी दिव्यता की अधिकाधिक अनुभूति होना है। इसका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थ देहात्मा की परिपूर्णता नहीं है । देहात्मा का तो स्वरूप ही यह है कि वह अपूर्ण और बहुत-कुछ सीमित ही रहे । जीवात्मा का आध्यात्मिक विकास देहात्मा में निश्चित ही प्रतिबिम्बित तो होता है परन्तु केवल एक सीमा तक, क्योंकि निम्न लोकों की निहित सीमाओं के कारण उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो ही नहीं पाती । यह बात बतानी इसलिए आवश्यक है क्योंकि कभी-कभी कुछ लोगों के मन में इस विषय में भ्रान्ति बनी रहती है ।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय ३

आत्म-साधना : एक-विज्ञान

मनुष्य के स्वरूप को पूरी तरह न समझ पाना आज के युग की एक विशेषता है। मनुष्य विश्व में हर बात जान लेने का प्रयत्न कर रहा है। वह निश्चयपूर्वक कह सकता है कि करोड़ों मील दूर स्थित सितारे किस चीज के बने हैं। वह परमाणु और अणु की बनावट के बारे में अच्छी तरह जानता है। परन्तु अपने स्वयं के बारे में वह लगभग कुछ नहीं जानता। उससे भी विचित्र बात यह है कि बिना यह जानने की परवाह किए कि वह कहाँ से आया है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, वह इस संसार में क्यों आया है, और मृत्यु के पश्चात् कहाँ जाएगा, वह अपने आपसे सन्तुष्ट है। यह सचमुच विस्मय की बात है कि बिना इन स्वाभाविक प्रश्नों को पूछे या यह जाने कि ऐसे प्रश्न भी हैं संसार के अधिकांश मनुष्य अपना जीवन जी रहे हैं।

मनुष्य के स्वरूप और उसकी आन्तरिक संरचना के बारे में किसी निश्चित ज्ञान के अभाव का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह है कि मानव चरित्र के बारे में हमारे विचार अस्पष्ट हैं। "चरित्र" शब्द का प्रयोग सामान्यतः किसी व्यक्ति के मानसिक और नैतिक गुणों तथा उसके स्वभाव-वैशिष्ट्य के लिए किया जाता है। स्थूल शरीर के पीछे चेतना के कई कोषों वाला सच्चा मानव अज्ञात और अपरिचित बना रहता है। उसके जटिल स्वरूप की जो कुछ भी अभिव्यक्ति स्थूल शरीर के अपेक्षाकृत सघन और लोचहीन माध्यम से होती है उसी को उसका सच्चा स्वरूप समझ लिया जाता है। इसके अतिरिक्त, मनुष्यों के समूह का विचार करते समय हम देखते हैं कि वे कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में एक विशेष प्रकार का व्यवहार करते हैं। व्यवहार के इन विशिष्ट तरीकों को हम मानव-स्वभाव कहते हैं और प्रत्येक तरीके का एक नाम रख देते हैं। परन्तु इस बारे में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है कि मनुष्य इन विशिष्ट तरीकों से व्यवहार क्यों करते हैं और मानव चरित्र के इन विभिन्न तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। मानव-स्वभाव में कुछ बातें तो स्थूल शरीर की आदतें होती हैं, कुछ बातें हमारे भावनात्मक या मानसिक स्वरूप से सम्बन्धित होती हैं तथा कुछ स्पष्टतः आध्यात्मिक होती हैं। परन्तु,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बिना किसी अन्तर्भेद के, 'चरित्र' शब्द का प्रयोग इन सबके लिए किया जाता है।

इस विषय पर विचारों की इस अस्पष्टता के कारण 'चरित्र-निर्माण' के विज्ञान को विकसित कर पाना कदाचित् ही सम्भव हो सके। कुछ अनुभूत विधियों का प्रयोग करके अपने चरित्र में कुछ परिवर्तन लाना तो सम्भव है, परन्तु ऐसे प्रयत्न अव्यवस्थित और सीमित ही होंगे। समुचित चरित्र-विज्ञान के लिए, सर्वप्रथम, मनुष्य के स्वरूप, उसकी सम्पूर्ण संरचना और उसमें छिपी शक्तियों और क्षमताओं के बारे में हमारे विचार सुस्पष्ट होने चाहिए। फिर हमें यह जानना चाहिए कि सौरमंडल के विभिन्न लोगों पर मनुष्य के विभिन्न कोषों में कार्य करने वाली चेतना किन नियमों से नियंत्रित होती है। परन्तु इन नियमों का केवल ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। हमें एक विस्तृत विधि तैयार करनी पड़ेगी जिससे हम इन नियमों का उपयोग विभिन्न कोषों के विकास और चेतना की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित समस्याओं के लिए कर सकें। और अन्त में, हमें इसका भी स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि हमारा लक्ष्य क्या है, हमें किस ध्येय को प्राप्त करना है और उस ध्येय तक ले जाने वाले मार्ग पर विभिन्न अवस्थाएँ कौन-सी हैं। चरित्र-निर्माण का सन्तोषजनक विज्ञान विकसित करने के लिए ये सभी आवश्यक तत्त्व हमें केवल गुह्यविद्या में ही मिल सकते हैं।

अब हम यह समझने का प्रयत्न करें कि गुह्य-विद्या के अनुसार चरित्र का क्या तात्पर्य है। गुह्य-दर्शन के अनुसार सारा व्यक्त विश्व उस दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति है। यह जीवन एक के बाद एक अनेक रूप ग्रहण करता है और रूपों के माध्यम से अधिकाधिक पूर्णता के साथ व्यक्त होने का प्रयत्न कर रहा है। चेतना की जो विशिष्ट इकाइयाँ मनुष्य का रूप धारण किए हुए हैं उनमें यह अभिव्यक्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है क्योंकि मनुष्य के विभिन्न कोष दिव्य गुणों की विविध अभिव्यक्ति के लिए उचित अवसर प्रदान करते हैं। ऐसी ही एक इकाई पर विचार करते समय हम देखते हैं कि चेतना और जिन कोषों में यह कार्य करती है उनके बीच पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया के अनेक स्वरूप होते हैं। इनमें कुछ तो सभी मनुष्यों के लिए समान होते हैं। परन्तु कुछ अन्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होते हैं। मानव की समान स्वरूप वाली अभिव्यक्तियों को ही मानवीय स्वभाव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहते हैं। और हम सब उससे परिचित हैं। व्यक्ति का उसका अपना विशिष्ट स्वभाव ही उसका चरित्र होता है।

वास्तविक जीवन में मानवीय स्वभाव की अभिव्यक्तियों के इतने विभिन्न स्वरूप होते हैं कि यह पूछना स्वाभाविक ही है कि क्या इन विभिन्न मानव-स्वभावों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध है? और यदि है, तो उस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है। मानव चरित्र के विभिन्न तत्त्वों का वर्गीकरण करने में कठिनाई अवश्य है। लेकिन इस वर्गीकरण के लिए यदि हमें उचित सूत्र मिल जाए तो यह समस्या उतनी कठिन नहीं रह जाती। यह सूत्र हमें दिव्य जीवन के त्रिगुणात्मक स्वरूप में मिल जाता है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो संसार के लगभग सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में मिलता ही है। चेतना से सम्बन्धित ये तीन आधारभूत स्वरूप सत्, चित्त और आनन्द कहलाते हैं। पदार्थों से सम्बन्धित तीन आधारभूत गुण तम, रज और सत्त्व हैं। चेतन और पदार्थ (जड़) अव्यक्त परब्रह्म की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति के ही परिणाम हैं।

चेतन और जड़ (पदार्थ) की आधारभूत त्रिगुणात्मकता जब निम्न लोकों में प्रतिबिम्बित होती है तो हमें प्रकृति में सर्वत्र ही त्रिगुणात्मक स्थिति दिखायी देती है। प्रत्येक लोक पर प्राप्त परिस्थितियों में बहुत भिन्नता है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के अन्तर्गत भी असंख्यों उलट-फेर और सम्मिश्रण हो जाते हैं। यही कारण है कि प्रकृति में हमें इतनी अधिक विविधता दिखायीं देती है।

यह विचार-श्रृङ्खला अत्यन्त रोचक तो है परन्तु यहाँ इसकी विस्तार से चर्चा करना सम्भव नहीं होगा। यहाँ तो हमें यह बात समझ लेनी आवश्यक है कि विभिन्न व्यक्तियों के चरित्र के सद्गुण और विशेषताएँ निम्न लोकों पर दिव्य स्वरूप के इन आधारभूत पक्षों की अभिव्यक्ति की विधियाँ मात्र हैं। यह ठीक इसी प्रकार है जैसे प्रकृति में दिखने वाले या कृत्रिम रूप से बनाए गए सभी रंग नीले, लाल और पीले तीन प्राथमिक रंगों के विभिन्न सम्मिश्रण मात्र हैं। कुछ उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

जब चेतना का सत् पक्ष देहात्मा के क्षेत्र में प्रकट होता है तब उसमें अनेक गुण उत्पन्न हो सकते हैं। ये सब गुण देखने में तो एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं परन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होगा कि उन सबका आधार एक ही है। हम चरित्र के इन सुपरिचित गुणों को ही लें :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साहस, शक्ति तथा निर्णय-क्षमता। यदि हम इनका विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि सत् गुण में निहित स्थिरता के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वरूप मात्र हैं। जब कोई व्यक्ति संकटों के बीच भी एक पूर्व-निश्चित विधि से ही कार्य करता है तो यह कहा जाता है कि उसमें साहस है। कठिनाइयों के बीच वह स्थिर-चित्तता प्रदर्शित करता है। यदि कोई व्यक्ति प्राप्त प्रलोभनों के बीच भी पूर्व-निश्चित विधि से ही कार्य करता है तो कहा जाता है कि उसमें शक्ति है। वह प्रलोभनों के बीच स्थिरता प्रदर्शित करता है। कई विकल्प होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति पूर्व-निश्चित कार्य-विधि पर अडिग रहता है तो कहा जाता है कि उसमें निर्णय-क्षमता है। मानसिक विक्षेपों के बीच वह स्थिरता प्रदर्शित करता है। अतः हम देखते हैं कि चरित्र के ये गुण देखने में चाहे भिन्न लगें, वास्तव में जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में ये स्थिरता के सिद्धान्त की अभिव्यक्तियाँ हैं। स्थिरता संकल्प-शक्ति की ही मूल विशेषता है और संकल्प-शक्ति चेतना के सत् पक्ष की अभिव्यक्ति है।

यही बातें तो अन्य गुणों पर भी लागू होती हैं। चेतना का आनन्द-पक्ष जब देहात्मा के क्षेत्र में प्रकट होता है तो उससे ज्ञान या प्रज्ञान (विज़डम) का उदय होता है। प्रज्ञान की मूल विशेषता विभिन्न व्यक्त स्वरूपों में जीवन की एकता के दर्शन करना है। उच्च लोकों में ये दर्शन प्रत्यक्ष और स्पष्ट होते हैं। परन्तु देहात्मा के क्षेत्र में इस एकता का आभास मात्र ही होता है और वह प्रेम के विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होती है। प्रेम, करुणा और भक्ति जैसे सभी गुण एकता के अप्रत्यक्ष दर्शन पर ही आधारित हैं। विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्त होने के कारण उस एकता के बाह्य स्वरूपों में अन्तर हो जाता है। इसलिए जब हम किसी व्यक्ति के साथ आन्तरिक निकटता का अनुभव करते हैं चाहे वह व्यक्ति इस जीवन में हमसे सम्बन्धित हो या न हो—तो यही कहा जाएगा कि हममें प्रेम भावना है। पिछले जीवनों में विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों से ही यह प्रेम-भावना उत्पन्न होती है। जब हम किसी व्यक्ति को पतितावस्था में देखते हैं—शारीरिक कमजोरियाँ दिव्य जीवन पर हावी हो जाती हैं—और हमारा प्रेम उस पतित भाई की ओर प्रवाहित होता है तो इसे करुणा कहा जाता है। यह प्रेम उन दुर्बल व्यक्तियों की ओर प्रवाहित होता है जिन्हें हमारी सहानुभूति ओर सहायता की आवश्यकता होती है। जब हम किसी व्यक्ति में अपने प्रिय आदर्श की प्रतिमूर्ति देखते हैं तब हमारा प्रेम उस व्यक्ति की ओर

३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवाहित होता है और हम अपना जीवन उसके विशाल जीवन से जोड़ लेना चाहते हैं। इसे हमारे अन्दर भक्ति का उदय होना कहा जाता है। यह प्रेम उनकी ओर प्रवाहित होता है जिन्हें हम ज्ञान या शक्ति में श्रेष्ठ मानते हैं। अतः यह पुनः स्पष्ट हो गया कि मानव-चरित्र के ये विभिन्न तत्त्व जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में चेतना के आनन्द पक्ष के प्रतिबिम्बन मात्र हैं।

चेतना का तीसरा गुण जब देहात्मा के क्षेत्र में प्रतिबिम्बित होता है तो वस्तुओं के मूर्तरूप का ज्ञान होता है। सावधानो से विचार करने पर ज्ञात होगा कि निरीक्षण, स्मृति, तर्क-शक्ति तथा निम्न मन के अन्य कार्य विभिन्न परिस्थितियों में चेतन के चित् पक्ष के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। उदाहरणार्थ, जब इन्द्रियों के माध्यम से हमारा मन किसी अपरिचित विषय-वस्तु के सम्पर्क में आता है तो यह कहा जाता है कि हम उसका निरीक्षण करते हैं। मन द्वारा तथ्य एकत्रित करना ही निरीक्षण करना है। किसी विषय-वस्तु की मन पर जब ऐसी छाप पड़ जाती है जिसे बाद में वह किसी कार्य के लिए उसका उपयोग कर सके तो स्मृति कार्य करने लगती है। भविष्य के प्रयोग के लिए तथ्यों को मन में सँजोये रखना स्मृति है। जब विभिन्न निरीक्षित विषय वस्तुओं की तुलना और मुकाबला करके निष्कर्ष निकाले जायँ तो मन तर्क-शक्ति का उपयोग करता है। निरीक्षित तथा स्मृति के रूप में सँजो कर रखे गये तथ्यों के बीच मन द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना ही तर्क करना है। ये समस्त मानसिक क्षमताएँ किसी न किसी रूप में, ज्ञान से सम्बन्धित हैं और चेतना के चित् पक्ष से प्राप्त होती हैं।

ऊपर कही गईं बातों से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जिन मानवीय विशिष्टताओं और क्षमताओं को हम विभिन्न नामों से पुकारते हैं वे चेतना के तीन पक्षों के विभिन्न उलट-फेर और सम्मिश्रणों की अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। इनमें से कुछ विशिष्टताएँ तो किसी एक पक्ष की सरल व्युत्पत्तियाँ है तथा कुछ अन्य एक से अधिक पक्ष की निश्चित व्युत्पत्तियाँ हैं। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियों की प्रधानता के अनुसार विभिन्न कोषों की अपनी विशिष्टता होती है। इस विशिष्टता के कारण चेतना के इन पक्षों की अभिव्यक्ति में और भी परिवर्तन और जटिलता आ जाती है। यदि मानव चरित्र के सभी ज्ञात तत्त्वों का विश्लेषण किया जाए, उनका क्रमशः मूल कारण खोजा जाए और साथ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही यह भी स्पष्ट किया जाए कि मानव जीवन और व्यवहार में दिखने वाली विविध और जटिल क्रियाएँ दिव्य चेतना के उस प्रकाश के कारण हैं जिसे जीवात्माओं के कोष अनेकानेक रंगों में बिखेर देते हैं तो यह एक अत्यन्त ही रोचक अनुसंधान होगा।

मानवीय विशिष्टताओं और क्षमताओं के उपरोक्त अवलोकन से सम्भवतः हम थोड़ा समझ सकें कि मानव-चरित्र क्या है और तभी चरित्र-निर्माण के सही विज्ञान का आधार भी तैयार हो सकेगा। अब हम समझ सकते हैं कि किसी व्यक्ति का चरित्र उन सब विभिन्न विधियों का योग-समूह है जिनमें उसकी चेतना उसके विभिन्न कोषों—स्थूल, वासनामय, मनोमय और आत्मिक—के माध्यम से व्यक्त होती है। यह योग-समूह भी अभिव्यक्ति की उन सम्पूर्ण विधियों का एक अंश मात्र ही होगा जिनमें उन कोषों में कार्यरत चेतना का व्यक्त होना सम्भव है। जैसे-जैसे व्यक्ति विकसित होता है, उस दिव्य अंश में निहित समस्त सम्भावनाएँ एक-एक करके अव्यक्तावस्था से व्यक्त होने लगती हैं। चरित्र अधिकाधिक पूर्ण हो जाता है। वह अपने अन्दर क्रियाशील दिव्य जीवन का एक अधिक सक्षम यंत्र बन जाता है।

गुणों के इस प्रकार धीरे-धीरे अव्यक्तावस्था से व्यक्त होने के लिए आधुनिक विज्ञान में एक सुन्दर उपमा मिलती है। धातु जैसी ठोस वस्तु के टुकड़े को लगातार गर्म करने पर उसमें से विभिन्न आवृत्तियों वाले कंपन निकलने लगते हैं। उस वस्तु के उष्णीभूत हो जाने पर इन कंपनों का स्पेक्ट्रोस्कोप द्वारा विश्लेषण किया जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि कौन-से कम्पन क्रियाशील हैं। जैसे-जैसे वस्तु का तापमान बढ़ेगा उसमें अधिकाधिक रेखाएँ प्रकट होने लगेंगी। तब उस उष्णीभूत वस्तु का चित्र धीरे-धीरे सूर्य के चित्र के समान हो जाएगा और उसमें सभी सम्भव कम्पन दिखाई देने लगेंगे। ऐसे चित्र में काली रेखाएँ या पट्टियाँ सम्बन्धित आवृत्तियों में कम्पन का अभाव प्रकट करती हैं। तापमान बढ़ने पर इन काली रेखाओं या पट्टियों की संख्या कम होने लगती है और कम्पनों का क्षेत्र अधिकाधिक पूर्ण हो जाता है।

मानवीय विकास और समस्त क्षमताओं और शक्तियों की धीरे-धीरे अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में उपरोक्त उपमा कितनी सही है यह स्पष्ट ही है। दिव्य जीवन के सभी गुण ईश्वरीय अंश की प्रत्येक इकाई में सुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। यह इकाई ही जीवात्मा है। जैसे-जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवात्मा का विकास होता है, ये गुण एक-एक करके प्रकट होने लगते हैं। धीरे-धीरे व्यक्ति पूर्णता की उस अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ ये सभी गुण पूर्णतः व्यक्त हो जाते हैं। अतः विकास की किसी भी विशिष्ट अवस्था में किसी व्यक्ति का चरित्र वास्तव में दिव्य गुणों का एक अधूरा चित्र है क्योंकि अविकसित कोषों के माध्यम से चेतना का प्रकाश अंशतः ही प्रकट हो पाता है। पूर्ण या सिद्ध पुरुष का चरित्र दिव्य गुणों का समग्र चित्र प्रस्तुत करता है और सूर्य के चित्र के समान होता है। एक साधारण अपूर्ण व्यक्ति का चित्र एक ठोस वस्तु के गर्म होने पर प्राप्त चित्र के समान है जिसमें अविकसित गुणों की कुछ काली रेखाएँ होती हैं। गुह्य-विद्या दुर्गुणों के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करती। वे तो चरित्र-चित्र की काली रेखाएँ हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति का विकास होगा और उसमें सद्गुण विकसित होंगे ये काली रेखाएँ कुछ समय बाद दिखाई ही नहीं देंगी।

अतः यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि व्यापक अर्थ में चरित्र-निर्माण का कार्य इतना ही है कि हमारे दिव्य स्वरूप की अज्ञात गहराइयों में जो समस्त गुण सुप्तावस्था में पहले से ही विद्यमान हैं उन्हें बाहर ले आया जाए। इस प्रकार हमारा अपूर्ण स्वरूप पूर्णत्व के उस दिव्य स्वरूप के अनुरूप होने लगता है जिसमें ये समस्त गुण सुसंगत और संतुलित पूर्णावस्था में होते हैं। यदि चरित्र-निर्माण एक विज्ञान है तो इस कार्य को विधिवत् और वैज्ञानिक ढंग से करना सम्भव होना चाहिए। इसे विधिवत् इस कारण किया जा सकता है क्योंकि गुह्य-विद्या के सिद्ध-पुरुषों ने हमें वह ज्ञान उपलब्ध करा दिया है जिससे हम जानते हैं कि हमें क्या और कैसे करना है। इसे वैज्ञानिक ढंग से इस कारण किया जा सकता है क्योंकि इन गुणों का विकास सुनिश्चित नियमों के अनुसार एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। ये नियम उतने ही अपरिवर्तनीय और विश्वसनीय हैं जितने भौतिक जगत् के नियम।

आन्तरिक विकास की इस प्रक्रिया के लिए 'चरित्र-निर्माण' शब्द उपयुक्त नहीं है। इसके प्रयोग से साधक की दो गलत धारणाएँ बन सकती हैं। प्रथम, उसकी यह धारणा बन सकती है कि किसी वस्तु का निर्माण इसी प्रकार करना है जैसे कोई भवन या संयंत्र बनाया जाता है। परन्तु वास्तविक प्रक्रिया तो एक आन्तरिक सत्य का प्रकटीकरण है जो अपनी सम्पूर्णता से हमारे अन्दर पहले से ही विद्यमान है। प्रक्रिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वास्तव में यह है कि अनन्त सम्भावनाओं वाला जीवन धीरे-धीरे और अधिकाधिक व्यक्त होने लगता है। चेतना का क्रमशः इतना विस्तार होता है कि विश्व में जो कुछ भी है वह अन्ततः उसमें समा जाए। वर्तमान स्थिति में हमें अपने उन निम्न कोषों का निर्माण और विकास करना है जिनके माध्यम से हमारे अन्दर स्थित दिव्य जीवन व्यक्त होता है। हमें जीवन और उसकी अभिव्यक्ति का निर्माण और विकास नहीं करना है।

'चरित्र-निर्माण' शब्द के प्रयोग से दूसरी गलत धारणा यह बन सकती है कि जिसका हम निर्माण करते हैं वह जीवन की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को सीमित और प्रतिबन्धित करता है। यदि हमारे मन को एक स्वस्थ तरीके से व्यवहार करने की आदत डाली जाती है तो इससे उसकी स्वतन्त्रता और क्रियाशीलता बस इतनी ही सीमित होती है जितनी कि स्थूल शरीर की कुछ वांछनीय और आवश्यक आदतों से हमारा भौतिक जीवन सीमित होता है। ये शारीरिक या मानसिक आदतें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं हैं। बाधक तो विवेक का अभाव है जिसके कारण हमें उन सीमाओं का भान ही नहीं होता और वें आदतें हम पर अपना प्रभुत्व जमाये रहती हैं। जैसे-जैसे हमारा जीवात्मा विकसित होता है और निम्न कोषों पर उसका नियन्त्रण बढ़ता है ये आदतें उतनी ही कम बाधक और कम हानिकारक हो जाती हैं। इन आदतों के कारण ही जीवात्मा शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का कार्य अचेतन मन पर छोड़ पाता है अन्यथा इन क्रियाओं की ओर उसे ध्यान देना ही पड़े और व्यर्थ में समय और शक्ति का अपव्यय हो। यदि हम इन बातों को अपने ध्यान में रखें तो अपने निम्न स्वभाव के रूपान्तरण के लिए प्रचलित और सुपरिचित शब्द 'चरित्र-निर्माण' का प्रयोग कर सकते हैं। इस रूपांतरण के कारण ही हमारे आत्मिक स्वरूप की अधिकाधिक अभिव्यक्ति सम्भव हो पाती है।

एक उज्ज्वल चरित्र-निर्माण की समस्या प्रमुखतः अपने समस्त कोषों और उनके कार्यों का अध्ययन करने की तथा फिर उन कोषों की क्रियाओं को पूर्णतः दोषरहित बनाने के लिए आवश्यक उपाय करने की समस्या है। विज्ञान, दर्शन और धर्म में आज उपलब्ध ज्ञान के आधार पर यह सब कर पाना सम्भव नहीं है। इनमें से किसी में भी हमें चरित्र-निर्माण के विज्ञान के लिए आवश्यक तत्त्व नहीं मिलते। इस प्रकार के विज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के लिए आवश्यक ज्ञान् तो हमें गुह्य-विद्या में ही मिलता है। इस विद्या के सिद्ध-पुरुष युगों से इस दिशा में प्रयोग करते रहे हैं और इस कार्य के लिए प्रभावशाली विधि तैयार कर सके हैं। अगले अध्यायों में यह प्रयत्न किया गया है कि एक-एक करके मनुष्य के विभिन्न कोषों पर विचार किया जाए। निम्न लोकों में हम जितना समझ सकें उतना उनसे सम्बधित कार्यों का अध्ययन किया जाए। तत्पश्चात् यह बताया जाए कि किन प्रार्रम्भिक उपायों द्वारा इन कार्यों और क्रियाओं में सुधार लाना सम्भव है। आत्म-साधना की समस्या का विधिवत् अध्ययन केवल इसी तरह किया जा सकता है।

अपने चरित्र-निर्माण का कार्य हमें विधिवत् ही नहीं, वैज्ञानिक भावना से भी करना होगा और इसमें दो बातें आती हैं। प्रथम, हमें सम्पूर्ण समस्या के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का अर्थ है कि हम यह अच्छी तरह समझ लें कि इन समस्त कोषों पर विचार करते समय हम प्राकृतिक नियमों के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। ये नियम भी उतने ही विश्वसनीय हैं जितने कि भौतिक जगत् के नियम और जिनके आधार पर आधुनिक विज्ञान का सम्पूर्ण भवन निर्मित हुआ है। इस बात पर बल देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि जीवन के जो पक्ष भौतिक क्षेत्र में नहीं आते उनके विषय में सामान्यतः भ्रान्त धारणा प्रचलित है। मानसिक और नैतिक बातों के बारे में संसार के साधारण व्यक्ति के ही नहीं, महान् विचारकों और वैज्ञानिकों तक के विचार बहुत ही विचित्र हैं। यह तो वे मानते हैं कि भौतिक जगत् में सब कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होता है। परन्तु हमारे मानसिक और नैतिक क्षेत्रों में किसी बात को स्पष्ट और निश्चित नहीं माना जाता। बहुत कम लोग तथा-कथित मानसिक और नैतिक नियमों को गम्भीरता से स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ तो सचमुच यह मानने के समान है कि संसार का एक भाग तो सुव्यवस्थित है तथा शेष भाग में अव्यवस्था है। परन्तु इस विचार का बेतुकापन सामान्यतः उन लोगों की समझ में नहीं आता जो भौतिकता में इतना फँसे हैं कि उसके परे कुछ देख ही नहीं पाते।

अन्तर जीवन के नियमों में हमारा दृढ़ विश्वास है या नहीं, यह जानने की एक ही कसौटी है। अपने अन्तर जीवन में आवश्यक प्रयोगों के आशातीत परिणाम प्राप्त न होने पर क्या हम उदास हो जाते हैं और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन नियमों की सत्यता पर सन्देह करने लगते हैं ? अथवा क्या हम यह सोचते हैं कि सफलता के लिए आवश्यक शर्तें पूरी न कर पाने के कारण हमें वह असफलता मिली है ? बहुत से लोग अपने विचारों और भावनाओं के अनुसार आत्म-साधना तो करने लगते हैं परन्तु आशातीत परिणाम वांछित शीघ्रता से प्राप्त न होने पर उन्हें निराशा होती है। कुछ तो यह सोचकर कि मानवीय प्रयास के इस क्षेत्र में सब कुछ अनिश्चित है, इस दिशा में अपने सारे प्रयत्न ही छोड़ बैठते हैं। यह दृष्टिकोण पूर्णतः अवैज्ञानिक है। इससे तो यही पता चलता है कि आत्म-साधना के मूल आधार को ही वे नहीं समझ पाए हैं।

इन समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अर्थ यह भी है कि हम उच्च जीवन से सम्बन्धित बातों को रहस्यपूर्ण न समझें। यह सच है कि अदृश्य जगत् के उच्च लोकों तक पहुँचने के लिए श्रद्धा-भावना आवश्यक है। परन्तु इस कारण हम यह न भूल जाएँ कि इन क्षेत्रों में भी प्राकृतिक नियम लागू होते हैं और इन लोकों या क्षेत्रों में क्रियाशील नियमों का परीक्षण एवं उचित प्रयोग करके ही उन लोकों के रहस्यों को जाना जा सकता है। जिन सम्पूर्ण तथ्यों और नियमों को गुह्य-विद्या कहते हैं उनकी खोज किसी रहस्यपूर्ण ढंग से नहीं हुई है। यह खोज अति-भौतिक क्षमताओं और शक्तियों की सहायता से सम्परीक्षण करके की गई है। गुह्य-विद्या के साधकों और सिद्ध-पुरुषों ने बार-बार इन तथ्यों और नियमों की सत्यता का परीक्षण किया है। वे स्वयं आन्तरिक विकास के इस पथ पर चल चुके हैं और उन्होंने सभी परिस्थितियों में इन नियमों को पूर्णतः विश्वसनीय पाया है। अतः जब कोई साधक अपने आन्तरिक स्वरूप के विशाल और आकर्षक क्षेत्रों में प्रवेश करे और वहाँ से सभी प्रकार की असामान्य क्षमताओं और शक्तियों को निकाल लाने का प्रयत्न करे तो उसे यह समझ लेना चाहिए कि वह जो चाहे सो कर सकता है। बस शर्त इतनी ही है, उसके पास ज्ञान की कुंजी हो और समस्त कठिनाइयों के होते हुए भी (जिनका आना अनिवार्य है) प्रयत्नशील बने रहने का उसका संकल्प दृढ़ हो। परन्तु केवल सैद्धान्तिक ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। उसे प्रयोग करने ही होंगे। उसे अन्तर-जीवन के नियमों की सत्यता की जाँच और उनका प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं प्राप्त करना होगा। उन नियमों का सफलतापूर्वक प्रयोग करने की प्रविधि उसे तैयार करनी पड़ेगी। अपने अगम्य स्वरूप तथा बाह्य जगत् के सम्बन्ध में उसके ज्ञान में निरन्तर वृद्धि केवल इसी प्रकार हो सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु हमें एक सावधानी रखनी चाहिए। मन की क्रियाएँ प्राकृतिक नियमों के अनुसार होती हैं, इसका यह अर्थ नहीं होता कि हमें परिणाम उतनी ही शीघ्रता से और उसी प्रकार मिल सकते हैं जैसे कि भौतिक या यांत्रिक क्रियाओं के सम्बन्ध में मिल जाते हैं। यांत्रिकी, रसायन या भौतिकी शास्त्र के क्षेत्र में प्रयोगों के परिणाम तुरन्त मिल जाते हैं क्योंकि ये किसी जीवन-प्रक्रिया से सम्बन्धित नहीं हैं। जीवन-प्रक्रियाओं के क्षेत्र में क्रियाएँ बहुत अधिक और जटिल तो हो ही जाती हैं, उनके परिणाम भी अपेक्षाकृत लम्बे समय बाद प्राप्त होते हैं। जीव-विज्ञान शास्त्र के क्षेत्र में परिणाम यांत्रिकी क्रियाओं की अपेक्षा अधिक समय बाद प्राप्त होते हैं और उतने विश्वसनीय भी नहीं होते। प्रक्रिया की जटिलता के कारण यह भी सम्भव है कि कुछ बातें हम भूल या छोड़ जाएँ और फिर वे ही असफलता के कारण बनें। जैसे ही इन्हें सुधार लिया जाए, आशातीत परिणाम प्राप्त हो जाते हैं। परिणाम में इस विलम्ब या अनिश्चतता के कारण हम यह तो नहीं कहते कि जीव-शास्त्र विज्ञान ही नहीं है। इनके होते हुए भी वह एक विज्ञान है क्योंकि प्रक्रिया चाहे कितनी ही लम्बी और जटिल क्यों न हो परिणाम अन्ततः प्राकृतिक नियमों पर निर्भर करते हैं।

इसी प्रकार कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में मानसिक या आध्यात्मिक क्रियाओं के परिणामों में विलम्ब या असफलता का यह अर्थ नहीं है कि इन क्षेत्रों में अपरिवर्तनीय नियम काम ही नहीं कर रहे हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि परिस्थितियाँ भिन्न एवं जटिल हैं। सुनिश्चित सफलता के लिए समस्त परिस्थितियों को अनुकूल बनाना कहीं अधिक आवश्यक है। चूँकि आत्म-साधना के क्षेत्र में प्राकृतिक नियम लागू होते हैं इसलिए हम यह न मान लें कि हमारा काम बस एक दिए हुए नक्शे के अनुसार मोटर कार को फिट करके अपने गंतव्य स्थान तक चलाकर ले जाने के समान है। आत्म-साधना की समस्या तो सभी प्रकार की कठिनाइयों और जटिलताओं से भरी है। उसको सुलझाने के लिए सावधानी तथा धैर्य के साथ लम्बे समय तक प्रयत्न की आवश्यकता है। केवल इसी अर्थ में आत्म-साधना या योग एक विज्ञान है।

आत्म-साधना का लक्ष्य तो मोटे तौर पर पिछले अध्याय में बताया ही जा चुका है। मूलतः यह दिव्य आत्मा के साथ सचेतन एकता का बोध लिए हुए पूर्ण स्वतंत्रता के साथ जीना है और ईश्वरीय संकल्प को पूरा करने में समस्त लोकों से सम्बन्धित शक्तियों और क्षमताओं का पूर्ण कुशलता से उपयोग करना है। परन्तु यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधक अनेक जन्मों के कठोर प्रयत्नों के बाद ही प्राप्त कर सकता है। तो क्या आत्म-साधना से हमें वर्तमान जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता और हमें इस लम्बी और कठिन यात्रा पर इसी आशा से चलते रहना होगा कि भविष्य के किसी जीवन में हम पूर्णत्व और आत्मबोध प्राप्त कर सकेंगे ? निश्चित ही बात ऐसी नहीं है। इस पुस्तक को पढ़ कर ज्ञात होगा कि इस दिशा में थोड़ी-सी भी प्रगति साधक के लिए अत्यन्त लाभप्रद है और जीवन की अनेक चिन्ताओं और कष्टों से उसे मुक्त कर देती है। कुछ क्षण के लिए पाठक यह कल्पना करके देखे कि उसका जीवन कैसा होगा, यदि वह अपने स्थूल शरीर, भावनाओं और विचारों पर नियंत्रण कर सके और अपने विवेक और उच्च निर्णय के अनुसार उनकी क्रियाओं का संचालन करे। वह कल्पना करे कि वह भौतिक आसक्तियों, भावनात्मक विक्षेपों और अशान्त एवं उद्विग्न मन की चिन्ताओं और आंशकाओं से मुक्त है, प्राप्त परिस्थितियों में उसका जीवन पूर्णतः शान्त है, जिस शक्ति और सुख को साधारण व्यक्ति व्यर्थ में ही बाह्य संसार में खोजते हैं उन्हें वह अपने अन्तर से ही प्राप्त कर लेता है। फिर इस शान्त और आत्म-संयत जीवन के बीच वह कल्पना करे कि आत्मबोध के चरम लक्ष्य के लिए वह निरन्तर प्रयत्न-शील है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसके लिए प्रयत्न करना किसी भी पुरुष या स्त्री के लिए वांछनीय है। यदि अन्तर-जीवन को बदलने का प्रयास लगन और दृढ़ संकल्प के साथ किया जाए तो उस लक्ष्य को इसी जीवन में भी प्राप्त किया जा सकता है। अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में मनुष्य को कितना समय लगेगा यह स्वाभाविक ही पिछले जन्मों में इस दिशा में उसके अपने प्रयत्नों, विकास की उसकी स्थिति और उसके कर्म पर निर्भर करेगा। परन्तु यदि उसमें पर्याप्त लगन और उत्साह है तो अभी, इसी जीवन में, मानसिक सन्तुलन, स्थिरता और शान्ति प्राप्त करने से उसे कोई नहीं रोक सकता।

अतः आत्म-साधना सबके लिए आशा, प्रेरणा और सुखमय जीवन का सन्देश है। जो कोई भी सच्ची लगन और निष्ठा से प्रयत्न प्रारम्भ करेगा उसे प्रारम्भ से ही उसके लाभ प्राप्त होने लगेंगे। मृत्यु आने पर भी उसे विश्वास होगा कि उसने प्रबुद्ध और मुक्त जीवन की आधार-शिला रख दी है। उसने लक्ष्य तक ले जाने वाले मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दिया है और अगले जीवन में वह इस महान् कार्य को उसी स्थान से फिर प्रारम्भ कर देगा जहाँ इस जीवन में उसे छोड़ा है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खण्ड : २

आत्म-संयम और आत्म-साधना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain; Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : ४

स्थूल शरीर के कार्य

पिछले एक अध्याय में आत्म-साधना की सम्पूर्ण समस्या का अत्यन्त संक्षेप में विवेचन किया गया था। वहाँ बताया गया था कि अंशतः समस्या यह है कि चेतना के जिन विभिन्न कोषों का जीवात्मा विभिन्न लोकों में प्रयोग करता है उन्हें पूर्ण सक्षम बनाया जाए। इन कोषों में स्थूल कोष या शरीर बाह्यतम और स्थूलतम है। इस कोष से हम सर्वाधिक परिचित हैं। जब तक हमारा जीवन इस भूलोक पर है हमारा बहुत अधिक काम इसी शरीर से पड़ता है। हम पहले इस शरीर का विचार करेंगे। ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना किसी विषय को समझने की सदैव ही स्वाभाविक और इसीलिए सही विधि है। इस विधि का संकेत इस बात से भी मिलता है कि हमारे शरीरों की विकास-प्रक्रिया में स्थूल शरीर को ही सबसे पहले सुव्यवस्थित और शुद्ध करना होगा। सामान्यतः प्रकृति विकास-प्रक्रिया को नीचे से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे ऊपर को ले जाती है।

स्थूल शरीर के कार्य तथा उससे काम लेने की सही विधि के बारे में भारत में साधक के मन में बहुत-सी भ्रान्तियाँ हैं। कुछ साधक इससे सम्बन्धित समस्याओं की ओर अत्यधिक ध्यान देते हैं और अनावश्यक बातों के लिए परेशान होते हैं। कुछ अन्य साधक इसकी पूर्ण उपेक्षा करते हैं क्योंकि उनकी यह भ्रान्त धारणा होती है कि भौतिक जगत् का जीवन तो 'माया' है और यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम कैसे रहते हैं और स्थूल शरीर को कैसे रखते हैं। स्थूल शरीर के प्रति सही दृष्टिकोण यह होगा कि इसे भौतिक जगत् में कार्य करने के लिए जीवात्मा का एक यंत्र समझा जाए। यह एक निर्जीव मशीन नहीं है। यह तो एक जीवित यंत्र है। इसीलिए इसकी अपनी निश्चित प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम किसी यंत्र से कोई काम लेते हैं तो उसे सुव्यवस्थित रखना आवश्यक है। उसे इस प्रकार रखा जाए कि वह अपना विशिष्ट कार्य अधिकतम क्षमता से कर सके। जो संगीतकार अपने वायलिन की ओर से लापरवाह है और उसे मिला कर नहीं रखता उतना ही मूर्ख है जितना कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह जो अपने यंत्र के लिए अनावश्यक रूप से परेशान रहता है और उसकी सजावट में ही अपना समय और शक्ति नष्ट करता रहता है।

पहले हमें स्थूल शरीर के स्वरूप और कार्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उसके पश्चात् ही हम इसे नियंत्रित और शुद्ध करने तथा जीवात्मा के कार्य के लिए इसे एक संवेदनशील यंत्र बनाने की विधियों पर विचार कर सकेंगे। जिसे हम किसी विशिष्ट कार्य के लिए नियंत्रित और प्रशिक्षित करना चाहते हैं उसे पहले यथासम्भव अच्छी तरह समझ और जान तो लें। घोड़ा साधने वाला घोड़े के स्वभाव को अच्छी तरह जान लेता है। इस ज्ञान की सहायता से वह आसानी से उसे काबू में ले आता है और सामान्य कार्य के लिए उसका उपयोग कर पाता है। यदि शिक्षक बालक की उभरती हुई क्षमताओं को सही दिशा देना चाहता है तो उसे बालक के स्वभाव को अच्छी तरह जानना ही चाहिए। इसी प्रकार यदि हम अपने स्थूल शरीर को अपने कार्य के लिए एक कुशल यंत्र बनाना चाहते हैं जो पूर्णतः हमारे नियंत्रण में हो, तो हमें उसे अच्छी तरह जानना और समझना ही होगा।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहली आवश्यकता यह है कि इसकी संरचना और इसके आन्तरिक गठन का सामान्य ज्ञान प्राप्त किया जाए। शरीर-विज्ञान की किसी भी प्रारम्भिक पुस्तक से इसकी आन्तरिक संरचना की पर्याप्त जानकारी मिल जाएगी और इसकी कार्य-पद्धति के बारे में लोगों की बहुत-सी भ्रान्त धारणाएँ दूर हो जाएँगी। बहुत-से समझदार लोग भी अपने शरीर के बारे में अत्यन्त प्रारम्भिक बातें भी नहीं जानते। यदि आप उनसे पूछें कि जिगर किस ओर है तो वे शायद निश्चित रूप से न बता पाएँ। वे सूर्य की संरचना और उसके तत्त्वों की सही जानकारी दे सकेंगे। वे कार के इंजन के बारे में सब कुछ जानते हैं। परन्तु इस पृथ्वी पर अपने जीवन-काल में जिस स्थूल शरीर से उन्हें काम लेना है उसके बारे में वे अनभिज्ञ हैं। यह दुःख की बात है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली अनावश्यक बातों के सम्बन्ध में व्यर्थ के ज्ञान से तो हमारा मस्तिष्क भर देती है परन्तु जीवन में जो सर्वाधिक महत्त्व की बातें हैं उन्हें प्रायः पूर्णतः छोड़ दिया जाता है।

स्थूल शरीर की आन्तरिक संरचना के इस ज्ञान का सबसे महत्त्व-पूर्ण परिणाम यह होगा कि हम बड़ी सरलता से इसे अपने से भिन्न देख सकेंगे। हमें यह बोध होगा कि हम शरीर नहीं हैं। शरीर तो हमारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक यंत्र मात्र है। यदि हम शरीर के केवल बाह्य स्वरूप को जानते हैं तो अपने आपको शरीर मानने की सम्भावना ही अधिक है। यह सम्भावना अपेक्षाकृत कम हो जाती है यदि हम अपने मन में इसके वास्तविक स्वरूप को देख सकें। यह तो आधुनिक औद्योगिक संयंत्रों से भी अधिक जटिल और कठिन कार्य करने वाली एक जीवित मशीन है।

हमारा अगला कार्य स्थूल शरीर के कार्य को समझ लेना है। यह एक यंत्र तो है परन्तु इसका उपयोग क्या है? इस यंत्र की सहायता से जीवात्मा भौतिक जगत् के सम्पर्क में आता है। धीरे-धीरे और विकास की लम्बी प्रक्रियाओं द्वारा सौरमंडल में कार्यरत दैवी शक्तियों ने इस यंत्र को विकसित और पूर्ण किया है। इसकी ही सहायता से जीवात्मा भूलोक की विषय-वस्तुओं और दृश्यों के सम्पर्क में आता है तथा उनमें परिवर्तन भी ला पाता है। स्थूल शरीर की विकास-प्रक्रिया में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ धीरे-धीरे विकसित हुईं। इनकी सहायता से जीवात्मा भौतिक जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है तथा कर्मेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत् में परिवर्तन लाता है। स्थूल शरीर की विकास-प्रक्रिया में ये इन्द्रियाँ क्रमश: विकसित हुई हैं।

भौतिक जगत् के ज्ञान के लिए हमें इन ज्ञानेन्द्रियों पर कितना निर्भर रहना पड़ता है इसे एक साधारण-सा प्रयोग करके देखा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति एक-एक करके अपनी इन्द्रियों का मार्ग यथासम्भव बन्द कर दे तो भौतिक जगत् से उसका सम्पर्क धीरे-धीरे कम होता जाएगा और सभी पाँचों मार्ग बन्द हो जाने पर उसका भौतिक जगत से सम्पर्क समाप्त हो जाएगा। तब केवल शेष रह जाएगा कल्पना द्वारा निर्मित मानसिक प्रतिबिम्ब या भौतिक जगत् के सम्पर्क से प्राप्त पूर्वानुभवों की स्मृतियाँ।

इस दृष्टि से स्थूल शरीर आसानी से लाने-ले-जानेवाला छोटा-सा यंत्र मात्र है जो बेतार के तार से समाचार भेजने और प्राप्त करने के दोनों ही कार्य करता है। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से यह भौतिक जगत् के प्रकाश, ध्वनि आदि के कम्पन ग्रहण करता है और इन कम्पनों को अपने अन्दर ले जाता है। इस प्रकार भौतिक जगत् की विषय-वस्तुओं से परिचित होना जीवात्मा के लिए सम्भव हो पाता है। स्थूल शरीर अन्तर में विराजित जीवात्मा से प्रेरक संवेग और विचार प्राप्त करता है और कर्मेन्द्रियों के माध्यम से इन प्रेरक संवेगों और विचारों को बाह्य जगत् को भेजता है। इस छोटे-से यंत्र को हम अपने दो पैरों पर लिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फिरते हैं और आवश्यकतानुसार भौतिक जगत् के विभिन्न भागों से अपना सम्पर्क स्थापित करते हैं। परन्तु फिर भी, अपने आपको स्थूल शरीर ही समझने की हमारी आदत इतनी पक्की हो गई है कि "मैं यह कर रहा हूँ", "मैं वहाँ जा रहा हूँ" कहने के स्थान पर यदि हम ऐसी भाषा का प्रयोग करें जो वास्तविक तथ्यों के अधिक अनुरूप हो और कहें "मैं अपने शरीर से यह करा रहा हूँ", "मैं अपने शरीर को वहाँ ले जा रहा हूँ" तो हमारे कानों को यह अजीब-सा लगेगा।

स्थूल शरीर की संरचना को समझने में गुह्य-विद्या का योगदान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और हम अब उसी पर विचार करेंगे। स्थूल शरीर के सम्बन्ध में लगातार दो शताब्दियों तक अनुसंधान के परिणाम-स्वरूप हमारे आधुनिक वैज्ञानिक उसके बारे में अत्यन्त ही विस्तृत सूचना देने में समर्थ हो सकें हैं। प्रत्येक माँस-पेशी, हड्डी, स्नायु, नाड़ी और रक्तवाहिनी की अच्छी तरह जाँच करके उनका वर्गीकरण कर लिया गया है। विभिन्न रस-प्रक्रियाओं की जानकारी प्राप्त कर ली गई है। इतना अधिक कार्य कर लेने पर भी, अपने परम्परागत भौतिक दृष्टि-कोण के कारण, वे स्थूल शरीर के आधे से भी अधिक भाग को पूर्णतः छोड़ गये हैं। गुह्य-विद्या साहित्य में उस भाग को छाया या ईथरीय शरीर या वेदान्त-भाषा में प्राणमय कोष कहते हैं। वैज्ञानिकों ने जिस स्थूल शरीर या अन्नमय कोष का अनुसंधान किया है और जिसे हम अपनी आँखों से देख सकते हैं वह भौतिक जगत् के निचले तीन खण्डों के ठोस, तरल और वाष्पीय पदार्थों से बना है। भौतिक जगत के इन तीन खण्डों के अतिरिक्त चार खण्ड और भी हैं। इन खण्डों का पदार्थ अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म है और ठोस, तरल और वाष्पीय पदार्थों में भी अन्तर्व्याप्त है। वैज्ञानिक अभी इनके विषय में कुछ नहीं जानते। स्थूल शरीर का सूक्ष्म या ईथरीय भाग इन चार खण्डों के पदार्थों से निर्मित हुआ है। इसे छाया या ईथरीय प्रतिरूप (इथरिक डबल) कहते हैं। ईथरीय इसलिए क्योंकि इन चार श्रेणियों के सूक्ष्म पदार्थ को 'ईथर' कहा जाता है। छाया या प्रतिरूप इसलिए कि यह सूक्ष्म शरीर बिल्कुल स्थूल शरीर के ही समान और उसकी प्रतिच्छाया है, यद्यपि स्थूल शरीर के सभी ओर से यह सूक्ष्म शरीर तीन इंच आगे निकला रहता है। छाया शरीर को चेतना का एक अलग कोष नहीं समझना चाहिए। यह तो स्थूल शरीर का पूरक है और इन दोनों को मिलाकर ही सम्पूर्ण स्थूल शरीर बनता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छाया शरीर प्राण के वाहक के रूप में कार्य करता है। प्राण स्थूल शरीर की क्रियाओं को विभिन्न प्रकार से संचालित और नियंत्रित करने वाली शक्ति है। यह शक्ति सूर्य से प्राप्त होती है। तिल्ली के पास स्थित चक्र इस शक्ति में समाहित विभिन्न अंशों को अलग-अलग करता है। फिर इन विभिन्न प्रकार के प्राणों की धाराएँ शरीर के विभिन्न अंगों में अपना विशिष्ट कार्य करने के लिए सुनिश्चित नलिकाओं द्वारा उन अंगों तक पहुँचाई जाती हैं। सूर्य से प्राप्त और छाया शरीर द्वारा विशिष्ट उपयोग के लिए तैयार की गई यह प्राण शक्ति ही स्थूल शरीर को जीवित रखने वाली समस्त जीवनदायिनी शक्तियों का स्रोत है। भोजन को इस शक्ति का स्रोत मानना और इस मान्यता के आधार पर पोषण और चिकित्सा की दोषपूर्ण पद्धति का निर्माण करना विज्ञान की भूल है। स्थूल शरीर को भोजन पानी की आवश्यकता तन्तुओं की मरम्मत करने, गर्मी पहुँचाने तथा कुछ अन्य कार्यों के लिए तो होती है परन्तु जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करने के लिए नहीं। इस वात को ध्यान में रखना आवश्यक है क्योंकि भोजन के सम्बन्ध में हमारे गलत विचार हमारे मन में निराधार भ्रम और शंकाएँ उत्पन्न करते हैं और अतिभोजन की वुरी आदत से (जो अधिकांश प्रचलित रोगों का कारण है) छुटकारा पाना हमारे लिए कठिन हो जाता है। इस रोचक विषय के अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुह्य-साहित्य में बहुत-सी पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनसे, यदि कोई चाहे तो, सभी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है।

स्थूल शरीर की संरचना का विचार करते समय ऐसे अंगों और केन्द्रों के कार्यों की चर्चा भी आवश्यक है, जिनका उल्लेख इस शरीर के सम्बन्ध में प्रायः गुह्य-साहित्य में किया जाता है। मानवीय विकास की अन्तिम अवस्थाओं में इन अंगों का कार्यबराबर बढ़ता ही जाता है क्योंकि उस समय निम्न और उच्च चेतना के बीच सम्पर्क अधिक घनिष्ठ हो जाता है और स्थूल शरीर जीवात्मा का केवल एक यंत्र वन जाता है।

पहले हम दो सुपरिचित अंगों को लें—तृतीय नेत्र ग्रन्थि या ब्रह्म-रंध्र (पीनियल ग्रन्थि) और पीयूषिका पिण्ड (पीट्यूटरी बॉडी)। इनका स्थान मस्तिष्क में है। शरीर-शास्त्री इनके वास्तविक कार्यों के विषय में बहुत-ही कम जानते हैं। जीवशास्त्री इन अंगों को प्रारम्भिक मानते हैं। उनके अनुसार विकास की पूर्वावस्थाओं में इनका कार्य पूरा हो चुका है और वर्तमान अवस्था में इनका कार्य स्थूल शरीर के विकास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और रक्षण के लिए कुछ रस पहुँचाने मात्र का रह गया है। इन अंगों का वास्तविक कार्य केवल गुह्यविदों को ही ज्ञात है। उनके अनुसार मानवीय विकास की आगे की अवस्था में इनका कार्य सर्वाधिक महत्व का होगा। पीयूषिका पिण्ड वह अंग है जो बुद्धि और उच्च मनोमय लोकों के कम्पनों को स्थूल मस्तिष्क में लाने के लिए द्वार का कार्य करता है और गुह्य-विद्या के प्रत्येक उच्च साधक को इसे अनुप्राणित करने का प्रशिक्षण लेना ही पड़ता है। तृतीय-नेत्र ग्रन्थि के माध्यम से विचारों का संक्रमण होता है। इसके अनुप्राणित हो जाने पर मनुष्य अपने मस्तिष्क से कोई भी विचार दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में भेज सकता है।

हम यहाँ अत्यन्त संक्षेप में, चक्रों के कार्य का भी उल्लेख कर दें। इनके विषय में हमें योग-साहित्य में बहुत-कुछ पढ़ने को मिलता है। असामान्य दृष्टि से देखने पर छाया शरीर में विभिन्न स्थानों पर चक्र दिखाई देंगे। इन चक्रों के पदार्थ में एक मन्थन क्रिया बड़ी तीव्र गति से होती रहती है। ये चक्र देखने में प्रकाशयुक्त होते हैं और विभिन्न संख्या वाले रंगीन खण्डों में विभक्त प्रतीत होते हैं। इन खण्डों को 'दल' कहा जाता है। ये चक्र स्थूल और वासना शरीर के बीच सम्पर्क-बिन्दुओं का कार्य करते हैं। इन सम्पर्क-बिन्दुओं पर विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ वासना शरीर से स्थूल शरीर में प्रवेश करती हैं। इन चक्रों में दिखने वाली विशिष्ट मन्थन-क्रिया का कारण उच्च स्तरों से प्रवाहित होने वाली शक्तियों का तीव्र प्रवाह है। इन चक्रों के अनेक कार्य हैं। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण है चेतना के लिए एक पुल का कार्य करना। इनके अनुप्राणित हो जाने पर भौतिक जगत् और भुवर्लोक के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। इन चक्रों के अनुप्राणित और क्रियाशील हो जाने पर असामान्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है और भुवर्लोक के समस्त अनुभवों की स्पष्ट और सही स्मृति मस्तिष्क में लाना सम्भव हो जाता है। तब, व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनों लोक एक हो जाते हैं मानो जाग्रत चेतना के ही अंग हों।

ये चक्र कुंडलिनी की सहायता से अनुप्राणित होते हैं। कुंडलिनी एक रहस्यमयी शक्ति है। इसका स्थान मेरुदण्ड के मूल में है और यह योगाभ्यास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। योगाभ्यास की कुछ क्रियाओं द्वारा—जिसका प्रयत्न बिना सुयोग्य गुरु के प्रत्यक्ष निर्देशन के कभी करना ही नहीं चाहिए—यह शक्ति जाग्रत की जाती है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुषुम्ना से होकर ऊपर की ओर जाती है। सुषुम्ना मेरुदण्ड में एक आन्तरिक मार्ग है। जैसे-जैसे कुन्डलिनी एक के बाद एक चक्र में होकर जाती है यह उन्हें अनुप्राणित करती है और साधक के लिए भुवर्लोक के सम्पर्क में आना सम्भव हो जाता है। परन्तु आत्मबोध तक ले जाने वाले शिष्यत्व-पथ के अन्तिम चरणों में ही ये अभ्यास किए जाते हैं। नया साधक इन अभ्यासों को करने का प्रयत्न भी न करे क्योंकि वह स्थूल शरीर के लिए खतरनाक हो सकता है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : ५

स्थूल शरीर-नियंत्रण, परिशुद्धि और संवेदनशीलता

पिछले अध्याय में स्थूल शरीर की संरचना और कार्यों का विवेचन करते समय यह स्पष्ट किया गया था कि इसका प्रमुख कार्य भौतिक जगत् में जीवात्मा के एक यन्त्र के रूप में कार्य करना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम अन्ततः पूर्णत्व तक ले जाने वाले पथ के पथिक हैं तो हमें अपने इस शरीर को इस प्रकार साधना और विकसित करना होगा कि वह इस कार्य को यथासम्भव कुशलता से कर सके। यह सच है कि भौतिक जगत् के स्वरूप में ही कुछ ऐसी सीमाएँ निहित हैं जिन्हें दूर नहीं किया जा सकता। परन्तु इन सीमाओं के होते हुए भी जीवात्मा के यंत्र के रूप में इस शरीर को, जैसा यह अब है, उससे कहीं अधिक कुशल और सक्षम बनाया जा सकता है। यह कहा जाता है कि सुदूर भविष्य में भौतिक जगत् का पदार्थ अब की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित हो गया होगा। उस समय फिर ऐसे स्थूल शरीर उपलब्ध होंगे जो उच्च लोकों से प्राप्त कम्पनों को ग्रहण करने में कहीं अधिक सक्षम होंगे। उस समय के सिद्ध-पुरुष अपने देवत्व को, अब की अपेक्षा कहीं अधिक अपनी स्थूल चेतना में ला सकेंगे। परन्तु उससे हमें तनिक भी निरुत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है। जिन सीमाओं में हम कार्य कर रहे हैं उनमें भी उन्नति और प्रगति की अपार सम्भावनाएँ उपलब्ध हैं। हम से केवल इतनी ही आशा की जा सकती है कि जो कुछ वर्तमान में प्राप्त है उसका हम सर्वोत्तम उपयोग करें।

यह तो प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि हम इस पुस्तक में आत्म-साधना की समस्या का विवेचन सामान्यतः नहीं वरन् एक निश्चित उद्देश्य प्राप्त करने के लिए कर रहे हैं और वह उद्देश्य है आत्मानुभूति। अतः जो कुछ भी कहा जाएगा वह इस विशिष्ट दृष्टिकोण से ही कहा जाएगा। इससे इस विषय का क्षेत्र भले ही सीमित हो जाए परन्तु उसकी उपयोगिता सम्भवतः बढ़ जाएगी।

स्थूल शरीर के सम्बन्ध में पहली समस्या इसे अपने नियंत्रण में लाने की है। इस पर थोड़ा नियंत्रण प्राप्त किए बिना यह सम्भव ही नहीं है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि इसे शुद्ध किया जा सके या भीतर से आने वाले कम्पनों को ग्रहण करने के लिए इसे अत्यन्त संवेदनशील बनाया जा सके। हमें याद रखना चाहिए कि स्थूल शरीर एक जीवित यंत्र है। यह मोटरकार या वायलिन की तरह निर्जीव यंत्र नहीं है जो केवल भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र के नियमों का पालन करता रहे। शरीर में कुछ तो ऐसा है जिसे अर्द्ध-चेतना कहा जा सकता है। इसकी अपनी निश्चित आदतें और लतें हैं। इसमें कुछ ऐसा है जो हमारी संकल्प शक्ति से मिलता-जुलता है। इसीलिए इसकी कार्य-विधि को बदलने वाले हमारे प्रयत्नों का यह विरोध कर सकता है और करता भी है। यदि हमने कभी भी अपनी आदतें और जीवन-पद्धति को बदलने का प्रयत्न किया हो तो स्थूल शरीर के इस विरोध का अनुभव हम सबको हुआ ही होगा। यह सच है कि अपनी जीवन-पद्धति बदलने के प्रयत्न में हमें सबसे अधिक कठिनाई का सामना स्थूल शरीर के कारण नहीं, वरन् वासना और मनोमय कोषों के कारण होता है। अधिकांश परिस्थितियों में तो स्थूल शरीर एक यंत्र मात्र होता है। इसी के माध्यम से हमारी वासना और मनोमय कोष अपना अभीष्ट प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। हमारी वासनाओं और विचारों में उत्पन्न होने वाले कारणों को छोड़ देने पर भी बहुत कुछ शेष रहता है जिसका उद्भव हमारे स्थूल शरीर में ही होता है। इसीलिए अपने निम्न स्वभाव को वश में लाने का प्रयत्न करते समय हमें स्थूल शरीर पर भी ध्यान देना ही होगा।

स्थूल शरीर को अपने नियंत्रण में लाने के लिए पहला कार्य यह है कि हम अपनी चेतना में अपने आपको इस शरीर से अलग करें तथा यथासम्भव यह अनुभव करें कि हम इस शरीर से भिन्न हैं, इसके स्वामी हैं। स्थूल शरीर के विषय में जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता की चर्चा करते समय यह कहा गया था कि इस ज्ञान का एक परिणाम यह होगा कि अपने मन में अपने को इस शरीर से पृथक् देख पाने की थोड़ी-बहुत क्षमता हमें प्राप्त हो जाएगी। इस पृथक्करण और शरीर से अपने को भिन्न समझ पाने की शक्ति का विकास परिश्रम और अभ्यास द्वारा करना चाहिए। यह अभ्यास तब तक जारी रहना चाहिए जब तक कि हमें दो अस्तित्वों का स्पष्ट भान न हो जाए। हम अपने आपको अपना शरीर उसी तरह न समझें जैसे हम अपने आपको वह घोड़ा नहीं समझते जिस पर हम सवारी करते हैं और जिसे हम अपने कार्य के लिए उपयोग में लाते हैं। हम अपने घोड़े को अच्छी तरह खिलाते हैं। हम उसे ठीक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवस्था में रखते हैं और उसकी अपनी मामूली-सी सनक भी पूरी कर लेने देते हैं। परन्तु हम उसे अपने कार्य में बाधक नहीं बनने देते और जो कुछ आवश्यक होता है उससे सदैव करा ही लेते हैं।

स्थूल शरीर के प्रति हमारा दृष्टिकोण भी इसी प्रकार का होना चाहिए। हम यह स्वीकार करें कि वह एक जीवित वस्तु है। उसकी अपनी सनक और लतें हैं। आराम करने की उसकी इच्छा होना स्वाभाविक है। जिस बात का वह अभ्यस्त नहीं है उससे वह बचना भी चाहेगा। परन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण केवल इस प्रकार सोचने मात्र से नहीं बन जाएगा। स्थूल शरीर पर निरन्तर कड़ा अनुशासन रखने पर ही यह सम्भव हो सकेगा। इस अनुशासन के बिना हम अपने आपको शरीर से पृथक् समझ पाने की क्षमता विकसित ही नहीं कर सकते और अनजाने ही हम उसके दास बने रहेंगे। परन्तु इस अनुशासन का अर्थ यह भी नहीं है कि हम अति के दूसरे छोर पर पहुँच जाएँ और शरीर को घोर कष्ट दें और उस पर अनावश्यक दबाव डालें जैसा कि कुछ गुमराह फ़कीर और धार्मिक व्यक्ति करते हैं। ये उग्र साधन पूर्णतः गलत हैं और भगवद्गीता तथा वास्तव में सभी महान् गुरुओं ने हमें इनके प्रति सचेत किया है। स्थूल शरीर की गलत आदतों को बदलने में संकल्प-शक्ति के दबाव तथा उसके तौर-तरीके बदलने में धैर्य और समझ से काम लेने पर उसे सहजता से नियंत्रित किया जा सकता है। बुद्धिमत्तापूर्वक किए गए विभिन्न प्रकार के तपों का उद्देश्य स्थूल शरीर पर इस प्रकार का नियंत्रण स्थापित करना तथा इसे जीवात्मा का आज्ञाकारी सेवक बनाना है ताकि जो कुछ भी कार्य इससे कराना है उसे यह अच्छी तरह और बिना किसी विरोध के कर सके। इस प्रकार के नियंत्रण के लिए प्रत्येक साधक अपने अलग साधन अपना सकता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ भिन्न हैं। जो एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है वही दूसरे के लिए अनावश्यक हो सकता है।

यदि स्थूल शरीर पर आवश्यक नियंत्रण प्राप्त हो गया और हम उससे जो चाहें करा सकते हैं तो फिर हमारा अगला कार्य क्या होगा? हमें उसे परिशुद्ध करना होगा। परिशुद्धि का अर्थ क्या है? स्थूल शरीर के ही सम्बन्ध में नहीं, हमारे वासना और मनोमय कोषों के सम्बन्ध में भी, परिशुद्धि या पवित्रता का अर्थ है हमारे शरीर में ऐसे तत्वों की, पदार्थों के सम्मिश्रण की, प्रधानता हो जानी चाहिए जो उच्च कम्पनों को सरलता से ग्रहण कर सकें परन्तु निम्न कम्पनों को ग्रहण ही न कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi.

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकें। सभी लोकों पर विभिन्न पदार्थों के सम्मिश्रणों का सुनिश्चित और विशिष्ट सम्बन्ध एक प्रकार की कम्पनशीलता से होता है। इस प्रकार एक विशिष्ट श्रेणी का पदार्थ कुछ सीमित कम्पनों को ही ग्रहण कर सकता है, उनके अतिरिक्त नहीं। विज्ञान के क्षेत्र में हम इस बात से अच्छी तरह परिचित हैं। हमें केवल इस सिद्धान्त का सामान्य उपयोग अपने शरीरों में विद्यमान पदार्थ के सम्बन्ध में करना है। पदार्थ और कम्पन के बीच इस सम्बन्ध से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुल मिला-कर हमारे शरीर की कम्पन क्षमता—और इस समय हम केवल स्थूल शरीर की ही बात करेंगे—उसमें विद्यमान विभिन्न श्रेणी के पदार्थों के गुण और अनुपात द्वारा निश्चित एवं सीमित होती है। यदि शरीर में अच्छे पदार्थों के सम्मिश्रण की प्रधानता है तो वह उच्च कम्पनों को अधिक सरलता से ग्रहण कर सकता है और निम्न कम्पनों का उसमें प्रवेश कठिन होगा। जिस शरीर में निम्न-स्तरीय सम्मिश्रणों का प्राधान्य है वह निम्नस्तरीय विचारों और भावनाओं को आसानी से तुरन्त ग्रहण कर लेगा परन्तु उच्च कम्पनों को ग्रहण करने में असमर्थ होगा।

इसीलिए परिशुद्धि का अर्थ केवल इतना ही है कि शरीर में से निम्नस्तरीय पदार्थ को धीरे-धीरे निकाल कर अथवा उसे कम करके अच्छे प्रकार के पदार्थ का अनुपात शरीर में बढ़ाया जाए। यह याद रखना भी उचित होगा कि जीवात्मा स्थूल शरीर का उपयोग स्नायु-मंडल के माध्यम से ही कर सकता है। एक प्रकार से तो सारा शरीर ही जीवात्मा का यंत्र है परन्तु स्नायु-मंडल एक विशिष्ट यंत्र है। इसके माध्यम से भावनाएँ, विचार और जीवात्मा की अन्य उच्च शक्तियाँ भौतिक जगत् में व्यक्त और स्थूल चेतना में प्रकट होती हैं। अपनी जटिल संरचना के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर स्नायु-मंडल का पोषण करता है तथा उसे ठीक अवस्था में रखता है। स्थूल शरीर में जीवात्मा के कार्य कर पाने में सबसे बड़ी बाधा स्नायु-मंडल का अव्यवस्थित हो जाना ही है। मस्तिष्क में एक थक्का बन जाने से सारा शरीर पूरी तरह गतिहीन हो सकता है और शरीर के माध्यम से होने वाला जीवात्मा का सारा कार्य रुक सकता है। जिस स्नायु-मंडल के कणों से उत्पन्न कम्पनों के कारण चेतना समस्त कार्य कर पाती है वह स्नायु-मंडल अपने पोषण के लिए सम्पूर्ण शरीर पर निर्भर रहता है। स्थूल शरीर की गुणवत्ता के अनुरूप ही स्नायुमंडलीय पदार्थों की गुणवत्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होगी और फलतः विभिन्न प्रकार के कम्पनों के प्रति संवेदनशीलता भी उसी के अनुरूप होगी।

जो कुछ हम खाते-पीते हैं उसी से हमारे स्थूल शरीर का निर्माण होता है। स्वाभाविक है कि इस आहार के गुणों पर ही बहुत कुछ शरीर की गुणवत्ता निर्भर करेगी। विभिन्न प्रकार के आहारों के विषय में ज्ञान तथा व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर गुह्यविदों ने आहार को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया है। ऐसा करते समय शरीर की संवेदन-क्षमता पर प्रत्येक का क्या प्रभाव पड़ेगा इसको भी उन्होंने ध्यान में रखा है। सुपरिचित विभाजन के अनुसार आहार की तीन श्रेणियाँ हैं, तामसिक, राजसिक और सात्विक। तामसिक आहार से आलस्य में वृद्धि होती है, राजसिक आहार से क्रियाशीलता आती है और सात्विक आहार से सामंजस्य और मधुरता उत्पन्न होती है। आध्यात्मिक ज्ञान के साधक को अन्तिम श्रेणी में से ही यथासम्भव, अपने आहार का चयन करना चाहिए।

यहाँ चेतावनी के रूप में एक बात कह देनी आवश्यक है। अपने आहार के इस चयन-सिद्धान्त में अति होने की सम्भावना रहती है और बड़ी अविवेकपूर्ण और निश्चित परिपाटी के अनुसार इसका उपयोग किया जा सकता है। कुछ हिन्दू तो इसे अन्ध-श्रद्धा का सिद्धान्त बना लेते हैं। यह देखकर दुःख होता है कि जीवन को आध्यात्मिक बनाने के उनके प्रयत्न प्रायः चौके-चूल्हे तक ही सीमित रह जाते हैं। शरीर की परिशुद्धि तो लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र है। अकेले शरीर की शुद्धि से आध्यात्मिकता उसी प्रकार नहीं आ सकती जैसे केवल एक अच्छे वायलिन से मधुर संगीत उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि परिशुद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिक जीवन के अन्य नियमों का पालन नहीं किया जाता तो यह प्रायः निरर्थक ही है।

परिशुद्धि के पश्चात् स्वस्थता अगली महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। अच्छे स्वास्थ्य का अर्थ है, शरीर के सभी महत्त्वपूर्ण अंग सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य करें। इससे स्वस्थ अनुभव करने की भावना तो होती ही है, साथ ही इससे बिना थकान अनुभव किये काफी समय तक शारीरिक और मानसिक कार्य करने की क्षमता भी प्राप्त होती है। जिस व्यक्ति का स्वास्थ्य सचमुच अच्छा है उसे अपने शरीर का भान ही नहीं होता। इसके विपरीत, बराबर अस्वस्थ रहने वाले व्यक्ति का ध्यान हर समय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी न किसी अंग में पड़ा रहता है। रोग मन में निरन्तर विक्षेप उत्पन्न करता रहता है। इसलिए योग-मार्ग में इसे एक बाधा समझा जाता है। योग-पथ पर चलने के इच्छुक पथिक को रोग विधिवत् दूर करना ही होगा। बहुत बार तो रोग आन्तरिक द्वन्द्व और आत्मसंयम के अभाव का परिणाम होता है और इन कारणों को दूर करने पर रोग भी दूर हो जाता है। परन्तु कुछ अवस्थाओं में रोग पूर्व कर्मों का फल होता है और अत्यधिक संयम रखने तथा नियमित जीवन बिताने पर भी व्यक्ति अस्वस्थ बना रहता है। ऐसी स्थिति में भी साधक को प्रसन्नतापूर्वक रहना चाहिए परन्तु उसे दृढ़ता के साथ भौतिक जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण और कड़ा संयम बनाये रखना चाहिए। अस्वस्थता की स्थिति कभी न कभी तो समाप्त होगी ही और तब तक वह भावी स्वस्थ भौतिक जीवन का सही आधार तैयार कर लेगा।

स्थूल शरीर को जीवात्मा का एक उपयुक्त यंत्र बनाने तथा स्थूल चेतना में जीवात्मा के अपने लोकों की कुछ झलक लाने की समस्या पर विचार करते समय हम अब एक बात पर विचार और करेंगे। हम देख चुके हैं कि स्थूल शरीर की परिशुद्धि आवश्यक है। परन्तु परिशुद्धि मात्र पर्याप्त नहीं है। शरीर और विशेषकर स्नायुमण्डल, उच्च कम्पनों और शक्तियों को ग्रहण करने में समर्थ हो सके इसके लिए कुछ और भी आवश्यक है। इस गुण को हम संवेदनशीलता कह सकते हैं। परिशुद्धि तो पदार्थ के स्वरूप से सम्बन्धित है परन्तु संवेदनशीलता का सम्बन्ध कम्पनों को ग्रहण करने की क्षमता से है। संगीत के क्षेत्र से एक उदाहरण लेकर हम इस अन्तर को अच्छी तरह समझ सकते हैं। किसी तार से उत्पन्न स्वर-संगीत उस तार के प्रकार और उसकी कसावट पर निर्भर करता है। लोहे, ताँबे या प्लॉटिनम आदि प्रकार के तारों से हम विभिन्न प्रकार की ध्वनि उत्पन्न कर सकते हैं क्योंकि विभिन्न प्रकार के तारों की ध्वनि-विशेषताएँ भिन्न होती हैं। तारों से प्राप्त स्वर-संगीत उनकी कसावट पर भी निर्भर करता है। तार जितने अधिक कसे होंगे तान उतनी ही अच्छी निकलेगी। इसलिए स्नायुमण्डल की परिशुद्धि तथा अच्छे पदार्थों से उसकी संरचना मात्र से हमारा उच्च जीवन से सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता। सूक्ष्म या उच्च कम्पनों को ग्रहण कर पाने के लिए हमारा स्नायुमण्डल संवेदनशील भी होना चाहिए। यदि केवल परिशुद्धि ही पर्याप्त होती तो शुद्ध और संवेदनशील शरीरों वाले माता-पिता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से उत्पन्न तथा जन्म से ही शुद्ध आहार द्वारा पोषित किसी भी बालक के लिए उच्च जीवन से सम्पर्क स्थापित करना अत्यन्त सरल होना चाहिए था। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता क्योंकि उस बालक के स्नायुमण्डल में वह विशिष्ट क्रिया हुई ही नहीं है जो उसे सूक्ष्म कम्पनों के लिए संवेदनशील और ग्रहणशील बनाती है।

स्नायुमण्डल की संवेदनशीलता ध्यान से प्राप्त होती है। उसके लिए मन की तीव्र एकाग्रता और जीवात्मा की उत्कृष्ट आकांक्षा आवश्यक है। तभी निम्न कोषों की समस्त शक्तियाँ उच्च 'स्व' की ओर प्रवाहित होने लगती हैं और इस प्रकार सूक्ष्म शक्तियों का अन्तःप्रवाह स्थूल मस्तिष्क में सम्भव हो पाता है। सामान्य धारणा और ध्यान के प्रारम्भिक अभ्यासों से धीरे-धीरे मन का अधिकाधिक कड़ा संयम और नियंत्रण होने लगता है। इसे ही योग कहते हैं। निम्न चेतना का अन्ततः उच्च में विलय ही इसकी परिसमाप्ति है।

लम्बे ध्यान के परिणाम-स्वरूप स्थूल शरीर की संरचना में क्या परिवर्तन होते हैं इसका विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। स्थूल शरीर को सूक्ष्म कम्पनों के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए यह ज्ञान आवश्यक भी नहीं है। परन्तु इतना अवश्य ज्ञात है कि पिछले अध्याय में जिन अंगों और केन्द्रों की ओर संकेत किया गया था वे इस प्रक्रिया से सक्रिय हो जाते हैं तथा साथ ही स्नायुमण्डल के परमाणुओं में प्रवाहित होने वाली शक्तियों में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है। इन बातों के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक तो यह समस्या अत्यन्त ही जटिल है और दूसरे शरीर को संवेदनशील बनाने के लिए उसकी कार्य-विधि को जानना आवश्यक नहीं है।

अतः यह स्पष्ट है कि स्थूल शरीर को एक ऐसा संवेदनशील यंत्र बनाना सरल काम नहीं है जिसके माध्यम से जीवात्मा भौतिक जगत् में निर्बाध गति से कार्य कर सके। जिन पदार्थों से शरीर की संरचना हुई है उनमें आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता होगी। यही कारण है कि एक सच्चा गुह्यविद् बनने के लिए इतनी लम्बी और कड़ी साधना आवश्यक होती है। इसीलिए इस कार्य में वे ही सफल हो पाते हैं जिनमें असाधारण धैर्य और लगन होती है। यह सच है कि इन परिवर्तनों का लाना कुछ लोगों को सरल प्रतीत हो। परन्तु इसका कारण यह है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन कार्यों को वे अपने पूर्व के जीवनों में कर चुके हैं और अब जो सरल प्रतीत होता है वह वस्तुतः पहले की गई प्रगति की पुनरावृत्ति मात्र है। प्रत्येक को वही मिलता है जिसका वह अधिकारी है और जिसके लिए उसने प्रयत्न किया है। प्रकृति के कृपा-पात्र व्यक्ति तो कोई होते ही नहीं हैं।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : ६

वासना कोष के कार्य

हमारी सम्पूर्ण संरचना का अगला भाग वासना शरीर है। इस अध्याय में हम उसके कार्यों का अध्ययन करेंगे। यह दूसरे अध्याय में बताया जा चुका है कि परिधि से जीवन-केन्द्र की ओर बढ़ने पर स्थूल शरीर के पश्चात् यह अगला शरीर या कोष है। भुवर्लोक या वासना लोक के सातों उप-खण्डों के पदार्थों से यह शरीर बनता है। छाया शरीर में स्थित चक्रों के सक्रिय होने पर जब हमें असामान्य दृष्टि प्राप्त होती है तब हम भुवर्लोक के सम्पर्क में आने की क्षमता प्राप्त करते हैं तथा वासना शरीर में स्थित इन्द्रियों की सहायता से उस लोक की क्रियाओं को उसी प्रकार देख सकते हैं जैसें हम भौतिक इन्द्रियों से भौतिक जगत् को देखते हैं।

इस विषय का अध्ययन हम आत्म-साधना की दृष्टि से कर रहे हैं। इसलिए यहाँ वासना शरीर के स्वरूप और उसकी संरचना का वर्णन करना आवश्यक नहीं है क्योंकि थिओसॉफी की किसी भी प्रारम्भिक पुस्तक से इस बारे में जानकारी मिल सकती है। वासना शरीर की संरचना और उसकी कार्य-विधि के विस्तृत एवं सही ज्ञान की आवश्यकता हमें तब ही होती है जब हम उपयुक्त साधनों द्वारा अपनी असामान्य दृष्टि विकसित कर लें और चेतना के एक स्वतंत्र कोष के रूप में हमें भुवर्लोक पर इस शरीर का उपयोग करने की आवश्यकता हो। यहाँ तो केवल ऐसे तथ्यों और सूचनाओं का अध्ययन आवश्यक है जिनसे हमें वासना और भावनात्मक स्वरूप को समझ कर वासना शरीर को शुद्ध एवं नियंत्रित करने में सहायता मिले। वासनाओं या कामनाओं का नियंत्रण सबसे कठिन और आवश्यक कार्यों में से एक है। आत्मबोध के साधक को तो यह कार्य प्रारम्भ से ही करना होगा और निर्माण के द्वार तक पहुँचने पर ही यह पूर्ण होगा। हमारे कठिन परीक्षण और कष्ट तो अपने वासना स्वरूप से संघर्ष करते समय ही आते हैं। जिसने अपनी वासनाओं और कामनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है वह तो मुक्ति पथ पर बहुत आगे बढ़ चुका है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने जीवन में वासना, कामना, इच्छा या तृष्णा की भूमिका समझने के लिए हम पहले वासना शरीर के कुछ प्रारम्भिक कार्यों को देखें। इसका सरलतम कार्य पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त भौतिक जगत् के कम्पनों को संवेदनों में परिवर्तित करना है। इसके इस कार्य को प्रायः स्वीकार नहीं किया जाता। आधुनिक विज्ञान के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त कम्पन स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क के सम्बन्धित केन्द्रों तक पहुँचाए जाते हैं। वहाँ किसी रहस्यमय परिवर्तन के कारण ये चेतना में संवेदनों के रूप में दिखाई देते हैं। इस विषय में गुह्य-विद्या की शिक्षा कुछ भिन्न है क्योंकि अपनी व्यापक दृष्टि के कारण गुह्यविद् स्थूल मस्तिष्क के भी बहुत आगे तक इन कम्पनों को देख पाने में समर्थ हैं। जहाँ तक ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त कम्पनों को मस्तिष्क के सम्बन्धित केन्द्रों तक ले जाने का प्रश्न है गुह्य-विद् और शरीर-शास्त्री एक मत हैं। परन्तु अपने अनुसंधानों के आधार पर गुह्यविद् दृढ़तापूर्वक कहता है कि स्थूल मस्तिष्क से ये कम्पन पहले ईथरीय मस्तिष्क में आते हैं और फिर मस्तिष्क के ईथरीय केन्द्रों से वासना शरीर के सम्बन्धित केन्द्रों में पहुँचते हैं। वासना शरीर के केन्द्रों में पहुँचने के पश्चात् ही ये कम्पन संवेदनों के रूप में दिखाई देते हैं। संवेदन के समस्त अवयव वासना शरीर में स्थित हैं। इसलिए भौतिक कम्पनों को संवेदनों में परिवर्तित करना इस शरीर का एक प्राथमिक और महत्त्वपूर्ण कार्य है। वासना शरीर के जिन केन्द्रों के माध्यम से यह परिवर्तन होता है उन्हें वासना शरीर की ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं समझना चाहिए। इन ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग तो असामान्य दृष्टि और असामान्य श्रवण शक्ति द्वारा भुवर्लोक की बातों को जानने के लिए किया जाता है। भौतिक ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध तथा भौतिक कम्पनों को संवेदनों में परिवर्तित करने वाले ये केन्द्र तो एक अलग और स्वतंत्र समूह हैं और विकास-प्रक्रिया में अनुचारी स्नायु-मंडल के साथ-साथ बहुत पहले विकसित हुए।

अब हम इन परिवर्तन-क्रमों के दूसरे चरण को लेते हैं जिनके द्वारा शुद्ध भौतिक कम्पन अन्तश्चेतना तक पहुँचते हैं। इन संवेदनों में कुछ तो केवल संवेदन ही रहते हैं जो फिर मनोमय कोष में प्रतिबिम्बित होते हैं और मन में सामान्य बोध के रूप में प्रकट होते हैं। परन्तु कुछ संवेदनों में 'प्रिय' अथवा 'अप्रिय' होने का विशेष गुण होता है और मन में उनका ज्ञान प्रिय अथवा अप्रिय संवेदनों के रूप में होता है। ऐसे संवेदनों को भावनाएँ कहते हैं। परन्तु सुख या दुःख प्रकट होने की अवस्था तक भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संवेदन एक संवेदन मात्र होता है, भले ही इसे एक भिन्न नाम से पुकारें। इस प्रकार वासना शरीर का दूसरा कार्य संवेदनों में 'सुखकारिता' या 'दुःखकारिता' का गुण जोड़कर उन्हें सुखद या दुःखद भावनाओं में परिवर्तित कर देना है।

ऐसी अवस्था में एक आधारभूत, महत्त्वपूर्ण परिवर्तन चेतना में हो सकता है। सुखद अथवा दुखद भावना के साथ-साथ उस सुख का पुनः अनुभव करने की अथवा उस दुःख से वचने की एक चाह उत्पन्न हो सकती है। यही वासना का सरलतम और अत्यन्त ही प्रारम्भिक स्वरूप है। यह समझ लेना चाहिए कि जिस परिवर्तन के कारण आकर्षण या विकर्षण होता है वह वासना और मनोमय दोनों ही शरीर से सम्बन्धित है। वासना के इस प्रारम्भिक स्वरूप में भी मन की भूमिका स्मृति या प्रत्याशा के कारण होती है क्योंकि इनके विना तो वासना उत्पन्न हो ही नहीं सकती। हमारी विकास प्रक्रिया में भावनाओं और विचारों के बीच इस क्रिया-प्रतिक्रिया में ज्यों-ज्यों मानसिक कारणों का आधिक्य होता जाता है, वासनाएँ अधिकाधिक जटिल होती जाती हैं और हमारे जीवन में इनकी भूमिका भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। सभी प्रकार की वासनाओं की उत्पत्ति का पता लगाना तथा अपेक्षाकृत सरल घटकों में उनका विश्लेषण करना अत्यन्त ही रोचक मनोवैज्ञानिक अध्ययन होगा। परन्तु इस प्रश्न पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह चर्चा के वर्तमान विषय से सम्बन्धित नहीं है।

इस अपेक्षाकृत सूक्ष्म प्रश्न पर विचार करने तथा वासना की उत्पत्ति का पता लगाने का प्रयत्न हमने इसलिए किया है कि हम वासना के स्वरूप को समझ सकें और स्पष्ट रूप से यह जान सकें कि वासना पर नियंत्रण करने में हमें अपनी चेतना के इन परिवर्तन-क्रमों में रोक कहाँ लगानी चाहिए।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरण ले लें। मान लीजिए, मैं भोजन करता हूँ। भोजन का कोई एक पदार्थ मेरी जिह्वा के सम्पर्क में आता है, स्वाद-ग्रंथियों को प्रभावित करता है, भौतिक कम्पन प्रारम्भ होते हैं और अन्ततः ये कम्पन वासना शरीर में एक विशेष संवेदन के रूप में प्रकट होते हैं। यदि वह पदार्थ स्वादिष्ट है तो स्वाभाविक है कि संवेदन सुखद या प्रिय होगा। भोजन की समाप्ति पर वह संवेदन तो समाप्त हो जाएगा परन्तु उसी प्रकार का भोज्य-पदार्थ देखने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर अथवा विचार-संगति से उसकी स्मृति के कारण भविष्य में पुनः उसी प्रकार का संवेदन अनुभव करने की कामना उत्पन्न हो सकती है और इस प्रकार उस विशिष्ट भोज्य पदार्थ का फिर से रस लेने की मेरी इच्छा हो सकती है।

एक और उदाहरण लीजिए। मैं बाहर घूमने जाता हूँ. एक बाग में जाने पर एक विशिष्ट प्रकार की सुगंध मेरी घ्राणेन्द्रिय को आकर्षित करती है। मैं अपना मार्ग छोड़कर उस फूल की खोज करता हूँ जिससे वह सुगंध आ रही है। फिर मेरी इच्छा होती है कि उसी प्रकार का पेड़ मेरे अपने बाग में भी हो ताकि उस सुगंध के सुखद संवेदन का मैं बार-बार आनन्द ले सकूँ। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। परन्तु इन दो उदाहरणों से मूल बात स्पष्ट हो जाएगी और वासनाओं के नियंत्रण में निहित सिद्धान्त को समझने में हमें सहायता मिलेगी।

यह तो स्पष्ट है ही कि ऐसी परिस्थितियों में एक ऐसी स्थिति आती है जब चेतना में सुखद अथवा दुखद संवेदन का उदय होता है। हम अपनी इन्द्रियाँ बन्द रखकर तो घूम-फिर नहीं सकते। इसलिए अनुभव के दौर से गुजरने पर प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्यतः इस स्थिति में पहुँच ही जाता है। जो व्यक्ति वासनारहित होना चाहता है उसे चेतना के जिस परिवर्तन के प्रति सचेत रहना है, अथवा सम्भव हो तो उसे रोकना है, वह आकर्षण या विकर्षण है। सुखद संवेदन के पुनः अनुभव करने की और दुखद या अप्रिय संवेदन से बचने की इच्छा का उत्पन्न होना ही क्रमशः आकर्षण और विकर्षण है। जब हम संसार में विचरण करते हैं और सभी प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं तो सभी ओर से हमारी ओर आने वाले कम्पनों के अनुरूप संवेदन उत्पन्न होंगे ही। इनमें से कुछ संवेदन सुखद या दुखद प्रतीत होंगे। मैंने यहाँ 'कुछ संवेदन' इसलिए कहा क्योंकि सुखद या दुखद होने का गुण सभी संवेदनों में नहीं होता। दृष्टि या श्रवण सम्बन्धी हमारे अधिकांश संवेदन न तो दुखद होते हैं और उन्हें मन का निरपेक्ष ज्ञान मात्र कह सकते हैं। जो मनुष्य वासना के स्वरूप को नहीं समझता या उसका नियंत्रण करने के लिए दृढ़-निश्चयी नहीं है वह निरन्तर इन आकर्षणों और विकर्षणों में फँस जाता है। ये ही वे बन्धन हैं जो उसे निम्न लोकों से तथा जन्म-मृत्यु के चक्र से बाँधते हैं। इसके विपरीत,, वासनारहित हो जाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति उन्हीं आकर्षणों के बीच संसार में विचरण करता है, वैसे ही अनुभवों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के दौर से गुजरता है परन्तु फिर भी बन्धन-मुक्त रहता है क्योंकि उसने अपने मन को वासना की विषय-वस्तुओं से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करने दिया है। यह समझ लेना आवश्यक है कि कुछ अनुभवों से सुखानुभूति प्राप्त करने में कोई हानि नहीं है। शरीर और सुखद के बीच सम्पर्क का स्वाभाविक परिणाम ही सुख है। कठिनाई तो तब प्रारम्भ होती है जब आकर्षण या विकर्षण के पाश से हम अपने आपको किसी विषय-वस्तु से बँध जाने देते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो व्यक्ति इतना समर्थ है कि सुखद या दुखद विषय-वस्तुओं के बीच में रहता हुआ भी सुख या दुःख से अप्रभावित बना रहे वही सच्चा वैरागी है, न कि वह व्यक्ति जो वासना के जाल में फँसने से डरता रहता है और अपने आपको उन सबसे दूर रखता है। ऐसे व्यक्ति को कभी न कभी तो आकर्षणों के बीच में रहते हुए आकर्षणों से अप्रभावित बने रहने का पाठ सीखने के लिए मैदान में आना ही पड़ेगा। जिन्होंने पहले ही काफी शक्ति प्राप्त कर ली है और वासना पर नियंत्रण करने का जिन्हें अभ्यास है उनके लिए तो यह तरीका उपयुक्त हो सकता है। परन्तु जो वासनाओं पर नियंत्रण करने का कार्य प्रारम्भ ही कर रहा है उसके लिए तो यही आसान होगा कि वह आकर्षणों से भरे वातावरण से अपने आपको तब तक दूर रखे जब तक कि आकर्षण से अप्रभावित रहने की पर्याप्त शक्ति वह प्राप्त न कर ले। शराब पीने वालों की संगति में रहने वाले शराबी के लिए इस आदत को छोड़ पाना अत्यन्त कठिन होगा। इस आदत को छोड़ने के लिए उसके लिए यह उचित होगा कि प्रारम्भ में वह अपने आपको पवित्र और संयत वातावरण में रखे। परन्तु वासना पर उसकी सच्ची विजय तब तक नहीं होगी जब तक कि आधुनिक मदिरालय के समस्त आकर्षणों के बीच शराबियों की संगति में भी वह अविचलित घूमता न रहे।

अब हम वासना और संकल्प-शक्ति के सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे। पाठक को सम्भवतः यह लगे कि ये तो केवल सैद्धान्तिक रुचि की बातें हैं और इसीलिए आत्म-साधना की समस्या के लिए अनावश्यक हैं। परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है। अपनी वासनाओं पर वास्तविक नियंत्रण करने के प्रयत्न के लिए वह सब ज्ञान आवश्यक है जिससे वासना का स्वरूप समझने में हमें सहायता मिले। जो व्यक्ति ऐसे ज्ञान के बिना ही अपनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासनाओं पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करता है उतना ही मूर्ख है और उसे अपने प्रयास में सफलता की उतनी ही कम सम्भावना है जितनी कि सेना के उस जनरल को जो भूभाग, शत्रु-सेना की स्थिति, अपनी शक्ति तथा कमजोरी के ज्ञान के बिना ही शत्रु-प्रदेश में घुस जाए।

अब तक के विवेचन से हम देख चुके हैं कि वासना का मूल स्वरूप सुखद विषय वस्तुओं की ओर व्यक्ति को आकर्षित करना और दुखद के प्रति उसको विकर्षित करना है। यह आकर्षण या विकर्षण शक्ति का द्योतक है। यह शक्ति और संकल्प-शक्ति तत्त्वतः एक ही हैं। इसीलिए वासना और संकल्प शक्ति में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। एक तरह से वासना भुवर्लोक में संकल्प-शक्ति का प्रतिबिम्ब मात्र है। हमें इनमें अन्तर इस कारण दीखता है कि वासना में जीवात्मा की शक्ति बाह्य-विषय वस्तुओं के माध्यम से कार्य करती है और आकर्षण-विकर्षणों पर निर्भर करती है। संकल्प-शक्ति बिना बाह्य प्रेरकों के स्वतंत्र रूप से व्यक्त होती है और स्वयं निर्णायक होती है।

वासना और संकल्प-शक्ति की यह स्वाभाविक एकरूपता दो महत्त्वपूर्ण बातों से स्पष्ट होती है और कोई भी व्यक्ति इन्हें स्वयं देख सकता है। एक तो, दोनों में ही निष्पादन-क्षमता होती है। हम जिसकी इच्छा करें वह हमें प्राप्त हो सकता है, चाहे वह सदैव तुरन्त प्राप्त न हो। जैसे ही हम किसी विषय-वस्तु की कामना करते हैं वह हमारी ओर खिंचने लगता है। यह आकर्षण हमारी कामना की तीव्रता के अनुसार होता है। यदि हमारी कामना या इच्छा बहुत बलवती और परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं तो वह विषय-वस्तु हमें तुरन्त प्राप्त हो जाती है। इसके विपरीत, यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल होती हैं अथवा वह विषय-वस्तु ही इस प्रकार की है कि सतत प्रयत्नों के बाद ही प्राप्त हो सकती है तो उस दशा में इच्छा करते ही वह खिंचाव प्रारम्भ हो जाता है। फिर यह केवल समय का प्रश्न रह जाता है कि हमारी कामना कब पूरी हो।

इस बात को समझने के लिए हम कुछ उदाहरण ले लें। मान लीजिए, मैं मधुर संगीत सुनना चाहता हूँ। इस इच्छा को पूरी करने के लिए मुझे केवल अपना रेडियो चलाना पड़ेगा। परन्तु यदि मैं एक धनवान् व्यक्ति बनना चाहता हूँ तो मुझे काम करना पड़ेगा, अपना आराम-सुख त्यागना होगा, अपने साधन सावधानी से जुटाने होंगे। यदि उस दिशा में मेरी कुछ क्षमता हुई तो मैं धीरे-धीरे धन एकत्रित कर सकूँगा और

५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी जीवन में अपनी आकांक्षा भी पूरी कर लूँगा। परन्तु यदि मेरी मृत्यु हो जाए अथवा मैं इस जीवन में अपनी आकांक्षा पूरी करने में असमर्थ रहूँ और मेरी कामना बनी रहे तो मैं अगले जीवन में अधिक क्षमताओं और अनुकूल परिस्थितियों में जन्म लूँगा और तब मेरा वांछित उद्देश्य पूरा होगा। परन्तु मान लीजिए इन क्षणिक और नश्वर विषय-वस्तुओं की कामना न करके मैं आत्म-बोध प्राप्ति की कामना करता हूँ। स्पष्ट है कि यह ऐसी कामना नहीं है जो तुरन्त पूरी हो सके। मुझे अनेक जन्मों तक प्रयत्न करना पड़ेगा। अपने निम्न स्वभाव पर विजय पानी होगी। प्रत्येक जीवन में अपनी समस्त दिव्य सम्भावनाओं को धीरे-धीरे विकसित करना होगा। यदि मेरी कामना में आवश्यकता, तीव्रता और लगन हुई तो एक दिन मैं ज्ञानयुक्त और मुक्त होकर उच्च शिखर तक पहुँच जाऊँगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वासना या कामना में निष्पादन की यही दुर्निवार शक्ति है जिसका सम्बन्ध मानवीय संकल्प-शक्ति से है।

एक दूसरी बात से भी वासना और संकल्प-शक्ति की एक-रूपता स्पष्ट होती है। परिशुद्ध और निजी स्वार्थ के कलुष से मुक्त होने पर वासना संकल्प-शक्ति में विलीन हो जाती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, जीवात्मा की शक्ति जब बाह्य विषय-वस्तुओं के माध्यम से प्रकट होती है तो वह वासना है। जब उसमें व्यक्तिगत कुछ नहीं होता और उस शक्ति का उपयोग दिव्य योजना की पूर्ति के लिए होता है तो वह विशुद्ध आत्मिक संकल्प-शक्ति होती है। अतः जैसे-जैसे व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना के निकलने पर यह शक्ति परिशुद्ध होती है यह संकल्प-शक्ति की विशुद्ध अवस्था के निकट पहुँचने लगती है। व्यक्तिगत स्वार्थ के खोट के कारण ही संकल्प-शक्ति बिगड़ कर वासना बन जाती है। जब यह खोट जल जाता है तो संकल्प-शक्ति तो विशुद्ध सोना ही शेष रह जाता है।

इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नीचे कुछ सुपरिचित कामनाएँ क्रमानुसार दी गई हैं। हम आसानी से देख सकते हैं कि किस प्रकार धीरे-धीरे परिशुद्ध होकर वासना अधिकाधिक आत्मिक संकल्प-शक्ति के समान होती जाती है और अन्ततः दोनों में अन्तर ही नहीं रहता। हम निम्नलिखत कामनाओं को नीचे दिए क्रम से देखें :—

(१) इन्द्रिय सुख-भोग की कामना;

(२) परिवार को सुख और प्रतिष्ठा से रहने में सहायता करने की कामना;

Dr. Urmila Sharma Collection; Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) अपने देश की सेवा करने की कामना;
(४) मानवमात्र की सेवा करने की कामना;
(५) अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा से मिला देने की कामना।

इस क्रम में जब हम ऊपर से नीचे की ओर आते हैं तो हम सहज ही देख सकते हैं कि कामना संकल्प-शक्ति में विलीन होती जा रही है। उसके उच्चतम स्वरूप में तो यह केवल शब्दों की बात रह जाती है कि हम उस शक्ति को कामना या वासना कहें या संकल्प-शक्ति। अन्तिम अवस्था का वर्णन करने में कामना शब्द का प्रयोग उचित इसलिए कहा जा सकता है कि जब तक चेतना देहात्मा में आबद्ध है उसमें कुछ भावनात्मक अंश शेष रह सकता है। और फिर इस समस्या को नीचे की ओर से देखा गया है।

वासना और संकल्प-शक्ति की इस स्वाभाविक एकरूपता से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सकता है। हमारे स्वभाव में वासना का बलवती होना अनिवार्यतः एक बाधा या चिन्ता का विषय नहीं है। वासना की प्रबल धारा अपने स्वार्थमय आवरण के नीचे आत्मिक संकल्प-शक्ति का शुद्ध जल छिपाए रहती है। केवल इस आवरण को नष्ट करके कोई भी व्यक्ति अपार आत्मिक संकल्प-शक्ति प्राप्त कर सकता है। इसलिए जिन लोगों में वासनाएँ और कामनाएँ प्रबल हैं वे, उच्च दृष्टिकोण से, उन लोगों की अपेक्षा अधिक आशाजनक स्थिति में हैं जिनकी वासनाएँ और कामनाएँ क्षीण हैं, जो किसी भी कार्य को उत्साह से नहीं कर पाते और अपने वातावरण या आदर्श के प्रति जिनको सामान्य प्रतिक्रिया उत्साह विहीन है। यही सत्य प्रचलित कहावत का आधार है : "जितना अधिक पापी उतना ही बड़ा सन्त !"

वासना और संकल्प-शक्ति के इस सम्बन्ध से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति के जीवन में से स्वार्थ-भावना धीरे-धीरे निकल जाने पर उसके कर्म अधिकाधिक शुद्ध होते जाते हैं। विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जब उसके जीवन में वासना का राज्य होता है तो वही कर्म की प्रेरक शक्ति होती है। जब किसी विषय-वस्तु की कामना होती है तो उसे सन्तुष्ट करने के साधनों और विधियों पर विचार करने के लिए वह फौरन मन को बाध्य करती है। यदि कामना काफी तीव्र और दृढ़ है तो आगे-पीछे उसके अनुसार कार्य होता ही है। सभी प्रकार की विषय-वस्तुओं को प्राप्त करने के प्रयत्न में व्यक्ति निरन्तर व्यस्त बना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहता है, अनुभव प्राप्त करता है और मन की विभिन्न शक्तियाँ विकसित करता है। विकास के अन्तिम चरणों में विवेक जाग्रत हो जाने पर तथा व्यक्तिगत वासनाओं के उत्तरोत्तर कम हो जाने पर संकल्प-शक्ति क्रमश: बलवती हो जाती है फिर वही कर्म की प्रेरक शक्ति बन जाती है और जैसे-जैसे कर्म इस प्रकार परिशुद्ध होता जाता है वह अधिकाधिक निर्वैयक्तिक और ईश्वरीय संकल्प को प्रतिबिम्बित करने लगता है। ऐसी स्थिति में कर्म व्यक्ति के बन्धन का कारण नहीं वनता क्योंकि वह अपने लाभ के लिए नहीं परमात्मा की पूजा के रूप में किया जाता है। परिशुद्धि की उच्चतम अवस्थाओं में तो वास्तव में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह कर्म नहीं करता, कर्म उससे कराया जाता है।

अब हम चेतना के एक और स्वरूप-समूह को लेते हैं। उनकी उत्पत्ति तो वासना से ही होती है परन्तु उनकी अपनी श्रेणी अलग ही है। उन्हें भावनाएँ कहते हैं। ये अंशत: वासना कोष और अंशत: मनोमय कोष की क्रियाओं के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती हैं। हम देख चुके हैं कि वासना के प्रारम्भिक स्वरूप में विषय-वस्तुओं के प्रति आकर्षण और विकर्षण होता है और उन विषय-वस्तुओं को प्राप्त करने अथवा उनसे बचने के लिए वह मन की शक्तियों को गतिमान बना देती है। वासना और विचार के इस निरन्तर और घनिष्ठ सम्बन्ध के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की भावनाओं का जन्म होता है। भावना इस प्रकार चेतना की एक मिश्रित अवस्था है जिसकी संरचना में वासना और विचार दोनों का योगदान होता है। कुछ भावनाओं के बारे में भले ही यह स्पष्ट दिखाई न दे परन्तु सावधानी से इन भावनाओं का विश्लेषण करने पर इनमें सदैव तीन प्रमुख तत्त्व मिलेंगे—अनुभूति, आकर्षण या विकर्षण, और विभिन्न प्रकार और तीव्रता वाले विचार। अत: सुन्दर सूर्यास्त देखकर मुग्ध हो जाने पर ऊपर से देखने में यह लगेगा कि इस भावना में आकर्षण या विकर्षण तत्त्व नहीं है। परन्तु मन:स्थिति का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि सुख का तत्त्व और फलत: आकर्षण या वासना उसमें है। हम ऐसा सूर्यास्त देखना चाहते हैं यह वात ही उसमें सुख या आकर्षण तत्त्व होना स्पष्ट करता है। जब हम कोई भयावह दृश्य देखते हैं तो हम स्वभावत: मुँह फेर लेते हैं। हमें इस विषय में विस्तार से जाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु हम विभिन्न भावनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध और हमारे जीवन में उनके स्थान पर अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का विवेचन कर सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभिन्न समय और अवसरों पर हम अनेकानेक प्रकार की भावनाओं का अनुभव करते हैं। ऊपर से देखने में ऐसा लगेगा कि उन सबने एक विशाल जंगल का स्वरूप ले लिया है और उनके वर्गीकरण का कोई निश्चित आधार ही दिखाई नहीं देता। व्यापक अनुसंधानों तथा वर्गीकरण के लिए उत्साह होने पर भी आधुनिक मनोविज्ञान ने मन के इस अव्यवस्थित क्षेत्र में किसी प्रकार की व्यवस्था लाने के कठिन कार्य को करने का प्रयास ही नहीं किया है। परन्तु ऐसा लगता ही है कि भावनाओं के क्षेत्र में इतनी अव्यवस्था है और उनके वर्गीकरण के कोई निर्देशक सिद्धान्त नहीं हैं। अधिकांश भावनाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और डा० भगवानदास ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "साइन्स ऑफ इमोशन्स" (भावना-विज्ञान) में इस सम्बन्ध को बहुत कुछ स्पष्ट किया है। उन्होंने बताने की चेष्टा की है कि अधिकांश भावनाएँ दो प्राथमिक भावनाओं से उत्पन्न होती हैं। ये हैं प्रेम और घृणा जो आकर्षण और विकर्षण पर आधारित हैं। जब प्रेम और घृणा के ये भाव अपने से बड़े, छोटे या समान व्यक्तियों की ओर प्रवाहित होते हैं तो इनके अनेक रूप हो जाते हैं। तीन भाव प्रेम से और तीन घृणा से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ये छः सहायक भावनाएँ अन्य मानसिक कारणों से मिलकर उन अधिकांश भावनाओं की उत्पत्ति का कारण होती हैं जिनका मनोविज्ञान को ज्ञान है। हमें इस प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं करना है परन्तु हम सीधे इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि इस मूल विचार का हमारे जीवन में क्या स्थान है और चरित्र-निर्माण में हम इसका विधिवत् उपयोग किस प्रकार कर सकते हैं।

समस्त लोकों में विभिन्न स्वरूपों में व्यक्त जीवन मूलतः एक है और दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति है। इसीलिए हम सब आत्मिक एकता के सूत्र में एक-दूसरे से बँधे हैं, चाहे हम भ्रान्ति और भिन्नता के निम्न लोकों में इस एकता के दर्शन न कर पाएँ। जो कुछ भी जीवन के इस आधारभूत सत्य, एकता के इस नियम से सामंजस्यपूर्ण है उससे सुख मिलेगा ही और जो कुछ उसके प्रतिकूल है वह नाश को प्राप्त होगा और दुःख का कारण बनेगा। यही कारण है कि प्रेम से अनिवार्यतः सुख प्राप्त होता है क्योंकि इससे जीवन की एकता के नियम का पालन होता है। घृणा से उस नियम का उल्लंघन होता है और इसीलिए वह अनन्त दुःखों का कारण बनती है। जीवन का यह नियम काल्पनिक या धार्मिक सिद्धान्त नहीं है जिसे हम श्रद्धा से स्वीकार कर लें। इस नियम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की सत्यता की जाँच तो हम स्वयं कुछ महीने तक प्रयोग करके आसानी से कर सकते हैं। प्रयोग करने का इच्छुक व्यक्ति ध्यानपूर्वक देखता रहे और प्रेम और घृणा पर आधारित विभिन्न प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न होने पर अपने मन की सुखद या दुखद स्थिति को एक नोट-बुक में लिखता रहे। उसे यह देखकर आश्चर्य होगा कि प्रेम और सुख तथा इसी प्रकार घृणा और दुःख बराबर साथ हैं। धर्म-गुरुओं ने प्रेम उत्पन्न करने की आवश्यकता पर कुछ शिक्षा दी है वह बिल्कुल सही और वास्तविक अनुभव पर आधारित है। सामान्य व्यक्ति को सम्भवतः यह थोड़ा विचित्र लगे कि सभी मनुष्य आत्मिक एकता के एक अदृश्य सूत्र से बँधे होने पर भी आपस में लड़ते हैं, एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं तथा संसार में इतना संघर्ष है। परन्तु इसका कारण यह है कि निम्न मन एकता की इस चेतना को ढक कर उसे दृष्टि से ओझल कर देता है और तब चेतना का प्रत्येक केन्द्र अपने को एक भिन्न और स्वतंत्र इकाई समझने लगता है। जब यह आवरण हट जाता है और आत्मिक एकता प्रकट होती है तब उस व्यक्ति के लिए यह असम्भव हो जाता है कि वह किसी से भी घृणा करे अथवा उसे कष्ट पहुँचाए।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम सदैव सुखी रहना चाहते हैं तो हमें भावनात्मक जीवन में से घृणा पर आधारित समस्त भावनाओं को पूर्णतः निकाल देना चाहिए और यथाशक्ति प्रेम पर आधारित भावनाओं का पोषण करना चाहिए। परन्तु भौतिक और मानसिक लोकों की भाँति भावनात्मक जगत् में भी हम आदत के नियम से नियंत्रित होते हैं। जिन भावनाओं के हम आदी हो गये हैं उनके प्रवाह में हमारे बह जाने की ही अधिक सम्भावना है। जिन भावनाओं को हम प्रायः व्यक्त नहीं करते उनको उत्पन्न करना हमारे लिए कठिन होता है। अतः समस्या का हल यह है कि हम विधिवत् सही भावनाओं का पोषण करें, अर्थात् प्रेम पर आधारित भावनाओं को उत्पन्न और पुष्ट करें और घृणा से उत्पन्न भावनाओं को निकाल फेकें। पहले भावनाओं के जिस वर्गीकरण की ओर संकेत किया गया है वह हमें इन भावनाओं में अन्तर्भेद करने तथा स्वस्थ भावनात्मक जीवन के निर्माण में सहायक होगा।

इस प्रकार अपने भावनात्मक जीवन का पुनर्निर्माण प्रारम्भ करने पर हम देखेंगे कि वास्तव में हम गुणों में अभिवृद्धि कर रहे हैं तथा दुर्गुणों से मुक्त हो रहे हैं, क्योंकि अधिकांश गुण और दुर्गुण और कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं, क्रमश: प्रेम और घृणा पर आधारित भावनात्मक वृत्तियाँ ही हैं। अत: हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि सद्गुणी जीवन बिताना केवल चाहने या आकांक्षा करने की बात नहीं है बल्कि सही भावनात्मक वृत्तियों का निर्माण करना है। यह कार्य विधिवत् और इस क्षेत्र में क्रियाशील नियमों की सहायता से ही किया जा सकता है।

सद्गुण और दुर्गुणों का भावनाओं से यह सम्बन्ध प्रसंगवश यह भी स्पष्ट करता है कि आत्मानुभूति की बड़ी समस्या में सद्गुणी जीवन का क्या स्थान है। सद्गुणों को विकसित करने से स्वस्थ और सही भावनात्मक जीवन सुनिश्चित हो जाता है और इसीलिए आत्मानुभूति में इसकी भूमिका गौण परन्तु महत्त्वपूर्ण होती है। सद्गुणी जीवन उच्च जीवन की आधार-शिला के रूप में आवश्यक है। वह उच्च जीवन का विकल्प नहीं हो सकता। मानव जीवन का लक्ष्य सद्गुणी जीवन बिताने से कहीं अधिक उच्च है और वह है आत्मानुभूति, आत्मज्ञान। व्यक्ति जब उस परम सत्य का साक्षात्कार कर लेता है और उस अनुभूति के प्रकाश में जीता है तब ही उसे शाश्वत शान्ति मिल सकती है और वह निम्न जीवन के कष्टों, भ्रान्तियों और क्लेशों से मुक्त हो सकता है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : ७

भावनाओं का नियंत्रण, परिष्कार एवं साधना

वासना-शरीर के कार्यों का विवेचन करने के पश्चात् अब हम चेतना के इस कोष के नियंत्रण, विकास और परिष्कार के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। वासना-शरीर पर थोड़ा नियंत्रण प्राप्त करना पहली आवश्यकता है। इस नियंत्रण के बिना इसके विकास और परि-शुद्धि का कठिन कार्य कर पाना सम्भव ही नहीं है। जैसा कि हम स्थूल शरीर के सम्बन्ध में देख ही चुके हैं, हम चेतना के किसी भी कोष का समुचित नियंत्रण कर ही नहीं सकते यदि हम स्वयं को वही कोष समझने के अभ्यस्त हों। जब तक हम यह समझते हैं कि हमारी वासनाएँ, सुख या दुःख देने वाले संवेदन अथवा हमारे अन्दर उद्वेलित होने वाली भावनाएँ ही हम हैं हम वासना-शरीर की इन क्रियाओं को अपने नियंत्रण में ला ही नहीं सकते। अतः इस नियंत्रण प्राप्ति के लिए पहला कदम यह है कि हम अपनी चेतना में स्वयं को उन समस्त अभिव्यक्तियों से पृथक् समझें जिनका प्रारम्भ वासना-शरीर से होता है। इन अभिव्यक्तियों को हम अपने से भिन्न देखने का अभ्यास करें। हम उन्हें अपने सामने रखें, उन्हें ध्यानपूर्वक देखें और उनका विश्लेषण करें। ऐसा हमें तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि हम यह अनुभव न करने लगें कि ये हमारे अन्दर होने वाली केवल कुछ क्रियाएँ हैं। वास्तव में ये हमारे अंग नहीं हैं। हृदय में कोई कामना उत्पन्न होने पर हमें यह अनुभव होना चाहिए कि हमारे वासना-शरीर में यह एक कम्पन मात्र है और यदि हम चाहें तो इसे बदल सकते हैं। सुख की अनुभूति होने पर उससे हमारी चेतना में अन्ततः उत्पन्न होने वाले परिवर्तन-क्रमों को हम जान सकें। इन परिवर्तन-क्रमों का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है और उस बात की और व्याख्या आवश्यक नहीं है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हमें अपने आपको वासनाओं, कामनाओं, भावनाओं और संवेदनों से पृथक् करने एवं उनसे ऊपर उठने का अभ्यास करना है। उसके पश्चात् ही उन पर वास्तविक नियंत्रण करने की आशा कर सकते हैं। यह प्रारम्भिक तैयारी जितनी अच्छी तरह की जाएगी, वासना-शरीर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की क्रियाओं पर हमारी विजय भी उतनी ही स्थायी और शीघ्रता से होगी।

पृथक् कर पाने की इस क्षमता को विकसित करने के लिए एक तो निरन्तर जागरूकता की और दूसरे निरीक्षण और चिन्तन की आवश्यकता है। हम सभी अपने जीवन में अपनी वासनाओं और भावनाओं को पूरी छूट देने के अभ्यस्त हैं। यदा-कदा ही, अत्यधिक उत्तेजित होने पर अपने ऊपर उनके प्रभुत्व का तथा उनका नियंत्रण कर पाने में अपनी असमर्थता का भान होता है। जागरूकता का अर्थ है कि सतत परिवर्तनशील वासनाओं और भावनाओं वाले वासना-शरीर पर हम बराबर ध्यान रखें। हम निरन्तर उसके कार्य को देखते रहें। उदाहरणार्थ, जब कभी हम क्रोधित या उत्तेजित हों या किसी अन्य अच्छी या बुरी भावना से प्रभावित हों, तो इस शरीर में उत्पन्न हल्की से हल्की हलचल का हमें भान होना चाहिए। प्रारम्भ में हम देखेंगे कि हम बार-बार उत्तेजित हो जाते हैं और हमें इस बात का पता तक नहीं चलता। परन्तु सतत जागरूकता और अभ्यास से धीरे-धीरे मन की पृष्ठभूमि में एक चेतना जाग्रत हो जाएगी और उसे हमारे भावनात्मक स्वरूप में उत्पन्न समस्त हलचलों का भान होता प्रतीत होगा। वह चेतना शान्त दर्शक की भाँति प्रत्येक हलचल को देखती रहेगी, चाहे वह अभी उस पर नियंत्रण न कर सके।

निरन्तर जागरूकता का अभ्यास करने के साथ-साथ निरीक्षण और चिन्तन भी आवश्यक है। मन में उत्पन्न होने वाली समस्त वासनाओं और भावनाओं की उत्पत्ति एवं उनके कार्यों को देखते रहने का हमें सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए। हम उनका निर्लिप्त भाव से परीक्षण करें, उनके उद्गम-सूत्र का पता लगाएँ और उनके महत्त्व पर आलोचनात्मक ढंग से विचार करें। यह निरीक्षण और चिंतन ठीक आवेग की दशा में जितना प्रभावशाली ढंग से किया ज़ा सकता है उतना आवेग की समाप्ति पर नहीं हो सकता। अतः जब भावनाएँ सक्रिय हों हम उनका निरीक्षण करना सीखें। जब हम उनके प्रभुत्व में हों तभी हमें स्वयं को उनसे पृथक् करने का अभ्यास करना चाहिए। इससे हमारे कार्य या सामान्य जीवन में बाधा पड़े ऐसी बात नहीं है क्योंकि हमारे मन का केवल एक भाग ही इस सहायक कार्य में व्यस्त रहेगा, ठीक ऐसे ही जैसे एक महिला बुनाई करते-करते भी बात-चीत कर सकती है।

जब अपनी भावनाओं और वासनाओं से स्वयं को पृथक् कर पाने में थोड़ी सफलता मिल जाए तो हम उन पर और अधिक नियंत्रण करने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का अभ्यास प्रारम्भ कर सकते हैं। निरीक्षण और चिन्तन के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की वासनाओं और भावनाओं में अन्तर समझने की क्षमता तो तब तक प्राप्त हो ही चुकी होगी। अब तो हमें करना यह है कि जो वासनाएँ और भावनाएँ हमारे आदर्श के अनुरूप न हों उनकी अभिव्यक्ति को हम रोकें और केवल उन्हीं को व्यक्त होने दें जो हमें अपने पथ पर चलने में सहायक हों। वासना-शरीर की गतिविधियों पर ध्यान रखने मात्र का परिणाम यह होगा कि कुछ अवांछनीय वासनाएँ और भावनाएँ तो समाप्त ही हो जाएँगी तथा कुछ अन्य का वेग कम हो जाएगा। परन्तु इस पृथक्करण और नियंत्रण का अभ्यास गम्भीरता और दृढ़ता से तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि हम अपने भावनात्मक जीवन के सच्चे स्वामी न बन जाएँ और हमारे वासना-शरीर के माध्यम से केवल वे ही वासनाएँ और भावनाएँ व्यक्त हो सकें जिनको हम उचित समझें और स्पष्टतः व्यक्त होने की अनुमति दें। यह लम्बी और कड़ी साधना है। इसमें कितनी सफलता मिलेगी यह विकास की हमारी स्थिति तथा प्रयत्न करने में हमारी तत्परता और लगन पर निर्भर करेगी। जिनमें बुद्धि और आत्मा के उच्च तत्त्व काफी मात्रा में विकसित हो चुके हैं उन्हें इस कार्य को पूर्ण करने के लिए आवश्यक धैर्य और शक्ति अपने अन्दर से ही प्राप्त हो जाएगी। परन्तु जो अभी कम विकसित हैं वे इस श्रमसाध्य कार्य से शीघ्र ही ऊब जाएँगे और उसे एक असाध्य आदर्श मान कर छोड़ बैठेंगे। फिर भी हमें यह स्मरण रहे कि सतत प्रयत्न और अभ्यास की लम्बी और श्रमसाध्य विधि से ही हम अपनी भावनाओं का नियंत्रण कर सकते हैं। ऐसा कोई जादुई तरीका नहीं है जिससे रातोरात हम अपने निम्न स्वभाव पर प्रभुत्व स्थापित कर सकें। परन्तु इस विचार से हमें प्रोत्साहन मिलेगा कि एक बार यह प्रभुत्व प्राप्त कर लेने पर फिर इस दिशा में निरन्तर प्रयत्न करने की आवश्यकता लगभग समाप्त हो जाती है और हमारी भावनाएँ और वासनाएँ अपने आप आध्यात्मिक आदर्शों और आवश्यकताओं के अनुरूप हो जाती हैं।

व्यावहारिक महत्त्व की कुछ बातें समझ लेने से हमें अपने वासना-शरीर पर नियंत्रण प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलेगी। पहली बात तो हमें यह समझनी है कि हम अपने भावनात्मक स्वभाव पर नियंत्रण केवल उन्हीं परिस्थितियों में प्राप्त कर सकते हैं जिनसे हम सामान्यतः भागने का प्रयत्न करते हैं। तनाव और संघर्ष की अवस्थाओं में ही हम अपने निम्न स्वभाव पर सचेतन प्रभुत्व प्राप्त कर सकते हैं जो सच्चे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आध्यात्मिक विकास की पहली आवश्यकता है। आकर्षक विषय-वस्तुओं के बीच रहकर ही हम वैराग्य उत्पन्न करने के अभ्यास कर सकते हैं। निम्न स्वभाव पर विजय के प्रमाण-चिह्न, महान् धैर्य और शान्ति हमें तब ही प्राप्त होगी जब हमें उन्हीं व्यक्तियों से व्यवहार करना पड़े जो हमें न चाहते हों, हमारा विरोध करें अथवा हमसे घृणा तक करें। जिन परिस्थितियों में हमारे धैर्य की परीक्षा ही न हो शान्त ओर स्थिर-चित्त बने रहना बड़ा सरल है। जहाँ प्रलोभन ही नहीं है वहाँ सद्‌गुणी बने रहना सहज है। परन्तु जो कठिनतम परिस्थितियों में भी शान्त और पवित्र बना रहे वही अपने आपको अपने निम्न स्वभाव का स्वामी समझ सकता है।

अतः यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यदि हम अपने निम्न स्वभाव को वश में करने के कठिन कार्य को करने के लिए वास्तव में उत्सुक हैं तो हमें प्राप्त कठिन और कष्टप्रद परिस्थितियों से भागना नहीं चाहिए। हमें तो उनका निश्चित उपयोग उन विशिष्ट गुणों को विकसित करने के लिए करना चाहिए जो उन परिस्थितियों में हममें विकसित हो सकते हैं। जिन गुणों को हम विकसित करना चाहते हैं उनके परीक्षण के लिए हम कभी-कभी स्वयं को स्वेच्छा से कठिन परि-स्थितियों में भी डाल सकते हैं। परन्तु सामान्यतः इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। कर्म के देवता हमें भोगने के लिए ऐसे कर्म देते हैं जो हमारे विकास के अगले चरण के लिए उपयुक्त हों। हम जितने अधिक सशक्त होते जाते हैं उतनी ही कठिनतर हमारी परीक्षा ली जाती है। जिन परि-स्थितियों में किसी व्यक्ति को रखा जाता है उन्हें प्राप्त करने का तो उसका अधिकार होता है परन्तु विकास की जिस अवस्था में वह होता है उसमें वे परिस्थितियाँ ही उसके विकास के लिए अनुकूल होती हैं। अतः हमारा दैनिक जीवन हमें ऐसे अनेक अवसर प्रदान करता है जिनकी हमें वासना-शरीर पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए आवश्यकता होती है। परन्तु यह कार्य हमें बड़ी लगन के साथ करना होगा।

कुछ लोगों के मन में यह प्रश्न उठ सकता है : "यदि हमें अपने भाव-नात्मक और वासना-स्वरूप का इस बेदर्दी से विश्लेषण और चीर-फाड़ करनी है तो फिर जीने योग्य बचता ही क्या है? जीवन-रस तो इन वासनाओं और भावनाओं की अनुभूति पर ही नहीं वरन् उनसे तादात्म्य कर लेने पर ही निर्भर करता है। इस कल्पना पर निर्भर करता है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमें इन वासनाओं और भावनाओं की अनुभूति हो रही है।" यह प्रश्न अत्यन्त उपयुक्त है। वास्तव में जो अपनी भावनाओं पर विजयी होना चाहते हैं उन सभी को इस कठिन अनुभव के दौर से गुजरना पड़ता है और तब उन्हें लगता है कि जीवन बेकार है और जीने योग्य ही नहीं रह गया है। बहुत से साधक इस अग्नि-परीक्षा में टिक नहीं पाते, वे धैर्य खो बैठते हैं और फिर से वही पुराना जीवन अपना लेते हैं जिसमें स्वयं को अपनी वासनाओं से एक मानने पर ही समस्त जीवन-रस प्राप्त होता है।

परन्तु जिन्होंने इस प्रकार की साधना की है उनका अनुभव है कि प्रायः कष्टप्रद होते हुए भी यह एक अस्थायी अवस्था होती है और आत्म-ज्ञान के साधक को इससे डरना नहीं चाहिए। जैसे-जैसे हमारा निम्न स्वभाव नियोजित और वासना-शरीर शान्त और निर्दोष होता जाता है बुद्धि का प्रकाश मन को अधिकाधिक आलोकित करने लगता है और तब हमें "वह शान्ति प्राप्त होती है जो समझ के परे है।" जब बुद्धि इस प्रकार मन को आलोकित करती है तब हम जीवन की समस्याओं को तो सही परिप्रेक्ष्य में देख ही पाते हैं, हम अपने वास्तविक स्वरूप के आनन्द का भी रसास्वादन कर पाते हैं। इस आनन्द की आभा में निम्न जीवन की खुशियाँ और सुख इसी प्रकार कान्तिहीन हो जाते हैं जैसे सूर्य के उदय होने पर सारे कृत्रिम प्रकाश ही नहीं तारों और चन्द्रमा का प्रकाश भी, फीका पड़ जाता है। परन्तु इस शाश्वत शान्ति को, उच्च जीवन के इस आनन्द को पाने के लिए हमें धैर्यवान, दृढ़निश्चयी, निर्भय तथा निम्न जीवन के क्षणिक सुखों और खुशियों को त्यागने के लिए तैयार रहना होगा। यदि जीवन नीरस और खाली-खाली सा लगे तो हमें निरुत्साहित नहीं होना चाहिए क्योंकि जब जीवन पूर्णतः रीता प्रतीत होने लगे तब हम जीवन की परिपूर्णता के अत्यन्त निकट होते हैं। साथ ही, हमें अपने निम्न जीवन को परिशुद्ध करने तथा उच्च चेतना के प्रकाश को ओझल करने वाले आवरणों को हटाने का कार्य और भी अधिक निष्ठा और तत्परता से करना चाहिए।

वासना-शरीर के नियंत्रण से सम्बन्धित सिद्धान्तों का उल्लेख करते समय भावनाओं का दमन करने के खतरों की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक है। मनोविश्लेषण के क्षेत्र में किए गए अभी के अनुसंधानों से भावनाओं और वासनाओं का दमन करने के दुष्परिणाम स्पष्ट हो गए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। यह अच्छा ही होगा यदि इन पर नियंत्रण करने के इच्छुक व्यक्ति इन अनुसंधानों के प्रमुख परिणामों को मोटे तौर पर समझ लें। इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु भावनाओं और वासनाओं का दमन करने के खतरों के पीछे मूल विचार यहाँ संक्षेप में दिया जा सकता है।

इस क्षेत्र में अनुसंधानकर्त्ताओं द्वारा प्राप्त परिणामों के अनुसार यदि किसी वासना या भावना को जबरदस्ती दबाया जाता है तो वह मन के अवचेतन भागों में चली जाती है। वहाँ से वह किसी रोग के ऐसे लक्षण उत्पन्न करती है तथा उन्हें बनाए रखती है जिनका दमित भावना से स्पष्टतः कोई सम्बन्ध ही प्रतीत नहीं होता। ऐसे लक्षण या लक्षण-समूह को पारिभाषिक भाषा में "भाव-ग्रन्थियाँ" कहते हैं। ये ग्रन्थियाँ व्यक्ति के भावनात्मक, मनोमय और भौतिक जीवन तक में महत्त्वपूर्ण होती हैं और अनजाने में ही ये उसके व्यवहार को अत्यधिक प्रभावित करती रहती हैं। मनोविश्लेषकों ने इन ग्रन्थियों को दूर करने की एक विधि खोज निकाली है जिसके द्वारा अस्वाभाविक दबाव दूर करके मनोजीवन को पुनः सामान्य और स्वस्थ अवस्था में लाया जा सकता है।

मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से हम सहमत हों या न हों, हमें यह वात तो समझ ही लेनी चाहिए कि भावनाएँ और कामनाएँ काम-मनस् की शक्ति हैं। शक्ति-संचय-नियम के अनुसार शक्ति नष्ट नहीं की जा सकती। इसके उपयोग का रूपान्तरण किया जा सकता है। शक्ति उत्पन्न करने के पश्चात् उसे हम नष्ट नहीं कर सकते, परन्तु हम यह निश्चित अवश्य कर सकते हैं कि इसका स्वरूप क्या हो। वासना या भावना के दमन करने में शक्ति का स्रोत तो वैसा ही बना रहता है। हम केवल उसे अवचेतन मन की ओर मोड़ देते हैं। वहाँ वह सभी प्रकार के अवांछनीय रूप ग्रहण कर सकती है। यही रूप अन्ततः बाहर प्रकट होते हैं। यदि हम बिना टोंटी की पाइप से पानी का प्रवाह रोकने के लिए उसके सिरे को जमीन में दबा दें तो इससे उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। पानी तो बहता ही रहेगा और कभी न कभी मिट्टी और गन्दगी के साथ जमीन की सतह तक आ ही जाएगा। हमें या तो पाइप का मुँह बन्द करके पानी का प्रवाह रोक देना चाहिए अथवा उस पानी का उपयोग किसी अन्य उपयुक्त प्रकार से करना चाहिए, जैसे पानी का प्रवाह बगीचे की ओर मोड़ दें और इस प्रकार इसे पौधों के बढ़ने में सहायक बना दें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी प्रकार, यदि हम किसी वासना को उचित नहीं समझते तो या तो हम उसे उत्पन्न ही न होने दें, या फिर उसे किसी अन्य रूप में परिवर्तित कर दें जो या तो वांछनीय हो अथवा हमारी प्रगति में सहायक हो। हम वासना को उत्पन्न होने से तब ही रोक सकते हैं जब हम उसे अच्छी तरह समझ लें और उससे ऊपर उठ जाएँ। हम उसके स्वरूप को इतनी अच्छी तरह समझ लें कि वह हमें प्रभावित ही न कर सके। ऐसी दशा में वासना अपने आप समाप्त हो जाती है क्योंकि हमने उसकी जीवन शक्ति के प्रवाह को ही काट दिया है। इसके अतिरिक्त, हम उस शक्ति का स्वरूप भी बदल सकते हैं अर्थात् उसे उदात्त बना दें। शक्ति का नया स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वह हमें आदर्श की ओर बढ़ने में सहायक हो, बाधक न हो। वासनाओं और भावनाओं के उदात्तीकरण की समस्या अत्यन्त ही रोचक और महत्त्वपूर्ण है परन्तु उसके व्यावहारिक पक्षों से हमारा यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है।

अब हम वासना-शरीर को शुद्ध और विकसित करने के प्रश्न पर विचार करेंगे। इस समस्या को अच्छी तरह से समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि इस शरीर का निर्माण और पोषण किस प्रकार होता है। स्थूल शरीर की भाँति इसका निर्माण और पोषण भोजन खाकर और पचाकर नहीं होता। इसीलिए इसकी शुद्धि और विकास की समस्या अधिक जटिल और कठिन है।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि बाह्य सम्पर्कों अथवा अन्तर्प्रेरित क्रियाओं के द्वारा वासना-शरीर में कम्पन उत्पन्न होते हैं। इन कम्पनों के फलस्वरूप हमारी चेतना में उत्पन्न परिणाम ही हमारी वासनाएँ और भावनाएँ होती हैं। वासना-शरीर में होने वाली इन विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में से हम केवल उदाहरणार्थ भावनाओं को ले लें तो हम कह सकते हैं कि प्रत्येक भावना का सम्बन्ध एक विशेष प्रकार के कम्पन से तथा एक विशेष घनत्व वाले पदार्थ से होता है जिससे वासना-शरीर निर्मित होता है। भुवर्लोक में प्रत्येक कम्पन के साथ एक विशिष्ट रंग भी दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी समय किसी व्यक्ति में प्रेम-भावना अति प्रबल है तो भुवर्लोक के तत्त्वों के जिन असंख्य सम्मिश्रणों से वासना-शरीर बना है उनमें कुछ विशिष्ट प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते हैं। कम्पनों की गति प्रभावित तत्त्वों के घनत्व के अनुरूप ही होगी। साथ ही, वासना-शरीर में एक विशिष्ट रंग भी दिखाई देगा। यह रंग भी भावना की कम्पन-गति के अनुसार ही होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमें इस प्रक्रिया की उपमा भौतिक जगत् में आतिशवाजी के सुपरिचित रंगों में मिलती है। जब बेरियम जैसी धातु बारूद में मिलाई जाती है तो बारूद के सुलगने पर बेरियम बहुत गरम हो जाता है, उसके कणों में एक विशेष गति से कम्पन होने लगते हैं। इन कम्पनों का विशिष्ट प्रकाश ही हमें आतिशवाजी में हरा रंग दिखाई देता है। यदि हम बारूद में बेरियम के स्थान पर स्ट्रान्शियम का प्रयोग करें तो स्ट्रान्शियम के कण कम्पित होने पर लाल रंग के दिखेंगे। इस प्रकार, भौतिक जगत् तथा भुवर्लोक दोनों ही में प्रत्येक पदार्थ का सम्बन्ध कम्पन की एक विशेष गति और विशेष रंग से होता है।

गुह्य अनुसंधानों से भी स्पष्ट हो गया है कि जव किसी विशेष भावना के कारण वासना-शरीर में एक विशेष गति के कम्पन होने लगते हैं तो परिणामस्वरूप जो पदार्थ उस गति से कम्पित नहीं हो पाता शरीर से बाहर फेंक दिया जाता है। उसके स्थान पर भुवर्लोक के आस-पास के वातावरण से कुछ अन्य ऐसा पदार्थ शरीर में आ जाता है जो उस गति से कम्पित हो सके। वासना-शरीर में किसी भावना से उत्पन्न कम्पन का परिणाम यह होता है कि उस विशिष्ट कम्पन के अनुरूप कम्पित होने वाले पदार्थ का अनुपात बढ़ जाता है और उसके अनुसार कम्पित न होने वाले पदार्थ का अनुपात कम हो जाता है। इस प्रकार यदि कोई भावना वासना-शरीर में बार-बार व्यक्त होती है तो उस विशिष्ट भावना की प्रवृत्तिशीलता बढ़ जाती है। इसके विपरीत, यदि कोई भावना उस शरीर में बहुत कम व्यक्त होती है तो बाह्य या आन्तरिक सम्पर्क से उत्पन्न इस प्रकार के कम्पन बहुत ही धीमे होंगे।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वासना-शरीर में व्यक्त होने वाली प्रत्येक वासना या भावना से इस सम्पूर्ण शरीर की संरचना और कम्पन-क्षमता में परिवर्तन होता रहता है। भावना या वासना का कम्प कितना ही धीमा क्यों न हो, वह इस शरीर के भविष्य में इसी प्रकार कम्पित होने की प्रवृत्ति में थोड़े-बहुत परिवर्तन तो करता ही है। इसलिए यदि हम निरन्तर उच्च भावनाओं और सदइच्छाओं को ही व्यक्त होने दें तो वासनाशरीर उत्तरोत्तर परिष्कृत होकर उच्च कम्पनों को प्रत्युत्पन्न करने योग्य हो जाता है। परन्तु निम्न-स्तरीय वासनाएँ और भावनाएँ इसे अधिकाधिक विकृत कर देती हैं और उच्च भावनाओं की अभिव्यक्ति और भी कठिन हो जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन नियमों का समुचित ज्ञान तथा अपने जीवन में उनका प्रयोग ही उन साधनों का आधार है जिन्हें भावनाओं के परिष्करण और विकास के लिए अपनाया जाता है। पहले हम परिष्करण के प्रश्न पर विचार करेंगे। स्थूल शरीर की शुद्धि के सम्बन्ध में बताया गया था कि किसी शरीर की शुद्धि का वास्तव में अर्थ है उस शरीर में ऐसे तत्त्वों की प्रधानता जो जीवात्मा के अनुरूप तथा उसकी अभिव्यक्ति में सहायक हों तथा ऐसे तत्त्वों का न होना जो सामंजस्यपूर्ण न हों और उसकी अभिव्यक्ति को रोकें अथवा उसमें बाधक हों। हमारे आत्मिक स्वरूप में उद्भूत सूक्ष्म शक्तियों की अभिव्यक्ति भुवर्लोक में तब ही सम्भव है जब वासना-शरीर में ऐसे तत्त्वों का प्राधान्य हो जो सूक्ष्म कम्पनों को ग्रहण कर सकें। वासना शरीर जितना शुद्ध होगा उतनी ही सरलता से वह उच्च चेतना से प्राप्त कम्पनों के अनुरूप कम्पित हो सकेगा तथा सामान्य सांसारिक जीवन के अपेक्षाकृत स्थूल कम्पनों को ग्रहण करने की क्षमता उसमें बहुत कम होगी।

हम देख ही चुके हैं कि अपनी भावनाओं और वासनाओं पर कड़ा नियंत्रण रखने से तथा केवल आध्यात्मिक आदर्शों से सामंजस्य रखने वाली भावनाओं और वासनाओं को व्यक्त होने देने से ही वासना-शरीर की शुद्धि होती है। प्रेम, श्रद्धा, सहानुभूति, भक्ति, करुणा, अपने साथियों तथा महान् महात्मागणों की सेवा करने की सदइच्छा हममें जितनी अधिक विकसित होगी हमारा वासना-शरीर उतना ही अधिक निर्मल और शुद्ध हो जाएगा। तब हमारे जीवात्मा से प्राप्त क्षीण-सी भी अन्तः-प्रेरणा से हमारा सम्पूर्ण वासना-शरीर मधुर, सुन्दर और सूक्ष्म कम्पनों से तरंगित हो उठेगा। परन्तु निम्न लोकों से आने वाले स्थूल और तीव्र कम्पनों से वह पूर्णतः अप्रभावित बना रहेगा। इष्ट-देवता या आराध्य का विचार-मात्र भक्त के हृदय में प्रगाढ़ और अनुपम प्रेम प्रवाहित कर देगा। जिस व्यक्ति में सहानुभूति अत्यधिक विकसित हो चुकी है तो किसी का कष्ट देखते ही उसमें तुरन्त अपार करुणा और कष्ट-निवारण में सहायता करने की इच्छा जाग्रत हो जायगी। इस स्थिति में पहुँच जाने पर वासना-शरीर सचमुच ही जीवात्मा का एक उपयुक्त और कुशल यंत्र बन जाता है—ऐसा यंत्र जो स्पन्दनशील, संवेदनशील और परिशुद्ध है तथा जो निम्न चेतना में उच्च चेतना के प्रतिबिम्बित होने में सहायक है।

उच्च भावनाओं के विकास के सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है कि वासना-शरीर में किसी कम्पन की उत्पत्ति के लिए किसी प्रेरक की आवश्यकता होती है। हमारा भावनात्मक स्वभाव एक वीणा के समान है। उसके किसी विशिष्ट तार को छेड़ कर ही हम सम्बन्धित स्वर उत्पन्न कर सकते हैं। यदि हम अपने भावनात्मक स्वरूप के सही तार को छूने की क्षमता विकसित कर लें तो फिर जिस विशिष्ट भावना को हम चाहें अपने अन्दर जाग्रत कर सकते हैं। निम्न प्रकार की भावनाएँ तो बाह्य जगत् से प्राप्त प्रेरकों से आसानी से जाग्रत हो जाती हैं क्योंकि वासना-शरीर इन प्रेरकों का प्रत्युत्तर देने का अभ्यस्त हो चुका है। परन्तु उच्च भावनाओं को जाग्रत करने के लिए साधक को अपने अन्तर से ही आवश्यक प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। कभी यह प्रेरणा उच्च विचार से प्राप्त हो जाएगी, कभी सच्ची प्रार्थना से जीवात्मा की वह शक्ति प्रवाहित होने लगेगी जो भुवर्लोक में सुन्दर भावनाओं के रूप में व्यक्त होती है। चाहे कुछ भी हो, किन्तु यह कार्य कठिन ही है। केवल धैर्य और सतत प्रयत्न से ही हम एक सुन्दर और निर्मल भावनात्मक स्वरूप का निर्माण कर सकते हैं। आत्म-साधना के साधक को इस कठिन कार्य में नियमित ध्यान से अत्यधिक सहायता मिलेगी। इससे वासना-शरीर और बुद्धिक कोष के बीच का मार्ग खुल जाता है और फिर शनैः शनैः प्रशस्त हो जाता है। तब उन शक्तियों का अवतरण सम्भव हो पाता है जिनके प्रभाव से वासना-शरीर में आध्यात्मिक विकास की प्रतीक उत्कृष्ट और उदात्त भावनाएँ जाग्रत होती हैं।

हमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उदात्त भावनाएँ निम्न लोकों में उच्च चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं और विकास क्रम में एक निश्चित अवस्था की प्राप्ति का संकेत मात्र हैं। आध्यात्मिक गुणों के व्यक्त होने पर—जो इन भावनाओं के उच्च प्रतिरूप मात्र होते हैं—ये भावनाएँ अनावश्यक और कम महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, जब परा-भक्ति काफी विकसित हो जाती है तो भक्त शान्त, सौम्य और आत्म-परिपूर्ण हो जाता है। तब निम्न कोटि की भक्ति के चिह्न, जैसे वासना-पूर्ण प्रेम, निष्ठुरता, सुख-दुख आदि जैसी उग्र और परस्पर विरोधी और चंचल भावनाएँ, उसमें दिखाई ही नहीं देतीं। सन्त, ऋषि और सिद्ध-पुरुष सामान्यतः करुणा, प्र म आदि के भाव स्पष्ट रूप से बाहर प्रकट नहीं होने देते। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे उदासीन या निर्मम हो गए हैं। जीवन की एकता, उस दिव्य जीवन से अपने ऐक्य का उन्हें प्रत्यक्ष बोध होता है। इसीलिए उस दिव्य जीवन के प्रति अथवा निम्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकों पर उस जीवन की अभिव्यक्ति के प्रति, उनकी संवेदनशीलता भुवर्लोक से कहीं उच्च लोक पर व्यक्त होती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उच्च भावनाओं का विकास किसी वस्तु का निर्माण अथवा उसे उत्पन्न करना नहीं है। यह तो आन्तरिक भव्यता के प्रवेश के लिए अपने मन को खोल देना है। वस्तुतः यह मन को परिशुद्ध करने, अपने आत्मिक स्वरूप को विकसित करने तथा अपने स्वरूप के उच्च और निम्न भागों के बीच के द्वार खोलने की बात है। उदाहरणार्थ, इष्टदेव के प्रति परा-भक्ति उत्पन्न हो जाने पर वासना-शरीर बुद्धिलोक से आने वाली प्रेम-धारा से आप्लावित हो जाता है। निम्न स्वभाव की समस्त गंदगी जैसे बह जाती है और निम्न प्रकार की भावनाएँ शीघ्रता से समाप्त हो जाती हैं। प्रगाढ़ प्रेम के ऐसे एक प्रवाह मात्र से मन को परिशुद्ध करने और भुवर्लोक और बुद्धि लोक के बीच का मार्ग खोलने का इतना अधिक कार्य हो जाता है जो महीनों के साधारण ध्यान और मन-संयम से नहीं हो पाता।

मन को पवित्र करने, दिव्य स्वरूप को आच्छादित करने वाले मानसिक कारणों को दूर करने, निम्न 'स्व' को उच्च 'स्व' के नियंत्रण में लाने तथा अन्ततः देहात्म-भाव समाप्त करने में ही आत्म-साधना का रहस्य छिपा है। यही वह साधना है जिससे हमारे आत्मिक स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव होती है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : ८

निम्न मनोमय कोष के कार्य

इस अध्याय में हम निम्न मनोमय कोष के कार्यों पर विचार करेंगे। यह मूर्त विचारों का कोष है। वासना-शरीर की भाँति, इस विषय पर हम आत्म-साधना के विशिष्ट दृष्टिकोण से ही विचार करेंगे। हमारा अध्ययन उन तथ्यों और साधनों तक ही सीमित रहेगा जिनसे साधक को इस शरीर को समझने में सहायता मिले और अपने कार्य के लिए वह इसका कुशलता के साथ उपयोग कर सके।

मानव मन सृष्टि की सबसे विलक्षण रचना है। पूर्णत्व और आत्म-ज्ञान के पथ पर चलने के लिए प्रयत्न-शील व्यक्ति के लिए सबसे बड़ी समस्या भी मन ही है। मन ही भेद-भाव उत्पन्न करने वाला तत्त्व है। उसी के कारण मनुष्य उस एक परम-तत्त्व में अनेक देखता है। मन ही अहं का केन्द्र है। वही हमें यह अनुभव कराता है कि हम एक व्यक्ति हैं और हमारे तथा अन्य व्यक्तियों के हितों में परस्पर विरोध है। मन ही उन भ्रान्तियों का जनक है जो हमारी चेतना में परमात्मा का एक विकृत स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। जो इस दृश्य जगत् में अन्तर्हित परमात्मा को जानना चाहता है उसे पहले मन पर नियंत्रण करना और फिर मन के भी परे जाना होगा।

निम्न मनोमय कोष के कार्यों का विचार करते समय हमें यह समझ लेना चाहिए कि मन की सही संरचना, स्वरूप और कार्यों के विषय में अपने अज्ञान के कारण आधुनिक मनोविज्ञान में 'मन' शब्द का प्रयोग अत्यन्त ही सामान्य रूप में किया गया है। जिन क्रियाओं का प्रारम्भ हमारे अन्तर के स्पष्टतः विभिन्न भागों से होता है उन्हें यह इकट्ठा रख कर उन सबके लिए एक साधारण और अस्पष्ट शब्द 'मन' का प्रयोग करता है। हमारी भावनाएँ, मूर्त विचार, अमूर्त विचार और अन्तःप्रज्ञा में भेद किए बिना ही इन सबको मिला दिया गया है। इस विषय का विशेष अध्ययन करने वाले व्यक्ति भी इन सबके बीच के सम्बन्ध को अच्छी तरह नहीं समझ पाते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनोविज्ञान के इस क्षेत्र में व्याप्त अव्यवस्था प्रमुखतः इसलिए है कि आधुनिक वैज्ञानिक युग के भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण मन की क्रियाओं का अनुसंधान गलत तरीकों से किया गया है। मन अपने भौतिक यंत्र, मस्तिष्क से किस प्रकार कार्य करता है, यही मनोविज्ञान में मन का अध्ययन है। उसके पास साधन ही नहीं हैं कि वह मस्तिष्क के आगे भी जा सके तथा मस्तिष्क में तथा उसके माध्यम से चेतना में प्रकट होने वाली निमित्त अभिव्यक्तियों को उत्पन्न करने वाली शक्तियों और कारणों को देख सके, उनका परीक्षण कर सके। अभी कुछ समय पहले तक मस्तिष्क को सभी मानसिक क्रियाओं का जन्मदाता, स्रोत, समझा जाता था। यह मत लोम्ब्रोसो की इस प्रसिद्ध उक्ति में व्यक्त हुआ : "मस्तिष्क विचार इसी प्रकार उत्पन्न करता है जैसे जिगर से पित्त निकलता है।" परन्तु मानसिक क्रियाओं के और अध्ययन से स्पष्ट हो गया कि इस मत को स्वीकार किया ही नहीं जा सकता। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को अनिच्छा से यह मत स्वीकार करना ही पड़ा कि मन स्थूल मस्तिष्क से बिल्कुल ही भिन्न है, यद्यपि स्थूल जगत् में अपनी अभिव्यक्ति के लिए वह मस्तिष्क पर निर्भर रहता है।

समस्त मानसिक क्रियाओं को सुस्पष्ट करना, उनके सम्बन्धित स्रोतों का पता लगाना, उनके स्वरूप और विभिन्न स्रोतों के अनुसार वर्गीकरण करना और मानव मन को इस प्रकार समझने में सहायता करना जैसा कि पहले कभी नहीं समझा गया, मनोविज्ञान के क्षेत्र में गुह्य-विद्या का सबसे बड़ा योगदान है। प्रकृति के अतिभौतिक क्षेत्रों में गुह्य-विदों द्वारा किए गए अनुसंधानों के कारण मन के क्षेत्र में यह व्यवस्था और स्पष्टता लाना सम्भव हो सका। अपनी अतिभौतिक इन्द्रियों को विकसित करके ये अनुसंधानकर्त्ता मनुष्य की अतिभौतिक संरचना का अध्ययन कर सके, इस संरचना के विभिन्न अंगों को एक दूसरे से अलग कर सके, और स्थूल मस्तिष्क में होने वाली विभिन्न क्रियाओं का आदि कारण सम्बन्धित अतिभौतिक लोकों में खोज सके।

इस प्रकार पहली और महत्त्वपूर्ण बात तो यह ज्ञात हुई कि हमारी भावनाएँ, मूर्त विचार और अमूर्त विचार तीन विभिन्न स्रोतों से उत्पन्न होते हैं। ये तो वास्तव में तीन विभिन्न सूक्ष्म शरीरों में चेतना के कार्य करने के परिणाम हैं। मस्तिष्क और स्नायुमंडल तो उच्च लोकों में इन सूक्ष्म शरीरों की क्रियाओं को भौतिक चेतना में लाने के माध्यम मात्र हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हम पहले ही इन क्रियाओं के एक समूह का अध्ययन कर चुके हैं जो वासना शरीर में उत्पन्न होती हैं और जो हमारे संवेदनों, वासनाओं और भावनाओं को जन्म देती हैं। अब हम विचारों के अवयव का अध्ययन करेंगे। यह वह यंत्र है जिसे जीवात्मा मनोलोक पर अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करता है। यह लोक हमारे सौरमंडल का तीसरा लोक है।

इस सम्वन्ध में पहली बात तो याद रखनी है कि मनोमय कोष वासना शरीर की भाँति—जो भुवर्लोक के सात उपखण्डों के पदार्थों से निर्मित होता है—एक अविभाज्य इकाई नहीं है। मनोलोक में कार्य करने वाला विचार-यंत्र अर्थात् मनोमय कोष, तो चेतना के दो भिन्न कोषों को मिलाकर बना है। निम्न मनोमय कोष मनोलोक के चार निचले उप-खण्डों के पदार्थों से बना है और यह मूर्त विचारों का अवयव है। उच्च मनोमय कोष, जिसे कारण शरीर कहते हैं, शेष तीन उच्च उपखण्डों के पदार्थों से बना है और यह अमूर्त विचारों का अवयव है। ये दोनों कोष एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, इनके कार्य भिन्न हैं और हमारी सम्पूर्ण संरचना के दो भिन्न भागों के अंग हैं। निम्न मनोमय कोष परिवर्तनशील देहात्मा का अंग है और प्रत्येक जन्म में नया बनता है। कारण शरीर जीवात्मा का निम्नतम कोष है और जन्म-जन्मातर तक बना रहता है। एक के बाद एक देहात्माओं में जीवात्मा अशंतः ही व्यक्त हो पाता है। अतः यह स्पष्ट हो गया होगा कि हमारा मन हमारे निम्न और उच्च 'स्व' का, समस्त सीमाओं भ्रान्तियों वाले अस्थायी देवात्मा तथा आत्मा बुद्धि-मनस के मध्यम से व्यक्ति होने वाले स्थायी जीवात्मा का मिलन-स्थल है। मनोलोक में क्रियाशील इन दोनों कोषों के कार्य क्योंकि भिन्न हैं हम इस अध्याय में मूर्त विचारों के अवयव, निम्न मनोमय कोष, के कार्यों का ही विचार करेंगे। उच्च मनोमय कोष के कार्यों का विवेचन बाद के अध्याय में किया जाएगा।

निम्न मनोमय कोष के कार्यों का अध्ययन करने से पूर्व सम्भवतः यह उपयुक्त होगा कि इस कोष तथा वासना कोष के बीच जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसे अच्छी तरह समझ लिया जाए। यद्यपि चेतना के ये दो कोष बिल्कुल अलग-अलग हैं और दो विभिन्न लोकों से सम्बन्धित हैं फिर भी इन दोनों कोषों का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है और वास्तविक जीवन में ये दोनों बहुत कुछ मिलकर ही कार्य करते हैं। वस्तुतः यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है और इनकी कार्य पद्धति इतनी मिलती-जुलती है कि व्यावहारिक तौर पर प्रायः इन्हें एक ही कोष समझा जाता है। इसीलिए प्रारम्भिक थिओसॉफिकल साहित्य में काम-मनस् को एक ही माना जाता था। वेदान्त में भी 'मनोमय कोष' इन दोनों कोषों के लिए प्रयुक्त होता है।

इन दोनों कोषों के एक साथ विकसित होने के कारण ही 'काम' और 'मनस' के बीच यह घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ। यदि इस पर विचार किया जाए कि विकास के प्रारम्भ से ही कामना और विचार किस प्रकार एक दूसरे को प्रभावित करते रहे तो इनके घनिष्ठ सम्बन्ध को अच्छी तरह समझा जा सकता है। कामना या वासना की उत्पत्ति का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि बाह्य विषय-वस्तुओं से प्राप्त सुख-दुःख की स्मृति या प्रत्याशा से उनके प्रति आकर्षण या विकर्षण उत्पन्न होता है तथा फिर अनेक प्रकार की कामनाओं का जन्म होता है। वासना-शरीर में उत्पन्न सुख-दुःख के संवेदनों और निम्न मनोमय कोष की स्मृति एवं प्रत्याशा के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण ही वासना और विचार के बीच उस ऐक्य और घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रारम्भ होता है और वही विकास की वर्तमान अवस्था तक भी चला आ रहा है। तीव्र होने पर कामना या वासना अपनी पूर्ति के लिए फिर सदैव निम्न मन का उपयोग करती है और अपनी सन्तुष्टि के साधन खोज लेती है। काफी समय तक निम्न मन वासना का एक सेवक ही नहीं, दास बना रहता है और उनकी माँगों की पूर्ति करके ही धीरे-धीरे विकसित होता है। परन्तु ज्यों-ज्यों मन विकसित और शक्तिशाली होता है वह वासना पर अधिकाधिक नियंत्रण करने लगता है और अन्ततः उसका स्वामी बन जाता है। वासना या कामना को वश में करने के इस कार्य में मन को आन्तरिक लोकों से अतिरिक्त शक्ति प्राप्त होती है क्योंकि विकास की अन्तिम अवस्थाओं में इन स्रोतों तक उसकी पहुँच बढ़ती जाती है।

वासना और निम्न मनोमय कोषों का इस प्रकार संयुक्त रूप से कार्य करना हमें अपने भावनात्मक जीवन में दिखाई भी देता है। यह तो बताया ही जा चुका है कि वासना और विचार की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही भावनाओं का जन्म होता है। इसीलिए किसी भावना का अनुभव होने पर हमारे दोनों शरीरों में एक साथ कम्पन उत्पन्न होने लगते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधारण व्यक्ति के जीवन में भावनाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका समझ लेने पर हमें यह बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा कि ये दोनों शरीर कितना मिल-जुलकर कार्य करते हैं।

इस प्राथमिक विवेचन के पश्चात् अब हम निम्न मनोमय कोष के कार्यों का विचार करेंगे। वासना शरीर के कार्यों का विचार करते समय हमने देखा था कि उसका पहला कार्य भौतिक इन्द्रियों से प्राप्त कम्पनों या स्पन्दनों को संवेदनों में परिवर्तित करना है। स्थूल शरीर की ज्ञाने-न्द्रियों से टकराने वाले कम्पन स्नायुओं या नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क के सम्बन्धित भाग में पहुँचाए जाते हैं। वहाँ से वे वासना-शरीर में प्रति-बिम्बित होते हैं। वासना-शरीर में स्थित केन्द्रों द्वारा वे संवेदनों में परि-वर्तित होते हैं। प्रतिबिम्वन की यह प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हो जाती। एक और प्रतिबिम्बन से वे निम्न मन तक पहुँचते हैं और वहाँ ये प्रत्यक्ष ज्ञान में बदल जाते हैं। जैसे कैमरे के लेंस में से जाने वाली प्रकाश की किरणें पारदर्शक प्लेट पर आस-पास के दृश्य का चित्र अंकित कर देती हैं, ठीक उसी प्रकार इन्द्रियों के मार्ग से आने वाले ये विभिन्न कम्पन मन के पर्दे पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबिम्ब बना देते हैं। ये प्रतिबिम्ब 'चिदाकाश' में बनते हैं। यह शब्द 'चित्त' से बना है और चित्त का अर्थ है निम्न मन का प्रतिबिम्ब उत्पन्न करने वाला पक्ष। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त कम्पनों द्वारा उत्पन्न इन प्रभावों के लिए 'बिम्ब' या प्रतिबिम्ब शब्द का प्रयोग थोड़ा विचित्र-सा लग सकता है। परन्तु मनोविज्ञान में अब इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग मान्य है। अतः किसी वाद्ययंत्र से उत्पन्न स्वरों से मन में उत्पन्न प्रभाव को हम श्रवण-प्रतिबिम्ब कहते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु के स्वरूप से उत्पन्न प्रभाव को हम दृश्य-प्रति-बिम्ब कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि निम्न मनोमय कोष का पहला कार्य भावनात्मक संवेगों को रंग, रूप, शब्द, रस, गंध और स्पर्श के मानसिक प्रतिबिम्बों में परिवर्तित करना है।

इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्न इन्द्रियों से प्राप्त इन मानसिक प्रतिबिम्बों को मिलाकर एक संमिश्र बिम्ब बनाना है। इसका अर्थ एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लीजिए, मेरे सामने एक सन्तरा है। आँखों के द्वारा उत्पन्न प्रभाव से मुझे सन्तरे के आकार और रंग का ज्ञान होगा। नाक के माध्यम से मुझे उसकी गंध का आभास होगा। सन्तरे को हाथ में लेने पर मुझे ज्ञात होगा कि छूने में यह कैसा लगता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। जिह्वा के द्वारा मुझे उसके स्वाद का पता चलेगा। अब सन्तरे के विषय में पूरा ज्ञान इन सब तथ्यों को मिलाकर ही होगा। निम्न मनोमय कोष का कार्य इन चारों तत्त्वों को मिला कर एक ऐसा मानसिक बिम्ब बनाना है जो उस वस्तु का एक पूर्ण चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करे।

मन इन पाँचों तत्त्वों को मिलाकर एक पूर्ण चित्र तो प्रस्तुत करता ही है, यह अपने स्मृति-भंडार से उन तत्त्वों की भी पूर्ति करता है जो उस समय उपलब्ध न हों। दूर से एक सन्तरे को देखने पर हमारे मन तक केवल दृश्य-प्रतिबिम्ब ही पहुँचता है, हमें उसके आकार और रंग का पता चलता है। परन्तु हम अपने मन में उस सन्तरे के दृश्य-प्रतिबिम्ब से बहुत अधिक देख लेते हैं और वह इन्द्रियों की आंशिक रिपोर्ट पर आधारित नहीं होता। वास्तव में होता यह है कि पहले अनेक अवसरों पर सन्तरों को देख-परख कर हमने मन में बहुत प्रकार के संस्कार या प्रभाव एकत्रित करके अपने स्मृतिभंडार में रख लिए हैं। अप्राप्त तत्त्वों की पूर्ति वह अपने इस भंडार से ही कर देता है। इस प्रकार हमें उस सन्तरे के बारे में अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो अन्यथा हमें मिल ही नहीं पाता। यदि मन संग्रह और अप्राप्त तत्त्वों की आपूर्त्ति का यह कार्य न करता और हम मन की आँखों से भी बस उतना हीं देख पाते जो इन्द्रियाँ हमारे सामने प्रस्तुत करतीं तो हमें यह बाह्य जगत् अत्यन्त ही अपूर्ण और नीरस प्रतीत होता।

ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से निर्मित प्रतिबिम्बों के सम्मिश्रण के कार्य से सम्बन्धित एक बिल्कुल विपरीत कार्य भी है। वह कार्य यह है कि जो मानसिक आवेग कई कर्मेन्द्रियों द्वारा व्यक्त हो सके उसके तत्त्वों को अलग-अलग करना। अपने सामान्य जीवन में किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए जो भी विभिन्न क्रियाएँ हमारे द्वारा होती हैं उनका समन्वय निम्न मनोमय कोष ही करता है। जैसे यदि हम अपने स्थूल शरीर को चोट पहुँचाने के लिए किसी वस्तु को अपनी ओर आते देखते हैं तो तुरन्त और स्वतः ही हमारी टाँग, हाथ और समस्त मांस-पेशियाँ ऐसी स्थिति में आ जाती हैं जो उस चोट से बचने के लिए सर्वोत्तम हो। ये सारी जटिल और कुशल क्रियाएँ निम्न मनोमय कोष द्वारा किए गए समन्वय और नियंत्रण के कारण ही सम्भव हो पाती हैं। और यह सब प्रायः इतनी तेजी से हो जाता है कि पता भी नहीं चलता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्ति के जीवन में अनुभवों की वृद्धि होने पर उसके स्मृति-भंडार में विषय-वस्तुओं के प्रतिबिम्व भी बढ़ने लगते हैं। धीरे-धीरे मन इन प्रतिविम्बों का विभिन्न प्रकार से उपयोग करने लगता है। वह इन्हें बार-बार सुव्यवस्थित क्रम से रखता है, उनका वर्गीकरण करता है और उनकी तुलना करता है। इस प्रकार धीरे-धीरे एक-एक करके हमारी तर्क, निर्णय आदि से सम्बन्धित मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं। हम धीरे-धीरे विचार करना सीखते हैं।

यह अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है कि विचार करना मन में उपस्थित प्रतिबिम्बों के बीच सम्वन्ध स्थापित करना मात्र है। अतः हमारे विचार की गुणवत्ता बहुत कुछ इन प्रतिबिम्वों के स्वरूप और उनकी संख्या पर निर्भर करती है। यदि किसी विषय से सम्बन्धित प्रतिबिम्ब मन में स्पष्ट और सही हैं तो उस विषय पर वह उस मन की अपेक्षा कहीं अच्छी तरह से विचार कर पाने की स्थिति में है जिसमें ये प्रतिबिम्ब बड़े ही अधूरे-से हों। प्रायः ऐसा लगता है कि विचार इन प्रतिविम्बों के विना ही हो जाता है। परन्तु गहराई से देखने पर पता चलेगा कि ऐसी अवस्थाओं में हम इन प्रतिबिम्बों के स्थान पर उनके प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। हमारी विचार-प्रक्रिया के आधार तो वास्तव में ये प्रतिबिम्ब ही हैं जो निरीक्षण करके, पढ़कर अथवा अन्य विधियों से निर्मित हुए हैं। जब हम बैंक जाते हैं तो वहाँ बहुत थोड़ी सी नकद राशि दिखाई देती है। अधिकांश सौदे चैकों या ड्राफ्टों के द्वारा हो जाते हैं। परन्तु हम जानते हैं कि ये सब उस नकद राशि के प्रतीक मात्र हैं जो समस्त सौदों का वास्तविक आधार है।

यद्यपि ये प्रतिबिम्ब आवश्यक हैं परन्तु अच्छे चिन्तन के लिए मन में बहुत से सुस्पष्ट प्रतिबिम्बों का होना मात्र पर्याप्त नहीं है। इसके लिए एक कलाकार की आवश्यकता है जो समस्त प्रतिविम्बों को इस प्रकार व्यवस्थित करे कि सुन्दर विचार उत्पन्न हों। यदि आप बहुमूल्य रत्नों से भरा डिब्बा एक साधारण व्यक्ति को दे दें तो वह उनका कुछ भी उपयोग नहीं कर सकेगा। परन्तु यदि उसी बक्स को आप एक अच्छे जौहरी को दे दें तो वह उनसे अत्यन्त सुन्दर और विभिन्न डिजाइन वाले रत्नाभूषण बना देगा। इसी प्रकार पढ़कर या निरीक्षण करके अपना ज्ञान मात्र बढ़ा लेना और इस प्रकार अपने मानसिक प्रतिबिम्बों की संख्या बढ़ा लेना पर्याप्त नहीं है। हमें गहराई से और निरन्तर तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तक चिन्तन करते रहना चाहिए जब तक कि एकत्रित सामग्री से हम सुन्दर या जीवनोपयोगी विचार उत्पन्न करना न सीख लें।

निम्न मन के कार्यों का अध्ययन करते समय कम से कम एक संक्षिप्त सा संकेत उस भ्रम की ओर कर देना आवश्यक है जो किसी चीज को उसके अपवर्तित माध्यम से जानने में निहित है। जब तक हम निम्न मन के क्षेत्र में हैं हमारे प्रतिबिम्ब नाम और रूप तक सीमित होते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि उस स्थिति में हम वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जान ही नहीं सकते। प्रतिबिम्ब एक सापेक्षिक चीज है। उससे हम उस वस्तु का सम्पूर्ण चित्र नहीं वरन् केवल एक आंशिक भाग ही देख पाते हैं। यद्यपि हम उस वस्तु के सम्पर्क में आने पर अपने मन में यह कल्पना कर लेते हैं कि हम उस वस्तु के सही स्वरूप को जान गये हैं। एक साधारण सी वस्तु के इन्द्रियानुभव को ही ले लीजिए। विभिन्न ओर और दूरियों से उसे देखने पर हजारों विभिन्न स्वरूप दृष्टिगोचर होंगे। इनमें से कोई भी वस्तु का सम्पूर्ण और सही रूप प्रस्तुत नहीं करता। यदि ज्ञान इन्द्रियपरक नहीं है तो किसी विषय-वस्तु का सही ज्ञान प्राप्त करने में कठिनाइयाँ और भी अधिक हो जाती हैं। अतः हम सचेत रहें और मन की क्रियाओं पर आधारित अपने दृष्टिकोण और विचारों को हम जीवन की वास्तविकताएँ न मान बैठें क्योंकि वे यदि विकृत नहीं तो केवल आंशिक निरूपण ही होते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मन के माध्यम से वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप समझने या जानने का प्रयास व्यर्थ है। मन के परे जाने पर तथा सत्य के प्रकाश में उन्हें देखने पर ही हम उन्हें यथार्थ में जान सकते हैं। यह ठीक इसी प्रकार जैसे स्पेक्ट्रम के रंगीन प्रकाश में रहने वाला जीव तब तक जान ही नहीं सकता कि श्वेत प्रकाश कैसा होता है जब तक कि वह प्रिज्म के परे न जाए और उस प्रकाश को देखे जो उस रंगावलि को उत्पन्न करता है।

निम्न मन के कार्यों का अध्ययन करते समय साधक का ध्यान दो बातों की ओर आकृष्ट किया जा सकता है। एक तो यह है कि जिन विषय-वस्तुओं को हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों से देखते हैं उनका केवल इन्द्रिय-जन्य प्रतिबिम्ब ही हमारे मन में होता है। वह उस विषय-वस्तु का सही प्रतिबिम्ब नहीं होता। जिन सामान्य बाह्य विषय-वस्तुओं को हम देखते हैं वे केवल स्पन्दित परमाणुओं और अणु के संग्रहण मात्र हैं। उनमें जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूप, आकार, रंग आदि हम देखते हैं वे केवल हमारे मन में होते हैं, उन वस्तुओं में नहीं। हमारे मन में जो मानसिक प्रतिविम्व बनता है उसको उत्पन्न करने में वह विषय-वस्तु तो एक अज्ञात उप-कारण मात्र होती है। इस प्रकार हम वस्तुतः अपने मन में निर्मित मानसिक प्रतिबिम्वों की दुनिया में रहते हैं और उसी दुनिया को हम बाहर निरूपित करते हैं। जिस प्रक्रिया द्वारा यह निरूपण होता है उसे 'विक्षेप' कहते हैं। अपने मानसिक जगत् को ही बाहर निरूपित करने की प्रक्रिया से दो बातें हमें स्पष्ट हो जानी चाहिए। प्रथम, जिस दुनिया में हम जीते हैं वह वास्तव में हमारे अन्तर में है, हमारे मन में है। द्वितीय, हम वास्तव में अत्यधिक भ्रान्तियों के वीच रहते हैं और इसका हमें ज्ञान तक नहीं होता।

निम्न मनोमय कोष के कार्यों के सम्वन्ध में हमें अन्तिम बात यह समझनी है कि मनोमय कोष और मूर्त मन, दो भिन्न चीजे हैं। मनोमय कोष सूक्ष्म पदार्थों से निर्मित एक कोष है। यह प्रकृति का एक मनोभावरहित यंत्र मात्र है। मन या निम्न मनस् निम्नलोकों की सीमाओं में कार्यरत चेतना का ही एक स्वरूप है। यह चेतना ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए निम्न मनोमय कोष का उपयोग करती है। यह सजीव है, चेतना के गुणों से युक्त है और पुरुष में अवस्थित है। मनोमय कोष को मन समझ लेने की यह प्रवृत्ति सामान्यतः देखी जाती है। इन दोनों में अन्तर न समझ पाने के कारण ही कुछ साधकों के मन में अतिभौतिक लोकों की क्रियाओं के सम्बन्ध में कभी-कभी भ्रम बना रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : ९

निम्न मन का नियंत्रण, परिष्करण और विकास

वासना शरीर की तरह हम पहले निम्न मनोमय कोष के नियंत्रण की समस्या पर विचार करेंगे क्योंकि उसके परिष्करण एवं विकास के लिए उसकी क्रियाओं पर थोड़ा नियंत्रण आवश्यक है। जैसा कि अभी स्पष्ट हो जाएगा, वासना शरीर और निम्न मनोमय कोष की संरचना में समानता और दोनों के बीच अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण इन दोनों कोषों पर नियंत्रण प्राप्त करने की विधियों में भी समानता है। अतः जो कुछ वासना शरीर के नियंत्रण के बारे में कहा जा चुका है वह निम्न मनोमय कोष पर भी लागू होगा।

निम्न मन पर नियंत्रण प्राप्त करने में पहला कार्य इसे अपने से पृथक् देख पाना और इस प्रकार इसे अपनी चेतना से भिन्न समझना है। असभ्य और अर्द्ध-सभ्य लोग तो अभी भी अपने आपको स्थूल शरीर ही समझते हैं। परन्तु अधिकांश सभ्य लोग इस अवस्था को पार कर चुके हैं और स्वयं को स्थूल शरीर से भिन्न समझते हैं। उनमें से कुछ तो अपने आपको अपनी वासनाओं और भावनाओं से भी अंशतः पृथक् कर पाते हैं और उन्हें अस्पष्ट-सा भान होता है कि अन्तर में तरंगित होने वाली जिन भावनाओं में वे प्रायः बह जाते हैं वे भावनाएँ वे नहीं हैं। परन्तु ऐसे लोग सचमुच बहुत ही कम हैं जो स्वयं को अपने मन से पृथक् कर सकें। मन तो उन्हें अपने जीवन का अभिन्न अंग प्रतीत होता है। चेतना का अपने कोष से तादात्म्य इतना अधिक हो जाता है कि चेतना को मन से पृथक् करने का प्रयत्न करने पर ऐसा लगता है मानो अब कुछ शेष ही नहीं बचा। फिर भी, जो मन को नियंत्रित करना चाहता है उसे अपने आपको मन से पृथक् देख पाना अत्यन्त आवश्यक है। विधिवत् संयम के द्वारा मन को नियन्त्रित करने तथा उसे निर्मल और सशक्त बनाने के प्रयत्न से धीरे-धीरे साधक को नियंत्रक और नियंत्रित के द्वैत का अधिकाधिक भान होने लगेगा, परन्तु मन को अपने से पृथक् देख पाने की क्षमता प्राप्त करने के लिए प्रारम्भ में यह आवश्यक है कि कुछ समय तक मन की गतिविधियों का निरीक्षण किया जाए। तब ही साधक मन की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवृत्तियों और विशिष्टताओं को जान सकेगा और अपने आपको उससे पृथक् कर पाने का अभ्यास कर सकेगा।

इस दिशा में थोड़ी क्षमता प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही साधक को निम्न मनोमय कोष की क्रियाओं पर सामान्य नियंत्रण का अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। इसके लिए पहला कदम यह है कि दिन-भर में जो भी कार्य करना है उसे एकाग्रता से करने की आदत डाली जाए। एकाग्रता और ध्यान का अभ्यास करने वाले बहुत-से लोग यह नहीं जानते कि थोड़ी देर के मानसिक अभ्यास का परिणाम बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि दिन के शेष भाग में वे अपने मन का किस प्रकार संयम और उपयोग करते हैं। जो व्यक्ति अपना सामान्य दैनिक कार्य करते समय अपने मन को चाहे जहाँ विचरने देता है वह ध्यान के समय कभी भी अपने मन को एकाग्र नहीं कर सकता क्योंकि दिन भर मन के इस प्रकार विचरण करते रहने से अस्थिरता एक प्रवृत्ति बन जाती है। एकाग्रता और ध्यान के थोड़े से समय में उस प्रवृत्ति पर काबू नहीं पाया जा सकता। अतः जो भी कार्य सामने आए उसे सामान्य-सा ध्यान देकर करने की अपेक्षा उसे अपने मन की पूर्ण एकाग्रता से करने की हमें आदत डालनी चाहिए। मन के विचरण करने की प्रवृत्ति के संदर्भ में यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि कार्य आवश्यक है अथवा अनावश्यक है। इसलिए, चाहे हम पत्र लिख रहे हों, या पुस्तक पढ़ रहे हों अथवा किसी से बातें कर रहे हों, मन एकाग्र होना चाहिए। अपने सामान्य जीवन में हमें जो भी कार्य करना पड़े हमारा सारा मन उसमें लग जाना चाहिए। इस अभ्यास से हमारा कार्य तो अच्छा होगा ही, मन पर विजय प्राप्त करने का आधार भी तैयार हो जाएगा—यही तो आत्म-साधना के प्रत्येक साधक का एक प्रमुख लक्ष्य होता है।

मन को चाहे जहाँ विचरने देने वाले अधिकांश लोग ऐसा सोचते हैं कि यदि उन्होंने अपने प्रत्येक कार्य को पूर्ण एकाग्रता से किया तो जीवन अत्यन्त थका देने वाला और कठिन हो जाएगा। परन्तु यह एक गलत धारणा है। इस अभ्यास में थोड़ी जागरूकता की तो आवश्यकता होती ही है और प्रारम्भ में थोड़ी थकान भी होती है। परन्तु धीरे-धीरे एकाग्रता की आदत हो जाती है। तब मन बिना थकान अनुभव किए प्रत्येक कार्य करने में स्वतः एकाग्र हो जाता है। मन तो आदतों वाला यंत्र है और यदि एक बार ठीक-से आदत बन जाए तो एकाग्र होना सरल हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसके साथ-साथ एक अभ्यास और करना चाहिए। वह अभ्यास है मन में प्रवेश करने वाले विचारों का निरन्तर चयन करते रहना। यदि हम किसी विशेष मानसिक क्रिया में व्यस्त नहीं होते तो मानसिक वातावरण में मँडराने वाले सभी प्रकार के विचार हमारे मनोमय कोष से आकर टकराते हैं और उस कोष में भी उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। असामान्य दृष्टि से किए गए अनुसंधान से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि जिन विचारों का हमें भौतिक जगत् में बोध होता है वे कोई अस्पष्ट चीजें नहीं हैं। ये मनोलोक की सुस्पष्ट चीजें होती हैं। इनके विशिष्ट रूप और कम्पन शक्तियाँ होती हैं। जब कोई विचार-रूप अथवा विचार-रूपों से उत्पन्न कम्पन हमारे मनोमय कोष से टकराते हैं तो ये अपने समान ही कम्पन उत्पन्न करते हैं और हमें कम्पन से सम्बन्धित विचार का बोध होता है। निस्संदेह, हमारे मन में इस प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी विचार बाहर से नहीं आते। उनमें से कुछ तो स्वयं मनोमय कोष द्वारा प्रारम्भ की गई क्रिया के परिणाम होते हैं। परन्तु इन दो प्रकार के विचारों में अन्तर कर पाना प्रायः कठिन होता है।

चाहे विचार बाहर से आएँ अथवा स्वयं-प्रेरित हों, मन इतना सक्षम होना चाहिए कि उनमें सदैव अन्तर्भेद कर सके और किसी भी अवांछनीय विचार को मन में टिकने ही न दे। विषयासक्ति, घृणा, प्रतिशोध, ईर्ष्या, घमंड के विचार हमें चारों ओर से घेरे ही रहते हैं। पवित्र और सज्जन व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न थोड़े से अच्छे विचार निम्नस्तरीय विचारों की अपार भीड़ में खो जाते हैं। इसलिए यदि हम अपना मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखना चाहते हैं तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि सभी प्रकार के बुरे विचारों के प्रति हम दृढ़-निश्चयी होना सीखें।

याद कोई बुरा विचार हमारे मन में प्रवेश करना चाहे तो उसे रोकने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि हम तुरन्त अपना मन यथासम्भव किसी उच्च या सुन्दर विचार की ओर मोड़ दें। मन एक समय में एक बात ही सोच सकता है। अपना ध्यान किसी अन्य ओर मोड़ देने मात्र से पहला विचार सहज ही निकल जाएगा। उस विचार पर ध्यान केन्द्रित करके उससे लड़ने का प्रयत्न तो कभी करना ही नहीं चाहिए। इससे तो वह और भी शक्तिशाली हो जाएगा और उसे मन से निकाल पाना अत्यन्त कठिन हो जाएगा। यदि आग पकड़ने वाले पदार्थ में अचानक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जलती हुई दियासलाई गिर जाए तो आग रोकने का सर्वोत्तम तरीका उसे तुरन्त बुझा देना है। यदि उस पदार्थ को आग पकड़ने का समय मिल गया तब तो आग बुझाने का कार्य कहीं अधिक कठिन हो जाएगा।

यदि इस अभ्यास को काफी समय तक किया जाय और विभिन्न प्रकार के विचारों में अन्तर्भेद करने की आदत पड़ जाए तो मन स्वतः बुरे विचारों को हटा देगा और उन्हें रोकने के लिए किसी सचेतन प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होगी। सम्पूर्ण मनोमय कोष में एक नई कम्पन-गति उत्पन्न हो जाती है। जो कम्पन उस गति के अनुरूप नहीं होंगे वे मनोमय कोष को प्रभावित ही नहीं कर सकेंगे। वैज्ञानिक भाषा में इसी को मन का परिशुद्ध होना कहा जाएगा। वास्तव में तो यह होता है कि धीरे-धीरे मनोमय कोष की संरचना ही बदल जाती है और मानसिक लोक के शुद्ध पदार्थों के सम्मिश्रण का इसमें प्राधान्य हो जाता है। इस प्रकार इस कोष के लिये उच्च विचारों को व्यक्त कर पाना सरल हो जाता है और जिन्हें हम बुरे विचार कहते हैं उनसे यह कोष प्रभावित ही नहीं होता।

हमें यह याद रखना चाहिए कि बाहर की कोई भी बुराई हमें तब तक प्रभावित नहीं करती जब तक कि उस बुराई को ग्रहण करने वाला कोई तत्त्व पहले से ही हमारे अन्दर न हो। शराब की चाह से पूर्णतः मुक्त व्यक्ति शराबियों की संगति में लेश मात्र भी प्रभावित हुए बिना घूम-फिर सकता है। परन्तु यही बात उस व्यक्ति के लिए अत्यन्त ही जोखिम भरी होगी जिसमें अभी पीने की चाह छिपी है, चाहे वह पीने का आदी न हो। हमारे लिए यह सदैव सम्भव नहीं होता कि हम मनचाहा वातावरण या साथी चुन सकें अथवा उन पर किसी प्रकार का नियंत्रण रख सकें। अतः अपने मानसिक स्वास्थ्य की सुरक्षा का एक ही उपाय है—हम स्वयं अपने आपको इन बुराइयों के प्रति दृढ़ निश्चयी बना लें। तब हम किसी भी वातावरण में सुरक्षित होकर घूम सकते हैं। अपने कम्पनों की उच्च गति से हम अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को भी धीरे धीरे ऊपर उठा सकेंगे।

बाहर से आने वाले विचारों के प्रति अनवरत सतर्कता और निश्चयात्मक दृष्टिकोण के इस अभ्यास से हमारा मानसिक स्वास्थ्य तो सुधरेगा ही, धीरे-धीरे मन भी निर्मल होगा। साथ ही हमारे मन में वह स्थिरता भी आयेगी जो सफल ध्यान के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। इस अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में सबसे कठिन समस्या ध्यान-काल में विक्षेप उत्पन्न करने वाले विचारों को रोकने की है। निश्चयात्मक दृष्टिकोण अपनाना और उनकी ओर ध्यान ही न देना, इन विचारों से निबटने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का सही तरीका है। दिन भर अनवरत सतर्कता के अभ्यास से निश्चयात्मक दृष्टिकोण बनाए रखने में तथा बाह्य दबावों का प्रतिरोध करने की शक्ति प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। यह शक्ति ध्यान में सफलता के लिए आवश्यक है।

मन के संयम की उपरोक्त सामान्य विधि का पूरी निष्ठा से अभ्यास साधारण सांसारिक व्यक्ति के लिए भी सहायक सिद्ध होगा, भले ही उच्च आध्यात्मिक जीवन की आकांक्षा ही उसमें न हो। उसे लगेगा कि वह अधिक कुशल और संयमित हो गया है, जीवन में प्राप्त कष्टों और कठिनाइयों को सहन करने के लिए पहले से अच्छी स्थिति में है। परन्तु यह सामान्य संयम-विधि उच्च आत्मिक जीवन के आकांक्षी और पूर्णत्व-पथ के साधकों की और तीव्र मानसिक साधना के लिए प्रारम्भिक तैयारी मात्र है। अब हम मानसिक साधना की उच्च अवस्थाओं का विचार करेंगे। निम्न और उच्च चेतना में ऐक्य स्थापित करने के इच्छुक प्रत्येक साधक को यह साधना करनी ही होगी।

इस उच्च साधना के दो पक्षों पर विचार किया जा सकता है। प्रथम पक्ष एकग्रता के लिए मन की कड़ी साधना से सम्बन्धित है ताकि वह ध्यान तथा अन्य आध्यात्मिक साधना के लिए तैयार हो जाए। दूसरा पक्ष मन को उन समस्त विकारों, भ्रमों और विकृतियों से मुक्त करने से सम्बन्धित है जो उसे चेतना के एक उपयुक्त यंत्र वनने में बाधक होते हैं। हम इन दोनों ही पक्षों पर अलग-अलग विचार करेंगे। पहले हम एकाग्रता और ध्यान का विषय लेते हैं।

जैसाकि पहले स्पष्ट हो चुका है एकाग्रता के अभ्यास में पहला कदम अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य में मन को एकाग्र करना है। इस प्रकार हम अपना ध्यान केन्द्रित करना सीखते हैं और मन की भटकने की प्रवृत्ति को रोकते हैं। विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने में एकाग्रता की मात्रा में बहुत अन्तर हो सकता है। साधक का यह लक्ष्य होना चाहिए कि उत्तरोत्तर एकाग्रता की गहराई बढ़ती ही जाए। अन्ततः उसका लक्ष्य मन को इतना एकाग्र कर लेना है कि किसी भी विषय या समस्या पर विचार करते समय उसे अपने आस-पास के वातावरण तथा स्वयं अपना भी भान न रहे। अपने से सम्बन्धित कार्य-क्षेत्रों में उच्च स्थान प्राप्त करने वाले संसार के सफलतम व्यक्तियों में, कुछ अंशों में इस प्रकार की एकाग्रता होती है। एकाग्रता जितनी अधिक होगी कार्य उतना ही अधिक सुन्दर होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ समय तक प्रतिदिन निश्चित अभ्यास करने से एकाग्रता की यह शक्ति प्राप्त करने में साधक को बहुत सहायता मिलेगी। इन अभ्यासों के द्वारा वह अपने साधारण दैनिक कार्यों को और अधिक तत्परता और निश्चय के साथ करने लगता है। इन मानसिक अभ्यासों में आध्यात्मिकता बिल्कुल नहीं है, जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं। इनका उद्देश्य तो शीघ्रातिशीघ्र मन को किसी भी विषय पर एकाग्र होने की कला सिखाना है और इस प्रकार उसे एक कुशल और आज्ञाकारी यंत्र बनाना है। मन पर हमारा आधिपत्य इतना पूर्ण होना चाहिए कि हम चाहे जिस कार्य पर उसे चाहे जितने समय तक लगा सकें और वह उस कार्य पर अपना ध्यान उस समय तक केन्द्रित रख सके जब तब कि वह कार्य पूरा न हो जाए या हम स्वयं उसे वहाँ से न हटाएँ। किसी विषय में अपनी रुचि होने के कारण अनचाहे भी ध्यान केन्द्रित होने की अपेक्षा स्वेच्छा से ध्यान केन्द्रित कर पाने की क्षमता ही एक मात्र कसौटी है जिससे हम अपने मन पर अपनी नियंत्रण-शक्ति की जाँच कर सकते हैं।

इस प्रकार की पर्याप्त नियंत्रण-शक्ति प्राप्त कर लेने पर ही हम ध्यान का नियमित अभ्यास कर सकेंगे। बहुत-से लोग व्यर्थ के मनोविलास या क्रमबद्ध विचार कर लेने को ही ध्यान मान लेते हैं। वे ध्यान करने बैठते हैं और मन को चाहे जहाँ विचरने देते हैं या एक निश्चित समय तक एक निश्चित विचार-श्रृंखला पर चिन्तन करते रहते हैं और इस सन्तोष के साथ उठ जाते हैं कि उन्होंने इतना समय ध्यान में बिताया। इसीलिए लगभग बिना किसी परिणाम के और अत्यल्प वास्तविक प्रगति के वे वर्षों तक ध्यान करते रहते हैं। सफल ध्यान के लिए थोड़ा मनोयोग अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी ने पहले बताई गई प्रारम्भिक बातों का अच्छी तरह अभ्यास नहीं किया है तो वह वास्तव में सफल ध्यान कर ही नहीं सकता। किसी विषय पर ध्यान का अर्थ है उसके सार-तत्त्व को निकाल लेना, उसके गहनतम अर्थ और महत्त्व को समझ लेना। और यह तब ही सम्भव हो सकता है जब हम कम से कम कुछ अंशों में तो मनोयोग प्राप्त कर लें, मन के ऊपरी क्षेत्र को छोड़कर हम उसकी गहराइयों में डूबने की क्षमता प्राप्त कर लें।

एकाग्रता का विषय अत्यन्त व्यापक और जटिल है। यहाँ इसका संक्षिप्त विवेचन ही कर रहे हैं। इसलिए उसके विस्तार में जाना सम्भव नहीं। परन्तु यहाँ एक आवश्यक और रोचक बात बता देनी आवश्यक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार किसी भाव या स्वरूप पर बहुत लम्बे समय तक मन को एकाग्र रख पाना असम्भव है। आधुनिक मनोविज्ञान में एकाग्रता का अर्थ एक निश्चित और अत्यन्त सीमित दायरे में ही मन को घूमने देने की क्षमता है। मन को इस सीमा के बाहर तो नहीं जाने देना है परन्तु उस सीमा के अन्दर विचरण करने के लिए वह स्वतंत्र होता है। यही नहीं, एकाग्रता में कमी न आ जाए इसलिए मन को उस सीमा में विचरण करते रहना ही चाहिए।

इस मान्यता के कारण ही, कुछ अंशों में, आधुनिक मनोवैज्ञानिक उस विधि से अनभिज्ञ हैं जिसके द्वारा मन के परे जाना सम्भव है। मन के परे जाने के लिए, अर्थात् मनोलोक के परे दूसरे लोकों में चेतना के कार्य कर पाने के लिए—मन को किसी विचार-विशेष पर स्थिर रखने की क्षमता प्राप्त करना आवश्यक है। उसे एक सीमित दायरे के भीतर घूमने के लिए स्वतंत्र न छोड़ दिया जाए। मन एक विचार पर केन्द्रित हो जाए और उसकी गहराइयों में डूबता रहे। यह एक ऐसा कार्य है जिसे मनोवैज्ञानिक असम्भव मानते हैं। यदि कोई व्यक्ति बाह्य प्रभावों से तनिक भी प्रभावित या विचलित हुए बिना अपने मन को किसी विचार पर काफी समय तक स्थिर रख पाने की क्षमता प्राप्त कर लेता है तो वह अगले महत्त्वपूर्ण अभ्यास के लिए तैयार हो जाता है। वह अभ्यास है मन से विचार को भी निकाल देना और चेतना में किसी विचार के बिना भी मन को एकाग्र और सचेत रखना। जब वह इसे सफलतापूर्वक कर पाता है तो चेतना मनोमय शरीर से निकल जाती है और निम्न मनोलोक के परे अन्य लोकों में चली जाती है। तब उसे अपने सच्चे स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तब उसे बोध होता है कि वह अमर है और दिव्य जीवन का एक अंश है। तब वह निम्न जीवन की भ्रान्तियों के थोड़ा-बहुत परे जाने तथा जीवन का सही स्वरूप समझने की स्थिति में होता है। यह सत्य है कि उपलब्धि और ज्ञान-प्राप्ति के और भी अधिक विस्तृत क्षेत्र उसके सामने होते हैं। परन्तु जीवन की वास्तविकताओं की एक झलक देख लेने पर वह पहले जैसा मनुष्य रह नहीं सकता। निम्न लोकों में लौट आने पर इन लोकों की निहित सीमाएँ फिर उनके चारों ओर होंगी। परन्तु उसने तो सत्य के दर्शन कर लिए हैं। जिन चित्रों को वह पहले देखता था उन्हें अब भी देखेगा परन्तु एक नये प्रकाश में—जिसकी झलक उसे मिल चुकी है।

मानसिक साधना और अभ्यास का यही फल है। जीवन की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वास्तविकताओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक साधक को यह साधना करनी ही होगी। इस साधना की उच्च अवस्थाएँ आध्यात्मिक जीवन की उस विशिष्ट प्रक्रिया के अंग हैं जिसे योग कहते हैं। मन को एक विचार पर केन्द्रित रखने और फिर उस विचार को भी छोड़ देने के अभ्यासों में समाधि की विभिन्न अवस्थाओं का योगाध्ययन करने वाला साधक सहज ही समझ लेगा।

अब हम मानसिक संयम के दूसरे पक्ष पर विचार करेंगे। इनका सम्बन्ध मन को शुद्ध करने तथा समस्त विक्षेपों को दूर करने से है। ये विक्षेप हमारे जीवन में उचित मानसिक क्रियाओं के सम्पादन में बाधक होते हैं।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि निरन्तर सतर्कता की आदत और बुरे और अपवित्र विचारों को मन में न आने देने के प्रयत्न से वह धीरे-धीरे परिशुद्ध होता है। ध्यान के अभ्यास से यह प्रक्रिया और भी तीव्र हो जाती है और परिशुद्धि की एक उच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है। ध्यान काल में आध्यात्मिक विषयों पर गहरा चिन्तन करने से मनोमय कोष में नियमित रूप से उच्च कम्पन उत्पन्न होने लगते हैं। उच्च लोकों से अत्यन्त प्रबल आध्यात्मिक शक्तियों का प्रवाह भी हमारे मनोमय कोष में होने लगता है। इस दोहरी प्रक्रिया से मानसिक पदार्थों के वे सभी सम्मिश्रण, जो उच्च गति से कम्पित नहीं हो पाते, मनोमय कोष से बाहर निकल जाते हैं। उनके स्थान पर ऐसा सुन्दर पदार्थ इस कोष में आ जाता है जो आध्यात्मिक विचारों और प्रेरणाओं को तुरन्त ग्रहण कर सके। इसीलिए मनोमय कोष को शीघ्रता से और सफलतापूर्वक परिशुद्ध करने में तथा आन्तरिक लोकों से प्रवाहित सूक्ष्म शक्तियों के लिए उसे अत्यन्त संवेदनशील बनाने में ध्यान सबसे शक्तिशाली साधन है।

अब हम एक अन्य बाधा का विचार करेंगे जिसके कारण हम अन्तः-स्थित दिव्य जीवन के प्रभावशाली यंत्र के रूप में अपने मनोमय कोष का प्रयोग नहीं कर पाते। मनोग्रंथियों और विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रहों द्वारा मन में उत्पन्न विकृति ही वह बाधा है। मनोमय कोष के प्रभा-मण्डल को असामान्य दृष्टि से देखने पर ज्ञात हुआ है कि जब कोई व्यक्ति किसी विषय में पूर्वाग्रह बना लेता है तो उस प्रकार के विचार से सम्बन्धित मनोमय कोष के क्षेत्र में एक विचित्र-सा रूपान्तरण हो जाता है। गुह्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi.

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्या के साधक अच्छी तरह जानते हैं कि विभिन्न प्रकार के विचारों के लिए मनोमय कोष में विभिन्न स्थान इसी प्रकार निश्चित होते हैं जैसे मस्तिष्क में विभिन्न इन्द्रियों और मानसिक क्रियाओं के स्थान निश्चित होते हैं। यदि किसी विषय में किसी व्यक्ति का पूर्वाग्रह बहुत पक्का है तो मनोमय कोष का सम्बन्धित विशिष्ट भाग प्रवाहित होता है। उस भाग के मानसिक पदार्थ की निर्विघ्न गतिशीलता समाप्त हो जाती है। और एक अस्वस्थ स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसके फलस्वरूप उस विषय पर स्पष्ट और सही सोचने की मन की क्षमता समाप्त हो जाती है। यदि ऐसे पूर्वाग्रहों की संख्या अधिक है और मनोमय शरीर काफी विक्षिप्त है तो स्वस्थ क्रियाओं के लिए उसकी क्षमता अत्यन्त सीमित हो जाती है। ब्रह्मविद्या के साधक की ऐसी सभी ग्रंथियाँ खुल जानी चाहिए और उसका मन निष्पक्ष और उन्मुक्त हो जाना चाहिए। तभी मन वास्तव में जीवात्मा के यंत्र के रूप में कार्य कर सकता है। अपने साधारण जीवन से सम्बन्धित बातों में भी हम जानते हैं कि विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रहों का हमारी मानसिक क्रियाओं पर कितना अवरोधक प्रभाव पड़ता है और वे हमारे दृष्टिकोण को कितना संकुचित बना देते हैं। आत्म-ज्ञान के साधक के लिए इन विकृतियों का होना तो और भी अधिक हानिकारक हो सकता है क्योंकि उसे तो उच्च लोकों से ज्ञान को अपने मनोमय कोष में लाना है। यदि वह अपने मानसिक कार्यों के लिए एक स्वस्थ और विश्वसनीय यंत्र चाहता है तो इस प्रकार की सभी ग्रंथियों को उसे अपने मनोमय कोष से विधिवत् निकालना ही पड़ेगा।

अपने मानसिक जीवन में सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों को सहन करते रहने की हमारी सामान्य प्रवृत्ति होती है। गहरे पूर्वाग्रहों से उत्पन्न महान् विकृतियाँ केवल उस प्रवृत्ति के ही उग्र स्वरूप होते हैं। अतः यह उचित ही होगा यदि मानसिक पूर्वाग्रहों, अर्थात् जीवन में हर चीज को रंगीन चश्मे से देखने की प्रवृत्ति पर थोड़ा विचार कर लिया जाए। इसे अपनी प्रमुख विचारधारा का विषयान्तर मात्र नहीं बल्कि आत्म-साधना का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण भाग समझना चाहिए। निम्न लोकों की सीमाओं में यथासम्भव चीजों को जैसी वे हैं वैसी ही देख पाना आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए एक प्रारम्भिक आवश्यकता है। इसमें सबसे बड़ी बाधा हमारे मन में बैठे गहरे पूर्वाग्रहों और मनोग्रंथियों से उत्पन्न होती है। विषयों और परिस्थितियों पर विचार करते समय पर्याप्त सूचना या तथ्यों के अभाव को, कुछ अंशों में, बुद्धि से प्राप्त प्रकाश से पूरा किया जा सकता है। परन्तु सभी प्रकार की मनोग्रंथियों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से भरे हुए मन के विकृत माध्यस से बुद्धि कार्य ही नहीं कर पाती। इसी कारण ऐसे मन के लिए चीज़ों को सही रूप और परिप्रेक्ष्य में देख पाना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन हो जाता है।

अब हम देखें कि पूर्वाग्रह उत्पन्न कैसे होता है और चीजों को देखने में थोड़ी-बहुत विकृति का आना अनिवार्य-सा क्यों होता है। विकृति का न आना तो तभी सम्भव है जब हम मन के परे जाकर तथा इसके विकारोत्पादक प्रभाव से मुक्त होकर जीवन को देख सकें। यह तो हम देख ही चुके हैं कि प्रत्येक मनोमय कोष की विशिष्ट कम्पन-क्षमताएँ होती हैं। मनोमय कोष के पूर्व विकास, उसकी संरचना तथा विभिन्न समस्याओं पर सोचने में उसकी कम्पनशीलता के अनुरूप ही उसकी ये क्षमताएँ होती हैं। इन कम्पन-क्षमताओं में से कुछ तो क्रियाशील होती हैं और कुछ अन्य संस्कारों या प्रवृत्तियों के रूप में सुप्तावस्था में रहती हैं। मनोमय कोष की इन प्रवृत्तियों के कारण मन के सामने प्रस्तुत किसी भी विचार या दृष्टिकोण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो ही जाता है। चेतना में उत्पन्न मानसिक प्रभाव ठीक वैसा नहीं होता जैसा कि उस विचार के शुद्ध स्वरूप से होना चाहिए। अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि किसी भी बाह्य विचार को ग्रहण करने से पूर्व यदि हम मन में विद्यमान इन प्रवृत्तियों को रोक या निकाल न दें तो हम उस वस्तु या विषय से सम्बन्धित विचार को उसके वास्तविक स्वरूप में देख ही नहीं सकते। हम तो उसे सदैव अपने स्वयं के विचारों द्वारा परिवर्तित रूप में ही देखेंगे। निष्पक्ष मन का अभिप्राय ही यह है कि मन में क्रियाशील या सुप्त प्रवृत्तियों को रोक दिया जाए अथवा उन्हें निष्क्रिय बना दिया जाए। यह क्षमता बड़ी कठिनाई और कड़ी तथा लम्बी मानसिक साधना से प्राप्त होती है। अधिकांश लोग तो सभी प्रकार के रंगीन चश्मे पहन कर जाते हैं और उन्हीं के माध्यम से प्रत्येक वस्तु को देखते हैं। उन्हें इस बात का भान तक नहीं होता कि उनके आस-पास की वस्तुओं और व्यक्तियों के विषय में उनके विचारों में कोई गलती भी है। जब ये मानसिक प्रवृत्तियां एक विशिष्ट क्षेत्र में केन्द्रित हो जाती हैं तो हमारे पूर्वाग्रह अत्यन्त बेतुके होते हैं। वे हमारे मानसिक दृष्टिकोण को अत्यन्त संकुचित बना देते हैं। हमारे मन पर पट्टियाँ बाँध देते हैं और उन विशिष्ट विषयों के सम्बन्ध में तो वे हमें कभी-कभी लगभग अन्धा ही बना देते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह अत्यन्त ही स्पष्ट है कि अपने विचारों के सम्बन्ध में अत्यधिक सावधानी रखना कितना आवश्यक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिकांश लोगों की भाँति हम अपने विचारों और मतों से कस कर चिपके न रहें बल्कि उनमें सहजता रखें। आखिर हमारे विचार या मत क्या हैं? चीजों को मानसिक दृष्टि से देखने की विशिष्ट विधियाँ ही तो विचार या मत हैं जो पूर्व चिन्तन के आधार पर हमें प्राप्त हुई हैं। विधियाँ बदली जा सकती हैं और हमारे विकसित होने तथा अधिक अनुभव प्राप्त करने पर ये बदलेंगी भी। ये तो हमारे मानसिक जीवन के अस्थायी स्वरूप हैं और जीवन की अन्य परिवर्तनशील चीजों की तरह ये भी बदलते ही रहते हैं। किसी विषय पर हमारा मत उन असंख्य विचार-स्वरूपों में से एक है जो किसी भी समय उस विषय पर सम्भव हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि एक विचार-स्वरूप में सत्य का अंश दूसरों से अधिक हो। इसी बात को हम यदि अच्छी तरह समझ लें तो अन्य लोगों के विचारों या मतों के प्रति हम अधिक सहिष्णु होंगे और अपने स्वयं के विचारों को हम अपेक्षाकृत कम महत्त्व देंगे। सत्य तो विचारों, मतों और विशिष्ट दृष्टिकोणों के परे है। सत्य-लोक में पहुँचने पर ही हम प्रत्येक चीज को सही परिप्रेक्ष्य में तथा उसके सही स्वरूप में देख सकेंगे।

निम्न मन को विकसित करने के सम्बन्ध में न तो यह सम्भव है और न आवश्यक कि मन से सम्बन्धित समस्याओं के इस संक्षिप्त विवेचन में इस सम्पूर्ण विषय पर चर्चा की जाए। बहुत-सी सुन्दर पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनमें मानसिक विकास के विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है। उनमें सांसारिक अर्थ में सफलता के इच्छुक सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण से तथा निम्न लोकों में अपने कार्य के लिए मन को एक सक्षम यंत्र बनाने के इच्छुक ब्रह्म-विद्या के साधक की दृष्टि से भी विचार किया गया है। फिर भी, कुछ मूल बातें हैं जिन्हें मानसिक विकास के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रत्येक साधक को ध्यान में रखना ही चाहिए।

इस सम्बन्ध में पहली ध्यान देने योग्य और रोचक बात यह है कि ज्ञान-प्राप्ति की ओर गुह्यविद् का सामान्य दृष्टिकोण आज के साधारण विचारशील व्यक्ति से थोड़ा भिन्न होता है। आधुनिक विज्ञान की प्रगति से विभिन्न क्षेत्रों में विस्तृत ज्ञान की खोज को प्रोत्साहन मिला है और इससे अनेक आश्चर्यजनक खोजें हुई भी हैं और ज्ञान के नए क्षितिज दिखाई देने लगे हैं। इससे भौतिक क्षेत्र में प्रकृति पर नियंत्रण प्राप्त करने में ऐसी सफलता मिली है जिसकी सौ वर्ष पूर्व स्वप्न में कल्पना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं की जा सकती थी। वैज्ञानिक कार्यों के लिए विस्तृत ज्ञान की खोज तो आवश्यक है परन्तु इससे सभी प्रकार के ज्ञान के लिए अस्वस्थ अभिलाषा उत्पन्न हो गई है जो बहुत-सी स्थितियों में स्पष्टतः व्यर्थ होती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए ऐसा अविवेकपूर्ण दृष्टिकोण अत्यन्त ही हानिकर है। इससे सही मूल्यों के हमारे बोध में कमी आती है और हम प्रायः व्यर्थ की चीजों के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण वस्तुओं का त्याग करने लगते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण हमारी आधुनिक शिक्षा-पद्धति में मिलता है। स्कूल और कालिजों में प्राप्त वहुत-सा ज्ञान इस प्रकार का होता है जिसकी वाद में जीवन में कभी आवश्यकता ही नहीं होती। इसके विपरीत, अपना जीवन ठीक से जीने के लिए अत्यन्त आवश्यक ज्ञान सिखाया ही नहीं जाता। यह हम पर छोड़ दिया जाता है कि इस ज्ञान को हम स्वयं प्रयत्न करके तथा अनेक गलतियाँ करके और वहुत-से अनावश्यक कष्ट पाकर अनिश्चित ढंग से प्राप्त करें।

गुह्यविद् ज्ञान के महत्त्व को जानता है परन्तु प्रकृति के व्यक्त स्वरूप से सम्बन्धित ज्ञान को प्राप्त करने में वह विवेक से काम लेने में विश्वास करता है। एक तो वह जानता है कि निम्न मन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान सापेक्षिक है। इसीलिए वह इस ज्ञान को उतना महत्व नहीं देता जितना कि संसार के साधारण व्यक्ति की दृष्टि में इस ज्ञान का महत्व होता है। वह उतना ही ज्ञान प्राप्त करता है जो उसके कार्य के लिये आवश्यक और उपयोगी होता है। जिस ज्ञान का उस समय कोई उपयोग न हो उससे वह अपने मन को लाद नहीं लेता। वह ज्ञान को एक प्रकार का आभूषण या शौक नहीं मानता जैसा कि हमारे कुछ विद्वान् और वैज्ञानिक मानते हैं। दूसरे, वह जानता है कि अतिभौतिक शक्तियाँ विकसितकर पाना सम्भव है। और उनकी सहायता से किसी भी आवश्यक ज्ञान को वह बिना किसी कठिनाई के प्राप्त कर सकता है। कारण शरीर और बुद्धिकोष और उनसे सम्बन्धित शक्तियों के विकास से निम्न मन में विस्तृत ज्ञान का संग्रह अनावश्यक हो जाता है क्योंकि तब इस प्रकार का ज्ञान कभी भी बड़ी सरलता से और कहीं अधिक विश्वसनीयता से उन शक्तियों के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ब्रह्म-विद्या के साधक को जीवन के भौतिक पक्ष से सम्बन्धित ज्ञान का तिरस्कार करना चाहिए अथवा निम्न मन को विकसित करने के कार्य की वह अवहेलना कर सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहुत-ही कम लोग निकट वर्तमान में अपनी अति-भौतिक शक्तियाँ विकसित कर पाने की स्थिति में हैं। आत्मानुभूति के पथ पर चलने वाले साधकों में से अधिकांश को कई जीवनों तक अपने निम्न मनोमय कोष में तथा उसके द्वारा कार्य करना होगा। इन शक्तियों के प्राप्त हो जाने पर भी उच्च लोकों से प्राप्त ज्ञान को नीचे लाने तथा उसे सही रूप में प्रस्तुत करने के लिए भी विकसित मानसिक शरीर की आवश्यकता होगी। इसलिए गुह्य-विद्या का साधक अपने मन को विकसित करने के कार्य को छोड़ नहीं सकता, अपितु उसे तो अपने विवेक का उपयोग करके अपने जीवन के महान् उद्देश्य और आदर्शों के अनुरूप इस कार्य को सही ढंग से करना होगा।

निम्न मन को विकसित करने में कौन-से सामान्य सिद्धान्त हमारी सहायता करेंगे ? कुछ आधारभूत सिद्धान्त ये हैं :

ज्ञान प्राप्त करने में हम यथासम्भव, उन विषयों तक ही सीमित रहें जिनका सम्बन्ध हमारे जीवन से है। इन विषयों के अध्ययन में भी हम सदैव आवश्यक और मूल बातों की ओर ही ध्यान दें। इसके लिए बड़े विवेक की आवश्यकता है क्योंकि ज्ञान का क्षेत्र असीमित है और हमारा जीवन अत्यन्त छोटा है। यदि जीवन में हमारा कोई लक्ष्य है तो व्यर्थ के तथ्यों और विचारों को एकत्रित करने में हमें अपना समय और शक्ति नष्ट नहीं करनी चाहिए। वास्तविक और स्थायी महत्त्व का अनन्त ज्ञान जब उपलब्ध है तो प्राप्त सीमित समय में हमें उसी ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही निर्णय करना होगा कि कौन-सा ज्ञान वास्तविक और स्थायी महत्त्व का है। फिर भी सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि वह समस्त ज्ञान महत्त्वपूर्ण है जो जीवन के प्रमुख और सहायक उद्देश्यों की पूर्ति में हमारी सहायता करे। और जिस ज्ञान का इस प्रकार उपयोग न हो सके वह ज्ञान, कम-से-कम उस समय तो, व्यर्थ ही है।

इस प्रकार विभेद कर पाने के लिए हमें तथ्यों और विचारों का मूल्यांकन करने का अभ्यास ठीक उसी प्रकार करना चाहिए जैसे एक जौहरी अपने व्यापार में रत्नों और बहुमूल्य पत्थरों का मूल्यांकन करना सीखता है। विभिन्न तथ्यों और विचारों के मूल्यों में बड़ा अन्तर होता है। थोड़े से अभ्यास से उपयोगी और अनुपयोगी विचारों में अन्तर कर पाना ही नहीं, उनके वास्तविक और सापेक्षिक महत्त्व के अनुसार उनका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्गीकरण करना भी सम्भव हो जाता है। ब्रह्मविद्या के साधक को यथा-सम्भव ध्यान रखना चाहिए कि उसके मन में मूल्यवान् विचार ही रहें। अर्थात् ज्ञान और अनुभव के स्थायी महत्व की निधि का ही वह संग्रह करे।

हमारे मन में विचार तो उच्च कोटि के होने ही चाहिए, हमें यह भी विश्वास हो जाना चाहिए कि उनका स्वरूप भी ठीक है, अर्थात् वे स्पष्ट, सुनिश्चित और वर्गीकृत हैं। तब ही हम उनका सरलता से तथा अत्यधिक लाभप्रद ढंग से उपयोग कर सकेंगे। उच्च चिन्तन अथवा जीवन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने के लिए अस्पष्ट विचारों और अवर्गीकृत तथ्यों का उपयोग किया ही नहीं जा सकता, भले ही वे अत्यन्त महत्वपूर्ण क्यों न हों।

मन को विकसित करने में हमारी सहायता करने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि मानसिक क्षमताओं और शक्तियों का विकास, यदि अधिक नहीं तो ज्ञान के संचय के समान ही आवश्यक है। मन में एकत्रित तथ्यों की संख्या से नहीं बल्कि किसी भी विषय का आसानी से ज्ञान प्राप्त करने तथा निश्चित उद्देश्य के लिए उसका उपयोग करने की उसकी क्षमता से ही मानसिक शरीर के विकास का अनुमान लगाया जाता है। ऐसा मन जो किसी भी नये विचार को सरलता से ग्रहण कर सके, उस पर सही ढंग से सोच सके और प्राप्त ज्ञान का उपयोग सभी प्रकार की समस्याओं को सुलझाने में कर सके, उस मन से कहीं अधिक महत्त्व का है जिसमें ये क्षमताएँ नहीं हैं, चाहे वह बिना आत्मसात् किए अनेक तथ्यों और विचारों से भरा हुआ क्यों न हो। हमें यह स्मरण रहे कि हमारे सौर मण्डल के ईश्वर की चेतना में समस्त ज्ञान पहले से ही विद्यमान है। हमारे कोषों में ग्रहणशीलता का अभाव है। इसीलिए हम अपनी सीमित चेतना में उस ज्ञान को नहीं ला पाते। एक पूर्ण विकसित मनोमय कोष एक अच्छे रेडियो के समान होना चाहिए। दिव्य चेतना की किसी भी विचार-तरंग में उसे मिला पाना तथा उस विषय से सम्बन्धित समस्त ज्ञान प्राप्त करना उसके लिए सम्भव होना चाहिए।

और अन्त में, यदि हम अपने मानसिक जीवन में सही दृष्टिकोण लाना चाहते हैं तो हमें अपने समस्त ज्ञान के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का अभ्यास करना चाहिए। इसका अर्थ है विभिन्न प्रकार के अपने समस्त ज्ञान को उनके बीच सही पारस्परिक सम्बन्ध के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिप्रेक्ष्य में देख पाना, मानों वे सब एक समन्वित ज्ञान के अंग हों। तभी हम समग्र ज्ञान के प्रत्येक भाग का स्थान और महत्व समझ सकेंगे और अपने मानसिक जीवन को विधिवत् और सुव्यवस्थित ढंग से विकसित कर सकेंगे। एक लोक ऐसा है जहाँ से ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ एक विशाल वृक्ष के तने में जुड़ी हुई शाखाओं के समान लगती हैं और जिसकी जड़ एक परमदिव्य चेतना में स्थित है। यदि यह एक सत्य है तो अपने ज्ञान को समन्वित करने के प्रयत्न से हम उस लोक से सम्पर्क स्थापित कर लेंगे। हमें फिर वह समन्वित दृष्टि प्राप्त होगी जिससे हम देख सकेंगे कि सारे सच्चे ज्ञान का उद्भव उस एक विश्व-चेतना से होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १०

कारण शरीर के कार्य

पाश्चात्य मनोविज्ञान में 'मन' शब्द का प्रयोग चेतना के कार्य से सम्बन्धित बहुत ही अस्पष्ट और जटिल कार्य-समूह के लिए किया जाता है। इसके निम्न छोर पर भावानुभूतियाँ और भावनाएँ हैं तथा इसके उच्च पक्ष में अमूर्त विचार और अन्तःप्रज्ञा सम्मिलित हैं। अन्तःप्रज्ञा एक ऐसी क्षमता है जिसका ज्ञान बहुत कम है और जिसे शंकास्पद समझा जाता है। यदि हम मस्तिष्क को समस्त मानसिक क्रियाओं का जन्मदाता मानते हैं तो इन तथा-कथित क्रियाओं का वर्गीकरण करने में, उचित परिभाषा का अभाव अनिवार्य ही है। वास्तव में मस्तिष्क तो एक ऐसा यंत्र है जो एक ओर तो इन्द्रियों से प्राप्त कम्पनों को एकत्रित करने का तथा दूसरी ओर उच्च, अतिभौतिक लोकों से प्राप्त विभिन्न प्रकार की शक्तियों को भौतिक चेतना में लाने का कार्य करता है। एक प्रकार से मस्तिष्क तो केवल एक ऐसा पर्दा है जिस पर विभिन्न लोकों की क्रियाओं की छाया पड़ती है। इन छायाओं से उन क्रियाओं को समझ पाना उतना ही कठिन है जितना छाया-चित्र से पर्दे के पीछे की विषय-वस्तुओं के सही स्वरूप को जान पाना। यदि कोई व्यक्ति इन विषय-वस्तुओं का ठीक से अध्ययन करना और उनके स्वरूप को ठीक से जानना चाहता है तो उसे पर्दे के पीछे जाकर उन्हें प्रत्यक्ष देखना होगा, न कि पर्दे पर उत्पन्न उनके भ्रामक स्वरूप से उनके बारे में वह अनन्त कल्पनाएँ करने का प्रयत्न करता रहे। हमारे आधुनिक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक अभी तो पर्दे पर उत्पन्न इन छायाओं के स्वरूप को देखकर छान-बीन करने तथा उनके बारे में कल्पना करने में व्यस्त हैं। परन्तु वे यह नहीं जानते कि ये छायाएँ तो पर्दे के पीछे वास्तविकताओं की छाया मात्र हैं और पर्दे के पीछे जाकर और उन वास्तविकताओं को प्रत्यक्ष देखकर ही उनका अध्ययन किया जा सकता है।

मस्तिष्क के माध्यम से व्यक्त होने वाली विभिन्न बातों का जब गुह्यविद् अध्ययन करता है तब ज्ञात होता है कि इनका प्रारम्भ तो मनुष्य के विभिन्न कोषों में होता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि मनुष्य की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संरचना जटिल है। कोषों का एक समूह उसे सभी आन्तरिक लोकों से सम्बद्ध करता है। प्रत्येक कोष अपने विशिष्ट कम्पन मस्तिष्क में भेजता है जिनके कारण हमारी स्थूल चेतना में जटिल और विविध प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। इस प्रकार हमारे संवेदन और भावनाएँ भुवर्लोक से आने वाले कम्पनों की प्रतिक्रियाओं के परिणाम हैं। मानसिक लोक के कम्पनों की हमारे स्थूल मस्तिष्क में प्रतिध्वनि ही हमारे विचारों का कारण है और भी सूक्ष्मलोकों के कम्पनों की क्षीण-सी प्रतिध्वनि ही हमारी अन्तःप्रज्ञा है। हमारी स्थूल चेतना में प्रकट होने वाली क्रियाओं के विभिन्न और विविध स्रोत होने के कारण उनका वर्गीकरण करना और उनका सम्बन्धित स्रोत निश्चित कर पाना सम्भव ही नहीं है। यह कार्य तब ही किया जा सकता है जब व्यक्ति स्वेच्छा से अपना स्थूल शरीर छोड़ने में समर्थ हो और अतिभौतिक-लोकों में सचेतन होकर उन क्रियाओं को देख सके। वास्तव में सच्चे अर्थों में गुह्य-विद्या—जो सनातन ज्ञान का आधार है—अनादि काल से सिद्ध पुरुषों द्वारा अबाध गति से किए गए ऐसे ही अनुसंधानों का परिणाम है।

विचार कही जाने वाली क्रियाओं की जाँच जब मनोवैज्ञानिक करता है तो लगता है कि उन्हें दो उप-खण्डों में रखा जा सकता है—नाम और रूप से सम्बन्धित मूर्त विचार तथा अवधारणाओं और अमूर्त सिद्धान्तों से सम्बन्धित अमूर्त विचार। दोनों ही प्रकार के विचार स्थूल चेतना में मस्तिष्क के माध्यम से प्रकट होते हैं। गुह्य-अन्वेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न इन दोनों प्रकार के विचारों का प्रारम्भ मनोलोक में चेतना के दो विभिन्न कोषों में होता है। वास्तव में सात उप-खण्डों वाला मनोलोक दो स्पष्ट भागों में विभक्त है। चार निम्न उप-खण्डों का एक भाग है और वह मूर्त विचारों का माध्यम है। तीन उच्च उप-खण्डों का दूसरा भाग है और वह अमूर्त विचारों का माध्यम है। दो भागों में यह विभाजन मनमाना नहीं है बल्कि पूर्णतः स्वाभाविक है क्योंकि दोनों भागों के उप-खण्डों के पदार्थों से दो बिल्कुल ही भिन्न कोषों का निर्माण होता है—मूर्त विचारों का माध्यम निम्न मनोमय कोष और अमूर्त विचारों का माध्यम उच्च मनोमय कोष। ये कोष दो विभिन्न प्रकार की मानसिक क्रियाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम तो हैं ही परन्तु ये दोनों हमारी आन्तरिक संरचना के दो विभिन्न भागों से सम्बन्धित हैं जैसा कि हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं। निम्न मनोमय कोष परिवर्तनशील देहात्मा का सूक्ष्मतम कोष है और प्रत्येक जन्म में बदल जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। उच्च मनोमय कोष—जिसे थिओसॉफिकल साहित्य में कारण शरीर और वेदान्त में विज्ञानमय कोष कहते हैं—अविनाशी जीवात्मा का निम्नतम कोष है और प्रत्येक जन्म में नया नहीं बनता है। अनन्त काल तक विकास-प्रक्रिया में होकर यही गुजरता है। अतः यह स्पष्ट हो गया होगा कि निम्न और उच्च मन के बीच की सीमारेखा दो मानसिक सिद्धान्तों में ही नहीं, मनुष्य के निम्न और उच्च 'स्व' में भी विभेद करती है। हम मूर्त विचारों के कोष, निम्न मनोमय कोष, की संरचना और कार्यों का अध्ययन कर ही चुके हैं। अव हम अपनी आन्तरिक संरचना में कारण शरीर के कार्य और महत्त्व पर विचार करेंगे।

जैसा कि बताया जा चुका है, कारण शरीर को रचना मनोलोक के तीन उच्च उप-खण्डों के पदार्थों से हुई है। आत्मा-बुद्धि-मनस् के माध्यम से कार्य करने वाले अविनाशी जीवात्मा का यह बाह्यतम कोष हैं। मनुष्य वर्ग में प्रवेश करने पर व्यक्तिकरण के समय प्रथम वार इसका निर्माण होता है और पशु की समूह-जीवात्मा में शिव की एक किरण प्रवेश करती है। जीवात्मा एक के बाद एक जन्मों में अनेकानेक अनुभव प्राप्त करता है। विकास-क्रम में उसकी शक्तियाँ धीरे-धीरे विकसित होती हैं। कारण शरीर उन समस्त अनुभवों और शक्तियों का संग्रहालय है। प्रारम्भ में, अर्थात् निर्माण के समय, इसका प्रभा-मण्डल अंडाकार, रंगहीन, साबुन के बुलवुले के समान दिखाई देता है। परन्तु जैसे-जैसे विकास होता है और जीवात्मा की शक्तियाँ सुप्तावस्था से क्रियाशील होकर कार्य करने लगती हैं धीरे-धीरे इसमें देदीप्यमान रंग प्रकट होने लगते हैं। सिद्ध-पुरुष का कारण शरीर तो आकार में बहुत बढ़ जाता है और कल्पनातीत सौन्दर्य वाले विभिन्न रंग उसमें चमकने लगते हैं। अपनी स्थूल चेतना की सीमाओं के कारण इन उच्च लोकों की स्थिति और स्वरूप की कल्पना कर पाना हमारे लिए कठिन है क्योंकि ये उच्च आयामों वाले लोक हैं। असामान्य दृष्टि से देखकर जो कुछ ज्ञात हुआ है उसके आधार पर कुछ लेखकों ने इनका वर्णन करने का प्रयत्न अवश्य किया है। अतः हम अब कारण शरीर के कार्यों का विचार करते हैं क्योंकि बहुत-से साधक इन कार्यों को समझने में कठिनाई अनुभव करते हैं और कभी इन्हें निम्न मन का और कभी बुद्धि का कार्य समझ लेते हैं। इस समस्या को सरल करने के लिए हम इन कार्यों का एक-एक करके विचार करेंगे।

कारण शरीर का पहला कार्य यह है कि यह अमूर्त विचारों के कोष के रूप में कार्य करता है। इसका अर्थ है कि अमूर्त विचार या अवधारणाओं की उत्पत्ति उन पदार्थों की कम्पन-क्षमता पर निर्भर करेगी जिनसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चेतना के इस कोष का निर्माण हुआ है। जिस प्रकार भावनाओं और संवेदनाओं का कारण वासना-शरीर के कम्पन हैं, और नाम-रूप वाले मूर्त विचार निम्न मनोमय कोष के कम्पनों से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अमूर्त विचारों की उत्पत्ति कारण-शरीर के कम्पनों से होती है।

बहुत से व्यक्तियों ने मनोविज्ञान का अध्ययन नहीं किया है। अतः वे मूर्त और अमूर्त विचारों के अन्तर को स्पष्टतः नहीं समझ पाते। इसलिए पहले इस पर थोड़ा विचार करना उचित ही होगा। एक मूर्त और अमूर्त विचार में क्या अन्तर है? इस अन्तर को समझने की सर्वोत्तम विधि कुछ उदाहरण ले लेना है। गणित शास्त्र में हमें इसके सर्वोत्तम उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, हम एक त्रिभुज को लें। विभिन्न स्वरूप और आकार के असंख्य त्रिभुज खींच लेना या उनकी कल्पना कर लेना सम्भव है—समद्विबाहु त्रिभुज, समकोण त्रिभुज, विषम बाहु त्रिभुज, छोटा त्रिभुज या बड़ा त्रिभुज। खींचे गए या कल्पित असंख्यों त्रिभुजों का आकार या स्वरूप कुछ भी हो, कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो सभी त्रिभुजों में मिलेंगी और उन्हीं के कारण किसी त्रिभुज को त्रिभुज कहा जा सकता है। ये ही एक त्रिभुज की विशिष्टताएँ होती हैं। गणित शास्त्र में इन विशिष्टताओं को स्पष्टतः पारिभाषित किया गया है। जितने भी त्रिभुजों की कल्पना की जा सकती है उनको देखने पर हमें उन सबमें ये विशेषताएँ मिलेंगी। अतः हम इन त्रिभुजों की विशिष्टाओं को समझकर एक आदर्श त्रिभुज की परिकल्पना कर सकते हैं। इस आदर्श त्रिभुज का कोई आकार या स्वरूप नहीं होगा। यह केवल एक अवधारणा होगी। हम इसकी कल्पना अपने मन में नहीं कर सकते क्योंकि एक त्रिभुज की कल्पना करते ही एक मूर्त त्रिभुज हमारे सामने आ जाता है। इसी प्रकार हम रेखागणित की एक आकृति वृत्त या वर्ग को ले सकते हैं। जितने भी वृत्तों या वर्गों की हम कल्पना कर सकते हैं उनसे हम इन आकृतियों की विशिष्टताओं को समझ सकते हैं। हम यह अच्छी तरह नहीं समझ पाते कि जब हम 'एक घोड़ा' कहते हैं तो हम किसी एक पशु विशेष की बात नहीं कहते बल्कि अनेक घोड़े देखने के पश्चात् जो एक अवधारणा या विचार हमारे मन में बना हम उसकी ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार की सामान्य संज्ञाएँ एक तरह से अवधारणा मात्र हैं और इनका निर्माण इस प्रकार की अनेक वस्तुओं को देखकर हुआ है। उनकी आवश्यक विशिष्टताओं को लेकर एक ऐसी अवधारणा निर्मित होती है जिसमें उन सभी का समावेश हो जाता है। परन्तु वह इनमें से किसी के भी समान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं होती। हमें इसी बात को समझ लेना है : एक त्रिभुज की अवधारणा एक विभिन्न प्रकार या विभिन्न लोक की चीज है। वह किसी भी ऐसे त्रिभुज के समान नहीं है जिसकी हम कल्पना कर सकें। त्रिभुज की कल्पना करते ही हम अमूर्त से मूर्त लोक में आ जाते हैं।

मूर्त और अमूर्त का केवल अन्तर स्पष्ट करने के लिए ही हमने कुछ उदाहरण लिए थे, परन्तु अमूर्त का प्रभाव-क्षेत्र तो मानवीय विचार के सभी क्षेत्रों तक फैला हुआ है। वस्तुतः जब कभी भी हम आकार और गुणवाली वस्तुओं का विचार करते हैं और यदि वस्तुएँ एक निश्चित रूप से परस्पर सम्बद्ध होती हैं तो एक अमूर्त विचार उत्पन्न होता है जो इनके बीच सम्बन्ध को पारिभाषित करता है। सभी वैज्ञानिक सामान्य सिद्धान्त और नियम, सभी दर्शन-पद्धतियाँ, सभी सिद्धान्त वस्तुओं या विचारों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध को पारिभाषित करते हैं और इसीलिए ये सब अमूर्त विचार के क्षेत्र में आ जाते हैं। इसी प्रकार मूर्त और अमूर्त एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते यद्यपि इनका स्वरूप एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। मन के क्षेत्र में ये ताने-बाने की तरह गुँथे हुए हैं।

हमारी आन्तरिक संरचना में कारण शरीर चेतना का एक कोष है। यह अमूर्त विचारों का अवयव है। यह सही है कि हम अपना अमूर्त चिन्तन मस्तिष्क के माध्यम से करते हैं परन्तु मस्तिष्क तो केवल एक यंत्र है जो मूलतः कारण शरीर में उत्पन्न कम्पनों की हल्की-सी प्रत्युत्पत्ति हमारी स्थूल चेतना में कर पाता है। उन कम्पनों का उद्गम स्थल तो कारण-शरीर होता है। ये कम्पन एक के बाद एक कोष में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस सम्प्रेषण-प्रक्रिया में ये कम्पन अपनी बहुत-सी तीव्रता और स्पष्टता खोकर ही मस्तिष्क में प्रकट होते हैं। उच्च मनोलोक में अमूर्त विचार उतनी अस्पष्ट और अनिश्चित-सी बातें नहीं लगतीं जैसी कि हमें यहाँ स्थूल जगत् में प्रतीत होती हैं। वहाँ तो ये वास्तविकताएँ होती हैं और उन्हें कारण शरीर की शक्तियों द्वारा देखा जा सकता है। जीवात्मा इन अमूर्त विचारों और सिद्धान्तों से उसी प्रकार काम लेता है जैसे हम निम्न मन में कार्य करते समय मूर्त विचारों और प्रतिबिम्बों से काम लेते हैं। अमूर्त विचार के निम्न मन में प्रवेश करते ही वह निश्चित आकार और रूप ले लेता है और अमूर्त अवस्था मूर्त अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। अमूर्त और मूर्त विचारों के इस संबंध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जब कोई अमूर्त विचार अपने लोक से नीचे निम्न मनोलोक में प्रवेश करता है तो वह असंख्य रूप ले सकता है। अमूर्त विचार में निहित कुछ आवश्यक विशिष्टताओं के कारण ये सब रूप एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। त्रिभुज का ही उदाहरण यदि हम फिर ले लें तो उच्च मनोलोक से त्रिभुज की सुनिश्चित वास्तविकता का अमूर्त विचार जब मूर्त मन के क्षेत्र में आता है तो उसने असंख्य त्रिभुज बन सकते हैं। अपने लोक में जीवात्मा त्रिभुज को सार-रूप में जानता है। निम्न मनोलोक में वह एक त्रिभुज विशेष को जानता है। जिसमें त्रिभुज की सभी आवश्यक विशिष्टताएँ होती हैं।

वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को नहीं बल्कि उनके सारतत्व को जानने का बहुत बड़ा लाभ स्पष्ट है। सामान्य को जान लेने पर हम मानो, उस श्रेणी में समाविष्ट सभी वस्तु-विशेषों को भी जान लेते हैं। जो गणितज्ञ त्रिभुज के अमूर्त विचार से परिचित है वह एक प्रकार से सभी सम्भव त्रिभुजों को भी जानता है। किसी नियम की खोज करनेवाला वैज्ञानिक उस नियम के अन्तर्गत आने वाली समस्त क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। किसी गुह्य-नियम को जान लेने पर गुह्यविद् जीवन के उस विशिष्ट क्षेत्र का सहज ही विशेषज्ञ बन जाता है। यदि हम असंख्यों तथ्यों को या एक विशिष्ट प्रकार के विवरणों को तो जानें परन्तु उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध, उनके आवश्यक स्वरूप या गुण को न जानें तो उन तथ्यों और विवरणों को तो हम अच्छी तरह जानते ही नहीं हैं हम अपने कार्य के लिए उनका उपयोग भी नहीं कर सकते। असम्बद्ध और असम्बन्धित तथ्यों का समूह तो बस कचरे का एक ढेर मात्र है। उन तथ्यों को जोड़ने वाले अन्तर्हित सिद्धान्त को ढूंढ लीजिए और फिर वह एक मूल्यवान् सामग्री बन जाएगी जिसका उपयोग अनेक प्रकार से हो सकता है।

भौतिक जगत् में इन अन्तर्हित सिद्धान्तों और नियमों की खोज विज्ञान के प्रमुख उद्देश्यों में से एक है। अब तक ज्ञात हुए नियमों और सिद्धान्तों से वैज्ञानिक को भौतिक जगत् में प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त हो गया है। प्रकृति के अतिभौतिक क्षेत्रों में यही कार्य गुह्यविद् करता है। वह अपने अनुसंधान में प्रकृति के किसी भी क्षेत्र को छोड़ता नहीं है। इस प्रकार वह प्रकृति के सभी क्षेत्रों का ज्ञान और उनकी शक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः यह स्पष्ट है कि अन्तर्हित सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर असंख्यों विवरणों और तथ्यों की अनवरत खो। करते रहने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है और इसका अर्थ है समय और शक्ति की बचत। यह कहा जाता है कि सिद्ध महात्मागणों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के आधारभूत सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान होता है और वे विवरणों की चिन्ता ही नहीं करते। यदि उन्हें किसी विषय में विस्तृत जानकारी की आवश्यकता होती है तो बस अपने निम्न मन को इस कार्य में लगा देते हैं और बिना किसी कठिनाई के उसे प्राप्त कर लेते हैं। उनके कारण-शरीर पूर्णतः विकसित होते हैं और वे उच्च मनोलोक में पूरी चेतना से कार्य कर सकते हैं। इसलिए अपने निज लोक में वे इन मूल सिद्धान्तों को जान सकते हैं और उनसे काम ले सकते हैं और उन्हें स्थूल मस्तिष्क के भारी और अपेक्षाकृत कम विश्वसनीय माध्यम से कार्य करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृति के नियमों और जीवन के मूल सिद्धान्तों का उन्हें पूर्ण ज्ञान होता है। ऐसा ज्ञान उस व्यक्ति के लिए सम्भव ही नहीं है जिसकी चेतना केवल भौतिक जगत् तक ही सीमित हो। यह याद रखना चाहिए कि ये सिद्धान्त ईश्वर की व्यापक चेतना में सदैव विद्यमान रहते हैं और कारण शरीर के विकसित होने पर ही कोई व्यक्ति उनके सम्पर्क में आ सकता है। सौर मंडल में जो कुछ भी जाना जा सकता है वह पहले से ही ईश्वरीय चेतना में रहता है। हमारी चेतना के कोषों में ग्रहणशीलता के अभाव और उनके विकास में कमी के कारण ही हम कुछ जान नहीं पाते। जिस क्षण हम में किसी विशिष्ट प्रकार के कम्पन ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न हो जाएगी ईश्वरीय चेतना के सम्बन्धित भाग से हमारा सम्पर्क स्थापित हो सकता है।

अब हम कारण शरीर के दूसरे कार्य पर विचार करेंगे। जैसा कि हम देख चुके हैं, कारण शरीर का निर्माण होने पर ही जीवात्मा का जन्म होता है। उसके पश्चात् जीवात्मा पुनर्जन्म और कर्म के नियमों के अनुसार मानवीय विकास की प्रक्रिया में होकर गुजरता है। इस मानवीय विकास के फलस्वरूप, जीवात्मा में बीज रूप से स्थित गुण धीरे-धीरे अव्यक्तावस्था से व्यक्त होने लगते हैं। वह असभ्यावस्था से निकल कर सभ्य मनुष्य बनता है और फिर सिद्ध-पुरुष हो जाता है। मानवीय और दिव्य गुणों के इस क्रमिक विकास के साथ-साथ कारण शरीर का भी विकास होता रहता है। इस शरीर के प्रभा-मण्डल के आकार में वृद्धि उसमें चमकदार रंगों का प्रादुर्भाव तथा उसकी आय में व्यापक वृद्धि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से यह विकास स्पष्ट दिखाई देता है। विभिन्न व्यक्तियों के कारण शरीर के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि इन शरीरों में दिखने वाले रंगों तथा जीवात्मा द्वारा विकसित गुणों के बीच एक सुनिश्चित सम्बन्ध होता है। अतः उच्च मनोलोक पर असामान्य दृष्टि द्वारा कारण शरीर को देखने मात्र से यह निश्चित रूप से जाना जा सकता है कि जीवात्मा विकास की किस स्थिति तक पहुँचा है और अब तक उसमें कौन-से गुण विकसित हुए हैं। जिस प्रकार शरीर-विज्ञान-शास्त्रियों ने स्थूल शरीर का अध्ययन किया है और उसकी संरचना के बारे में वे सब कुछ जानते हैं उसी प्रकार गुह्यविदों ने कारण शरीर का अध्ययन किया है। उन्होंने इस शरीर की संरचना और उसके विकास-सम्बन्धी नियमों का अच्छी तरह अनुसंधान किया है। भौतिक जगत् की सीमाओं में रहते हुए हम जान ही नहीं सकते और यदि जान भी पाए तो अत्यन्त अस्पष्ट-सा—कि कारण शरीर का स्वरूप क्या है और उसके माध्यम से चेतना किस प्रकार कार्य करती है।

अतः कारण शरीर का दूसरा कार्य मानवीय विकास के उन फलों के संग्रहालय के रूप में कार्य करना है जो क्रमिक विकास-प्रक्रिया में जीवात्मा विभिन्न जीवनों में एकत्रित करता है। कारण शरीर के इस क्रमिक विकास के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक जीवन-क्रम की समाप्ति पर देवाचन या स्वर्गलोक के वास-काल में पृथ्वी पर बीते पिछले जीवन के अनुभवों को धीरे-धीरे आत्मसात् किया जाता है। उन अनुभवों का सार-तत्व क्षमताओं के रूप में कारण शरीर को सौंप दिया जाता है और वह उसकी संरचना का अंग बन जाता है। अपने समस्त अनुभवों का मूल्यवान सार-तत्व निकाल कर देहात्मा विलय और समाप्त होने से पूर्व, उस सार-तत्व को अपने जनक एवं जन्मदाता जीवात्मा को सौंप देता है। इस प्रकार उस जीवन में सीखे समस्त महत्वपूर्ण पाठ जीवात्मा की संरचना के अंग बन जाते हैं। वह प्रत्येक नया जीवन पिछले जीवनों के संचित अनुभवों को लेकर प्रारम्भ करता है। कारण शरीर का यह विकास बिल्कुल वृक्ष के विकास के समान है। प्रतिवर्ष पतझड़ के आगमन पर वृक्ष सार-तत्व शाखाओं को सौंप कर अपने पत्तों को गिरा देता है और फिर वसन्त आने पर वातावरण से ताजा पोषण ग्रहण करने के लिए नये पत्ते धारण करता है और इस प्रकार वह बराबर बढ़ता रहता है।

यही कारण है कि नये स्थूल, वासनामय और निम्न मनोमय शरीर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेकर नया जीवन प्रारम्भ करने पर हमें पिछले जीवनों में प्राप्त अनुभवों की कोई स्मृति नहीं रहती। परन्तु उन जीवनों में क्षमताओं और शक्तियों के रूप में विकसित तथा कारण शरीर में समाविष्ट समस्त अनुभवों का पूरा लाभ हमें उपलब्ध होता है। उनकी स्मृति हमें इसलिए नहीं रहती कि नया मनोमय कोष उन अनुभवों में होकर गुजरा ही नहीं है और उन अनुभवों का कोई लेखा उसके पास नहीं होता। जीवात्मा ने समस्त अनुभव प्राप्त किए हैं और उसी को पिछले समस्त जीवनों की स्मृति रहती है। इस स्मृति को वही लोग पुनः ताजा कर सकते हैं जो अपनी चेतना को जीवात्मा के स्तर तक ले जा सकें और फिर उन पिछले जीवनों से सम्बन्धित मानसिक चित्रों को स्थूल मस्तिष्क में ला सकें।

दूसरी बात हमें यह समझनी है कि हमें दूसरों में दिखने वाली बुराई एक वास्तविकता नहीं है। वह तो कारण शरीर में सम्बन्धित विपरीत गुणों और क्षमताओं के विकास की कमी मात्र है। विकास-प्रक्रिया में हम सबके अनुभव भिन्न होते हैं और पूर्णता के द्योतक विभिन्न गुण एक-एक करके अनियमित ढंग से विकसित होते हैं, न कि एक साथ और व्यवस्थित ढंग से। यह कुछ इस प्रकार है; मानो बहुत से व्यक्ति अपने-अपने चित्र बनाना प्रारम्भ करें। प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट ढंग से कार्य करेगा। यदि कोई इन अधूरे चित्रों को देखे तो कुछ में सिर, कुछ में हाथ, कुछ में पैर तथा औरों में भी इसी प्रकार कुछ भाग चित्रित किए हुए मिलेंगे। चित्रों के पूर्ण हो जाने पर सभी में सामंजस्य और एकरूपता दिखाई देगी। परन्तु जब तक ये अपूर्ण हैं ये बिल्कुल भिन्न और असंगत ही प्रतीत होंगे। यही बात हमारे चरित्रों की भी है। हम अपने-अपने चरित्र के विभिन्न गुण विभिन्न क्रम से विकसित करते हैं और विभिन्न समय पर उनको विकसित करना प्रारम्भ करते हैं। इसीलिए वे इतने असंतुलित और एक दूसरे से भिन्न लगते हैं। जिन्हें हम सामान्यतः दुर्गुण कहते हैं वे अधिकांशतः सम्बन्धित सद्गुणों के विकास का अभाव है और वे अभी कारण शरीर में विकसित नहीं हुए हैं। हमारे चरित्र के प्रकाश-चित्र में ये काली पट्टियाँ हैं। अतः झूठ बोलने की आदत कारण शरीर में सत्यता के विशिष्ट गुण के अभाव के कारण है। यदि हम अपने साथियों को इस प्रकार से देखें तो उनके चरित्र की कमजोरियों और कमियों के प्रति हमारी प्रवृत्ति अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाने की ही होगी। हम उन्हें बुरे या पापी नहीं समझेंगे बल्कि यही मानेंगे कि अभी वे पूर्णतः विकसित नहीं हुए हैं। उन्हें अभी अपना चित्र पूरा करना है। हम सभी को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने-अपने चित्र पूरे करने हैं। अतः सहानुभूति और सहायता के अतिरिक्त कोई अन्य दृष्टिकोण अपनाना हमारे लिए युक्तिसंगत हो ही नहीं सकता।

इस सम्बन्ध में एक अन्य आवश्यक बात ध्यान में रखने की यह है कि पूर्णत्व प्राप्ति के लिए हमें सभी आवश्यक गुण तो विकसित करने ही होगें परन्तु विकास प्रक्रिया का उद्देश्य अन्ततः एक-जैसे नमूने के अनुसार सभी को विकसित करना नहीं है। हम सभी को पूर्ण होना है। सभी को सर्वांगीण विकास करना है। परन्तु फिर भी प्रत्येक की अपनी एक विशिष्टता होगी। जिस योजना के हम अंग हैं उसमें यद्यपि साठ अरब जीवात्माएँ पूर्णत्व की ओर अग्रसर हैं फिर भी कोई दो व्यक्ति बिल्कुल एक जैसे नहीं होंगे। मानव जाति के लिए विकास-प्रक्रिया एक आधुनिक फैक्टरी के समान नहीं है जो एक जैसी लाखों वस्तुएँ बनाती है और उन सबमें अन्तर कर पाना कठिन होता है। व्यक्तिगत विशिष्टता को सुरक्षित रखकर भी प्रकृति अपनी कर्मशाला में इतनी अधिक जीवात्माओं में किस प्रकार पूर्णत्व लाती है यह जीवन के उन रहस्यों में से एक है जिन्हें हम माया के क्षेत्रों में रहकर समझ ही नहीं सकते। वहाँ तो हम सब कुछ अंशतः ही देख पाते हैं।

कारण शरीर विभिन्न जन्मों में विभिन्न देहात्माओं द्वारा प्राप्त अनुभवों के सार-तत्व तथा उनके माध्यम से विकसित क्षमताओं का संग्रहालय तो है ही, पिछले जन्मों में विभिन्न देहात्माओं द्वारा किए गए अच्छे-बुरे कर्मों का संग्रह भी इसी शरीर में होता है। ये कर्म कारण शरीर में बीज रूप से पड़े रहते हैं और धीरे-धीरे फलीभूत होते हैं और भविष्य के जीवनों की परिस्थितियाँ निर्धारित करते हैं। यही कारण है कि इस शरीर को कारण शरीर कहते हैं। कर्म के संग्रह में से प्रत्येक जीवन में कुछ कर्म का निबटारा हो जाता है कुछ और कर्म उसमें एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रकार देहात्माओं के क्रमिक जीवनों का एक प्रकार का चालू खाता सदैव खुला रहता है। यह व्यक्तिगत खाता जीवनमुक्ति के समय व्यक्ति के कर्म पूर्णतः समाप्त हो जाने पर ही बन्द होता है।

कारण शरीर के कार्यों के सम्बन्ध में अन्तिम बात उसके विकास को निर्धारित करने वाले घटकों या कारणों से सम्बन्धित है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि देहात्माओं के माध्यम से जीवात्मा विभिन्न जीवनों में अनेक अनुभव प्राप्त करता है और उन्हीं से कारण शरीर का विकास होता है। परन्तु यह विकास अव्यवस्थित ढंग से नहीं होता। यह दो अन्तर्हित प्रभावों द्वारा नियमित होता है। ये दोनों अपना दबाव बराबर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बनाए रखते हैं और विकास की दिशा निर्धारित करते हैं। इनमें से एक तो विकसित होने वाले व्यक्ति की विशिष्टता है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, प्रत्येक जीवात्मा की स्वतंत्र व्यक्तिगत विशिष्टता होती है। यह विशिष्टता ही अंशतः उसके विकास को निर्धारित करती है। यह विशिष्टता किसी रहस्यपूर्ण ढंग से अविनाशी आत्मा में सदैव विद्यमान रहती है। इसी का संकेत इस गुह्य-सत्य में मिलता है : "जो तुम हो वही हो जाओ", इस व्यक्तिगत विशिष्टता का अनवरत और स्थायी दवाब जीवात्मा के विकास पर पूरे विकास काल में बना ही रहता है। अन्तर का यह दवाव ही व्यक्तिगत विशिष्टता के अनुसार पूर्णत्व की प्राप्ति सुनिश्चित कर देता है।

दूसरा कारण पहले कारण से बहुत कुछ सम्बन्धित है। वह है आत्मा का वह कार्य जो उसे ईश्वरीय योजना में करना है। विकास-योजना में प्रत्येक जीवात्मा को एक निश्चित कार्य करना है और उसका विकास इस प्रकार होता है कि वह उस कार्य को कुशलता से कर सके। जीवात्मा की अनुभूतियाँ तथा विकसित होने वाली क्षमताएँ—विशेषकर विकास के अन्तिम चरणों में—इस प्रकार की होती हैं कि उसकी व्यक्तिगत विशिष्टता प्रकट हो सके और ईश्वरीय योजना में अपने निर्धारित कार्य के लिए वह तैयार हो सके।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : ११

उच्च मन का विकास

पिछले अध्याय में यह बताने का प्रयत्न किया गया था कि उच्च मन की तथा जिस कोष के माध्यम से वह कार्य करता है उसकी हमारे जीवन में क्या भूमिका है। अतिभौतिक लोकों से सम्बन्धित ऐसी बातों की चर्चा करते समय हमें सचेत रहने की आवश्यकता है। उन लोकों से सम्बन्धित भौतिक जगत् में अपने अस्पष्ट और सामान्य विचारों को हम उन लोकों की वास्तविकता न मान लें। अपने इन विचारों को तो हमें उन विचारों के पीछे छिपी वास्तविकताओं के संकेत मात्र समझना चाहिए। उन वास्तविकताओं को तो हम तब ही जान सकेंगे जबकि हमारे आन्तरिक विकास के कारण उनका प्रत्यक्ष बोध सम्भव हो जाए। शब्दों को विचार और विचारों को वास्तविकता मान लेने की प्रवृत्ति लोगों में इतनी अधिक है कि भौतिक जगत् की महान् सीमाओं की ओर निरन्तर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रवृत्ति का फल यह होता है कि यदि शब्दों से नहीं तो इन विषयों से सम्बन्धित विचारों से ही हम सन्तुष्ट हो जाते हैं। हम भूल जाते हैं कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में विचार तथा स्वयं उस वस्तु के बीच बहुत बड़ी खाई है। यदि हम सच-मुच उस वस्तु को जानना चाहते हैं तो उस खाई को पाटना आवश्यक है। बहुत-से लोग उच्च जीवन की इन बातों के बारे में चर्चा करते रहते हैं परन्तु वे भूल जाते हैं कि वे केवल विचारों की, अत्यन्त ही अस्पष्ट-से विचारों की चर्चा कर रहे हैं। इन विचारों की चर्चा करने में कोई हानि नहीं है। वास्तव में तो यह एक आवश्यक प्रारम्भिक कदम है। परन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब हम उन विचारों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और उन विचारों के पीछे छिपी वास्तविकताओं को खोजने का प्रयत्न ही नहीं करते।

कारण शरीर को विकसित करने के सामान्य साधनों का वर्णन करने से पहले यह आवश्यक है कि वर्तमान समस्या से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को स्पष्ट कर दिया जाए। इस सम्बन्ध में पहली बात तो हमें यह समझनी है कि जीवात्मा के बाह्यतम कोष, कारण शरीर का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकास अत्यन्त ही धीमी प्रक्रिया है। इसके पूर्ण होने में सैकड़ों जीवन लग जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि मानव शरीर धारण करने और जीवन-मुक्त होने के बीच पृथ्वी पर औसतन् ७७७ जीवन धारण करने पड़ते हैं। इनमें से ७०० जीवन तो असभ्य और अर्द्ध सभ्य अवस्थाओं के अनुभव प्राप्त करने में, ७० जीवन सभ्य अवस्थाओं के अनुभव प्राप्त करने तथा नैतिक स्वभाव को विकसित करने में और शेष ७ जीवन मुक्ति तक ले जाने वाले पथ पर चलने में बीतते हैं। दो जन्मों के बीच हमारा बहुत-सा समय अतिभौतिक लोकों में बीतता है। इस सबसे यह स्पष्ट होता है कि मानवीय विकास-क्रम प्रारम्भ करने के पश्चात् जीवात्मा को कितनी लम्बी और कड़ी यात्रा तय करनी होती है और जिस कारण-शरीर में समस्त विकास-प्रक्रिया का लेखा-जोखा रहता है उसका विकास कितनी धीमी गति से होता है।

प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस विकास का निर्देशन बाहर से सौर-मण्डल में कार्यरत असंख्य दिव्य शक्तियों द्वारा किया जाता है। जीवात्मा का अपने स्वयं के विकास में योगदान नगण्य-सा होता है। जब वह इस यात्रा की समाप्ति के निकट पहुँचने लगता है और उसे इस लम्बी यात्रा के उद्देश्य का भान होता है तब वह अपने विकास में अधिकाधिक भाग लेना प्रारम्भ करता है। उसके विकास की अन्तिम अवस्थाएँ तो लगभग पूरी तरह अन्तर में ही निर्देशित होती हैं। केवल यह बात ही कि जीवात्मा में अपने विकास को स्वयं निर्देशित करने की आकांक्षा है, उसकी परिपक्वता का चिह्न है। उससे यह स्पष्ट होता है कि वह अपनी यात्रा की समाप्ति के निकट है। यह आकांक्षा जब उत्पन्न होती हैं तब कार्य का बहुत बड़ा भाग पूरा हो चुका होता है। अतः केवल कुछ जीवनों का तीव्र अभ्यास और संयम कार्य-पूर्ति के लिए पर्याप्त होता है। यही कारण है कि जिनमें अपने ऊपर नियंत्रण करने की तथा शीघ्रातिशीघ्र पूर्णत्व प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा होती है उनके लिए कुछ ही जीवनों में अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेने की समुचित सम्भावना रहती है। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है जैसे उन्होंने एक जीवन में ही चमत्कार कर दिखाया। कुछ अवस्थाओं में तो जीवात्मा काफी विकसित होता है, कारण-शरीर भी उन्नत होता है परन्तु पूर्व जन्मों के बुरे कर्मों के कारण जीवात्मा और देहात्मा के बीच सम्पर्क होने में कठिनाई होती है। जैसे ही वह कर्म समाप्त होता है जीवात्मा देहात्मा के माध्यम से व्यक्त होने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगता है। परन्तु प्रतीत ऐसा होता है मानो विकास-प्रक्रिया में कोई चमत्कार हो गया हो।

अतः जिनमें पूर्णत्व प्राप्त करने की आकांक्षा है वे अच्छी तरह समझ लें कि यह एक लम्बा और कठिन कार्य है। यह कार्य ऐसा है जिसको पूर्ण करने में अधिकांश व्यक्तियों के अनेक श्रमसाध्य जीवन लग जाएँगे। कोई भी नहीं बता सकता कि वह कार्य कब पूर्ण होगा। असीम धैर्य और समस्त कठिनाइयों, निराशाओं और असफलताओं के बीच भी अन्त तक प्रयत्न करते रहने का दृढ़ निश्चय ही अन्तिम सफलता की एक मात्र गारंटी है।

ध्यान में रखने और समझने की दूसरी बात देहात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को भली-भाँति समझे बिना मन में निरन्तर भ्रम उत्पन्न होता रहेगा। यह भ्रम ज्ञान को आच्छादित कर लेगा और मार्ग को अन्धकारमय बना देगा। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि किसी एक जीवन में देहात्मा द्वारा प्राप्त अनुभव स्वर्गलोक में विभिन्न क्षमताओं में परिणत हो जाते हैं। उस जन्म की समाप्ति पर उन अनुभवों का सार-तत्त्व जीवात्मा को सौंप दिया जाता है जो उसका अंग बन जाता है। एक के बाद एक जीवन में इन क्षमताओं में वृद्धि से ही अंशतः जीवात्मा का विकास होता है और उसकी शक्तियाँ विकसित होती हैं—अंशतः इसलिए क्योंकि जीवात्मा का अपना स्वयं का जीवन उच्च लोकों में होता है और स्वयं अपने लोक तथा अन्य उच्च लोकों के कम्पनों के परिणामस्वरूप भी उसकी छिपी दिव्य शक्तियाँ जाग्रत होती हैं। अतः पृथ्वी पर किसी विशिष्ट जीवन से जीवात्मा का कितना विकास होगा यह बहुत कुछ उसके और देहात्मा के बीच सम्बन्ध पर निर्भर करता है। देहात्मा जीवात्मा के एक अंश से बनता है परन्तु किसी भी जन्म में इसके निर्माण होने पर इसका अपना अर्द्ध-स्वतंत्र जीवन बन जाता है जो जीवात्मा के हितों के अनुकूल हो भी सकता है अथवा न भी हो। यदि देहात्मा और जीवात्मा के हित समान हों और यदि जीवात्मा देहात्मा को अपने उच्च और दूरगामी उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त कर सके तो वह जीवन सफल होता है और देहात्मा के अनुभव जीवात्मा के विकास के लिए एक अच्छी सामग्री उपलब्ध करा देते हैं। इसके विपरीत, जैसा कि अधिकांश लोगों के साथ होता है, यदि देहात्मा अपना स्वतंत्र मार्ग अपनाता है, जीवात्मा के प्रभाव और निर्देशन के अधीन नहीं रहता और निम्न लोकों के क्षणिक और तुच्छ स्वार्थों में लिप्त रहता है तो उस जीवन का उद्देश्य बहुत-कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विफल हो जाता हैं। यद्यपि थोड़ा-बहुत लाभ तो अनिवार्यतः होता ही है और कुछ प्रगति भी होती है परन्तु उच्च दृष्टिकोण से वह लाभ नगण्य होता है।

देहात्मा और जीवात्मा के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उपरोक्त दृष्टिकोण से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमारे अन्दर दो स्वतंत्र इकाइयाँ कार्य कर रही हैं। वस्तुतः एक मात्र ईश्वर का ही एक जीवन सर्वत्र कार्य कर रहा है। उसकी चेतना की एक किरण विभिन्न लोकों में उपलब्ध कोषों के एक समूह के माध्यम से जीवात्मा में कार्य कर रही है। आत्मा-बुद्धि-मनस के उच्च आध्यात्मिक लोकों में चेतना की यह किरण व्यक्तित्व का एक केन्द्र बना देती है। परन्तु इस केन्द्र में चेतना की एकता और अपने मूल आश्रय, दिव्य जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध की प्रबल भावना स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना पर विजयी होती है। माया का आवरण तो रहता है परन्तु वह इतना क्षीण होता है कि जीवात्मा उस परमात्मा की कुछ झलक पा सके। दिव्य चेतना की यह किरण जब और नीचे उतरती है और स्थूल, वासनामय और निम्न मनोलोकों के तीन शरीरों के माध्यम से कार्य करती है तो ऐक्य की भावना और एक दिव्य स्रोत से उद्भूत होने के बोध का लोप हो जाता है क्योंकि यहाँ भ्रम के आवरण बड़े घने होते हैं और उनके परे झाँक पाना कठिन हो जाता है। चेतना का इन तीन शरीरों से निरन्तर सम्पर्क और उनके तादात्म्य से एक झूठे "मैं" का जन्म होता है। यही तो देहात्म-भाव का सार और आधार है। यही हमारी समस्त स्मृतियों और अनुभवों को एक सूत्र में बाँधे रहता है। इस प्रकार देहात्मा का "मैं" एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में कार्य करता है यद्यपि उसका आधार और उसका उत्पत्ति-स्रोत जीवात्मा और अन्ततः आत्मा ही है। देहात्मा अपने दिव्य स्रोत को भूल जाता है। अपने उद्देश्य का उसे विस्मरण हो जाता है। विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उन अवस्थाओं में अविकसित व्यक्तित्व के लिए सभी प्रकार के अनुभवों की आवश्यकता होती है। किसी भी प्रकार का अनुभव उस विकास के लिए उपयुक्त होता है। परन्तु विकास के अन्तिम चरणों में व्यक्तित्व की परिशुद्धि और जीवात्मा की दिव्यता और विशिष्टता को व्यक्त करने के लिए अनुभवों के चयन में विवेक की आवश्यकता होती है। उस समय यह आवश्यक हो जाता है कि देहात्मा जीवात्मा का सेवक बन जाए। निस्संदेह, "मैं-पने" में बँधा यह भ्रमित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देहात्मा एक अस्थायी इकाई है। स्वर्ग लोक में इसके अनुभवों को आत्मसात् कर लेने पर और उनका सार-तत्व जीवात्मा को सौंप देने पर इनका विनाश और विलय उस जन्म के अन्त में सुनिश्चित है। परन्तु विकास की उच्च अवस्थाओं में जीवात्मा के विकास में इससे बहुत अन्तर पड़ जाता है कि देहात्मा किस प्रकार कार्य करता है।

अतः हम देखते हैं कि जीवात्मा से अनेक देहात्माओं का जन्म होता है। प्रत्येक देहात्मा अपना जीवन जीकर अपने अनुभवों से जीवात्मा को समृद्ध बनाता रहता है। यह कार्य तब तक चलता रहता है जब तक कि जीवात्मा इतना विकसित न हो जाय कि उसे भ्रान्तिपूर्ण निम्न लोकों के और अनुभवों की आवश्यकता ही न रहे। यह भी याद रखना चाहिए कि प्रत्येक देहात्मा की उत्पत्ति जीवात्मा से तो होती ही है, परन्तु वह जीवात्मा की केवल एक आंशिक अभिव्यक्ति ही होती है। वह बहुमुखी हीरा रूपी आत्मा के एक पहल की ही अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि एक ही जीवात्मा के विभिन्न जन्म एक जैसे नहीं होते जैसा कि जीवात्मा और देहात्मा के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पर विचार करने पर सम्भव-सा प्रतीत होता है। प्रत्येक जन्म में जीवात्मा के केवल कुछ पक्ष और क्षमताएँ ही प्रकट और व्यक्त होती हैं; शेष भविष्य के जन्मों में व्यक्त होने के लिए सुप्तावस्था में रहती हैं। प्रत्येक जन्म कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही होता है। इनका निर्णय कर्म और जीवात्मा की विकास-आवश्यकताओं के अनुसार होता है। ये परिस्थितियाँ ही बहुत कुछ निश्चित कर देती हैं कि उस देहात्मा में कौन से गुण व्यक्त हो सकते हैं। जीवात्मा जिस जाति में जन्म लेता है शरीर के पैतृक गुण, जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियाँ, स्थूल शरीर का लिंग, जो कर्म भोगने हैं, जो गुण उस जीवन में विकसित करने हैं—ये सब बातें जीवात्मा की अभिव्यक्ति को सीमित कर देती हैं। पूर्व में विकसित अनेक क्षमताओं और गुणों में से केवल कुछ ही एक जीवन में प्रकट हो सकते हैं। परन्तु जीवात्मा के विस्तृत जीवन में एक के बाद एक अनेक देहात्माओं की उत्पत्ति से जीवात्मा के चहुमुखी विकास और समस्त दिव्य शक्तियों और क्षमताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए सभी आवश्यक परिस्थितियाँ और अवसर प्राप्त हो जाते हैं। प्रकृति धीरे-धीरे कार्य करती है पर उसके तरीके विश्वसनीय हैं। उसके उद्देश्यों की पूर्ति पूर्ण कुशलता और निर्मम दृढ़ता के साथ होती रहती है।

देहात्मा और जीवात्मा अथवा निम्न और उच्च 'स्व' के बीच इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्ध के विवेचन को एक विषयान्तर मात्र अथवा केवल सैद्धान्तिक दिलचस्पो की बात नहीं समझनी चाहिए। अपने उच्च स्वरूप के विकास के कठिन कार्य को कर पाने के लिए सम्बन्ध के स्पष्ट ज्ञान को एक महत्वपूर्ण आवश्यकता समझना चाहिए। हमारे आत्मिक विकास में गति आ ही नहीं सकती जब तक कि हम निम्न और उच्च 'स्व' के बीच इस सम्बंध को अच्छी तरह समझ नहीं लेते और अपने देहात्मा को जीवात्मा के नियंत्रण में लाने में सफल नहीं हो जाते। देहात्मा को जीवात्मा के नियंत्रण में लाने में इसके क्षणभंगुर नश्वर और भ्रामक स्वरूप का बोध सबसे बड़ा सहायक है। जिस क्षण व्यक्ति यह जान लेता है अर्थात् उसे बोध हो जाता है, केवल सतही तौर पर सोचता हीं नहीं है, कि निम्न लोकों में जो इकाई अनुभव करती, सोचती और कार्य करती है और जिसकी संतुष्टि के लिए वह अपना सारा समय और शक्ति दे डालता है वह केवल एक क्षणभंगुर चीज है, उसका जीवन बहुत छोटा है और अगले जीवन में उसी के समान एक अन्य देहात्मा उसका स्थान ले लेगा; जिस क्षण वह इस बात को जान लेता है वह अपने उच्च हितों के प्रति उदासीन रह नहीं सकता। हमें अपने निम्न 'स्व', देहात्मा, की कठोर और निर्मम नियति का भान ही नहीं है। हमें इस बात का स्मरण ही नहीं रहता। इसीलिए हम भ्रान्तिपूर्ण नश्वर जगत् में सन्तुष्ट बने रहते हैं। जिस क्षण हमें इस बात का चेत हो जाए और झूठी प्रतीति की दृढ़ भूमि हमारे पैरों के नीचे से खिसकने लगे, हम भय और निराशा से अभिभूत हो जाएँगे और वास्तविक और स्थायी तत्व की खोज प्रारम्भ कर देंगे—लापरवाही और आराम से नहीं बल्कि उस डूबते आदमी की तरह जो बड़ी तत्परता के साथ एक तिनके तक को पकड़ने की चेष्टा करता है। उस समय ही हम अनिच्छा और कष्ट के साथ विनाश को प्राप्त देहात्म-भाव के इस जहाज को छोड़ने का निर्णय लेंगे और अपने जीवात्मा की शरण में जाएँगे—उस जीवात्मा को जिसे हम केवल अविनाशी मानते हैं, अभी उसे अविनाशी के रूप में जानते नहीं हैं। तब हमारा अपने उच्च 'स्व' से अधिकाधिक तादात्म्य होता जाएगा। हमं देहात्मा को जीवात्मा का एक यंत्र उसकी अभिव्यक्ति का एक माध्यम बनाने के कार्य में गम्भीरता से लगे ही रहेंगे जब तक कि हमारा देहात्मा पूर्णतः वश में और श्रेष्ठतर न हो जाए और हम दिव्य जीवन में स्थित न हो जाएँ। केवल इसी भावावस्था और मनःस्थिति में हम कारण-शरीर में कार्यरत उच्च मन को विकसित करने का कार्य उपयुक्त ढंग से प्रारम्भ कर सकेंगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारण-शरीर को विकसित करने के साधन कुछ अंशों में इस शरीर के उन कार्यों के अनुरूप होंगे जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। भौतिक जगत् में ही नहीं सूक्ष्म लोकों में भी विकास का नियम यह है : किसी भी कार्य को करते रहने से उसमें सुधार होता है। कार्य में सुधार के साथ-साथ उस शरीर की संरचना में भी सुधार होता है जिसके माध्यम से वह कार्य किया जाता है। शरीर की उन्नत संरचना के फलस्वरूप कार्य में विविधता भी आती है। इस प्रकार जीवन और रूप दोनों साथ-साथ उन्नत होते हैं और चेतना की अभिव्यक्ति के लिए अधिक सक्षम यंत्र उपलब्ध हो जाता है। यह विकास का एक आधारभूत नियम है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा सभी लोकों में आत्म-साधना का आधार है। दुर्बल स्थूल शरीर को ही ले लीजिए। शरीर से यदि आप व्यायाम करेंगे तो मांसपेशियों, नलिकाओं और नाड़ियों से जीवन-शक्ति का प्रवाह बढ़ेगा। शरीर पुष्ट होगा, मांसपेशियाँ सबल होंगी और उसी अनुपात में व्यायाम करने की क्षमता और सामर्थ्य भी बढ़ेगी। भावनाओं और वासनाओं के कोष वासना-शरीर को लीजिए। आपको लगता है कि यह नीरस है। प्रेम और सहानुभूति जैसी कुछ भावनाओं के प्रति यह संवेदनशील ही नहीं है। आप अपने आपको ऐसी परिस्थियों में रखिए जहाँ ऐसी भावनाएँ जाग्रत हो सकें। आप इन भावनाओं के प्रति संवेदनशील होने के लिए इस शरीर को बाध्य कीजिए। धीरे-धीरे नव-निर्मित नलिकाओं में अधिकाधिक जीवन प्रवाहित होने लगेगा। वासना शरीर की संरचना में परिवर्तन होगा और वह अधिक निर्मल हो जायगा। तब आप देखेंगे कि वह अब इन उच्च भावनाओं के प्रति संवेदनशील है। निम्न मनोमय कोष को लीजिए। आप देखते हैं कि यह सही और सुसम्बद्ध ढंग से सोच नहीं पाता। आप विभिन्न विषयों पर एकाग्रता के साथ विचार करना प्रारम्भ कर दीजिए। आरम्भ में यह अभ्यास कठिन और श्रमसाध्य प्रतीत होगा। परन्तु जैसे-जैसे अधिकाधिक मानसिक शक्ति मनोमय कोष में प्रवाहित होने लगेगी यह कार्य सरल हो जाएगा। जो अभ्यास प्रारम्भ में कठिन और श्रमसाध्य लगता था वह सुखद और सरल हो जाएगा। मनोमय कोष में शक्ति का प्रवाह शरीर को सुसंगठित बनायेगा। मानसिक क्रियाओं के लिए वह एक उपयुक्त यंत्र बन जाएगा, उसके प्रमुख कार्य अर्थात् विचार करने के लिए वह एक अधिक कुशल यंत्र के रूप में तैयार हो जायगा। इसके साथ-साथ, भौतिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जगत् में इसके यंत्र, मस्तिष्क और स्नायु प्रणाली, में भी सुधार होगा और स्थूल चेतना में भी विचारों की अधिक सुन्दर अभिव्यक्ति सम्भव होने लगेगी।

दृश्य हो या अदृश्य, चेतना के प्रत्येक कोष का कार्य अभ्यास से सुधरता है और कारण-शरीर इसका अपवाद नहीं है। यह तो हमें ज्ञात ही है कि कारण-शरीर का एक प्रमुख कार्य अमूर्त विचारों को व्यक्त करना है। इसका अर्थ है कि यदि हम इसे विकसित करना चाहते हैं तो इसे अमूर्त चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। अमूर्त चिन्तन के विषय में बहुत से लोगों के विचार गलत हैं। जैसे ही 'अमूर्त' शब्द कहा जाता है वे परेशानी-सी अनुभव करने लगते हैं। वे सोचते हैं कि दुर्बोध और अलाभप्रद चिन्तन का नीरस और कठिन अभ्यास उन्हें करना होगा। यह बात ही अपने आप में इसका संकेत है कि कारण-शरीर का यह कार्य अच्छी तरह विकसित नहीं हो पाया है और इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि पर्याप्त अभ्यास से जो कार्य सरल हो जाता है उसे करने में सदैव आनन्द आता है। यदि हम किसी काम को करने से कतराएँ तो इसका कारण यह है कि या तो हमने उसे करने का अभ्यास ही नहीं किया है अथवा जिस कोष के द्वारा यह काम करना है उसमें कुछ दोष या अवरोध है। इसके अतिरिक्त अमूर्त चिन्तन इतना नीरस और कठिन नहीं है जितना कि अधिकांश लोग समझते हैं। आखिर अमूर्त चिन्तन का अर्थ क्या है? अधिकांश अवस्थाओं में इसका अर्थ किसी उद्देश्य के लिए समस्त एकत्रित तथ्यों का सार-तत्त्व निकाल लेना है। इसका अर्थ विशेष से सामान्य की ओर जाना है। हम सभी अपने जीवन में नित्य ही इन मानसिक प्रक्रियाओं को कर रहे हैं। परन्तु हम ऐसा अनजाने, अप्रभावी और अवैज्ञानिक ढंग से करते हैं। इसीलिए इनसे हमारा कोई विशेष मानसिक विकास नहीं हो पाता। वास्तव में, सामान्य सिद्धान्त बना लेने की प्रवृत्ति काफी प्रचलित है और हममें से अधिकांश व्यक्ति अपने दैनिक जीवन के अनुभवों को लेकर सामान्य सिद्धान्त बनाने का कार्य अत्यन्त ही अव्यवस्थित और कभी-कभी तो मूर्खतापूर्ण ढंग से करते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए, मैं कुछ दिन तक कच्ची सब्जियाँ खाता हूँ। वे मुझे अनुकूल नहीं पड़तीं क्योंकि हो सकता है मेरी पाचन-क्रिया कमजोर हो। मैं इससे यह निष्कर्ष निकाल लेता हूँ कि कच्ची सब्जियाँ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं और इस विचार का प्रचार करूँ कि कच्ची सब्जियाँ नहीं खानी चाहिए। अब, वास्तव में मैंने अपनी अमूर्त चिन्तन-क्षमता का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपयोग करने का प्रयत्न तो किया परन्तु यह कार्य अत्यन्त बेढंगेपन से, अपर्याप्त सूचना के आधार पर और अपनी सामान्य बुद्धि का उपयोग किए बिना किया है। हम सभी अधिकांश समय इस अप्रभावी और बेढंगे तरीके से सामान्यीकरण करते रहते हैं। हमें करना यह चाहिए कि हम इसी कार्य को वैज्ञानिक ढंग से, स्वेच्छा से और विधिवत् करना सीखें। इस प्रकार हमारा मन तो उन्नत होगा ही, जीवन में हमारी शक्ति भी बहुत अधिक बढ़ जाएगी। यह भी याद रखना चाहिए कि अनेक से एक की ओर जाने में सामान्यीकरण पहला कदम है। जिस सम्यक् दृष्टि से अनेक में एक के दर्शन होते हैं उसे प्राप्त करने में इस प्रक्रिया से प्रारम्भिक ट्रेनिंग मिलती है। यदि हम नियमों और सिद्धान्तों की खोज करते ही रहें तो हमें ज्ञात होगा कि जीवन के छोटे-छोटे सिद्धान्त विशाल नदी की सहायक नदियों की भाँति मिलकर एक हो जाते हैं और अन्ततः हम उस एक परम सत्ता रूपी समुद्र में समा जाते हैं।

हम अपने उच्च मन को अमूर्त चिन्तन का अभ्यास कैसे कराएँ? इस प्रक्रिया को सीखने की विधि समझने के लिए हम कुछ उदाहरण ले लें। हम एक वृत्त को लें और उसकी परिधि को अनेक छोटे-छोटे अव्यवस्थित चापों में काट दें। यदि इन चापों में से कुछ को मिटा दें और परिधि के कुछ छोटे-छोटे भाग ही रह जाएँ तो ज्यामिति जानने वाला कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि ये सब एक वृत के भाग हैं यद्यपि पूरा वृत्त दिखाई नहीं दे रहा है। क्यों? क्योंकि इन चापों का आकार और उनकी स्थिति मन को उस वृत्त का संकेत करती है जिसके कि वे अंग हैं। वास्तव में तो कुछ लोग केवल थोड़े से चापों से ही अपने मन में एक वृत्त बना सकते हैं। कुछ अन्य लोगों को इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए चापों की अधिक संख्या आवश्यक होगी जो इनकी बुद्धि और ज्ञान पर निर्भर करेगी। इसी प्रकार नीचे के दूसरे चित्र में कुछ रेखाएँ हैं। ज्यामिति का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को ये एक वर्ग का संकेत देंगी।

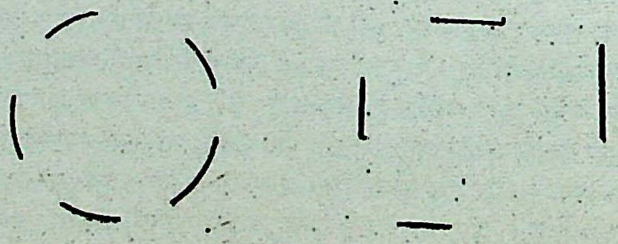

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी से कुछ मिलता-जुलता कार्य उस समय होता है जब कुछ तथ्यों को विधिवत् रखा और वर्गीकृत किया जाता है और मन उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध को ज्ञात करने के लिए उनपर विचार करता है। इस सम्बन्ध को जानना ही उच्च मन का कार्य है—यह देख पाना कि ये एक पूर्ण के अंग मात्र हैं। उन समस्त विवरणों को मिलाकर जो समन्वित सामान्य निष्कर्ष, सिद्धान्त या नियम बनता है उसे यह मन फिर स्थूल चेतना में स्फुरित करता है। समस्त वैज्ञानिक नियमों की खोज इसी प्रकार हुई है। निम्न मन ने तथ्यों का वर्गीकरण किया है और उच्च मन ने उन सबको समन्वित करके एक सामान्य सिद्धान्त में परिणत कर दिया है। कारण-शरीर जितना अधिक उन्नत और विकसित होगा उतनी ही सरलता से वह तथ्यों के बीच सम्बन्धों को देख सकेगा। केवल विज्ञान ही वह क्षेत्र नहीं है जहाँ हमें सामान्यीकरण करने की विधि सीखने का अवसर मिलता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस क्षमता के अभ्यास करने के हमें अवसर मिल सकते हैं। परन्तु यह आवश्यक है कि हम ऐसे अवसरों की खोज में रहें और अपने अभ्यास के लिए उनका विधिवत् उपयोग करें। इस क्षमता के विकास के लिए अत्यन्त विविधतापूर्ण और व्यापक क्षेत्र उच्च गणित में मिलता है। सम्भवतः अमूर्त चिन्तन सीखने के लिए उच्च गणित के गहन अध्ययन से अधिक और कोई त्वरित विधि नहीं है। उच्च मन के अभ्यास के लिए गणित के बाद दर्शन का स्थान है। आत्म-साधना की दृष्टि से कारण-शरीर की क्षमताओं को विकसित करने के लिए दर्शन ही सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा।

कारण-शरीर को विकसित करने की दूसरी विधि इस शरीर के दूसरे कार्य पर आधारित है। विकास-प्रक्रिया में विकसित समस्त गुणों और क्षमताओं को जीवात्मा की संरचना का स्थायी अंग बनाने का कार्य कारण-शरीर के माध्यम से ही होता है। यह तो बताया ही जा चुका है कि जब कोई विशिष्टता या क्षमता किसी जीवन में विकसित होती है तो देहात्मा के नष्ट हो जाने पर वह लाभ नष्ट नहीं हो जाता। वह लाभ कारण-शरीर में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। कारण-शरीर के पुनर्गठन के फलस्वरूप वह लाभ उसका स्थायी अंग बन जाता है। शरीर-विज्ञान में किए गए अनुसंधानों से हम जानते हैं कि जब हम विचार करते हैं तो हमारे स्थूल मस्तिष्क के घूसर-पदार्थ (ग्रे मैटर) में परिवर्तन होता है। लम्बे समय तक और लगातार विचार करते रहने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से मस्तिष्क में गुणात्मक सुधार होता है और इस प्रकार वह पहले से अच्छा विचार-यंत्र बन जाता है। यह सुधार तो केवल भौतिक जगत् के यंत्र में ही होता है जो स्थूल शरीर के नाश पर नष्ट हो जाता है। परन्तु उसी के अनुरूप सुधार कारण-शरीर में भी होता है जो जन्म-जन्मान्तर तक स्थायी बना रहता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवन में प्राप्त लाभ एकत्रित होते रहते हैं और जीवात्मा दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति का अधिकाधिक सक्षम यंत्र बनता जाता है।

अतः कारण-शरीर को विकसित करने की दूसरी विधि यह है कि हम अपने ऊपर नियंत्रण रखें और सर्वतोमुखी पूर्णता प्राप्त करने के लिए अपने चरित्र का विधिवत् निर्माण करें। भगवद्गीता और संसार के अन्य धर्म-शास्त्रों में वर्णित सत्य, साहस, आदि जैसे सभी गुण नित्य जीवन में ध्यान और अभ्यास के द्वारा हमारे चरित्र के स्थायी भाग बन जाने चाहिए। यह एक लम्बी और श्रमसाध्य प्रक्रिया है परन्तु यदि जीवात्मा को दिव्य जीवन का एक उपयुक्त यंत्र और एक ऐसा केन्द्र बनना है जिससे ईश्वर का प्रेम, शक्ति और ज्ञान प्रवाहित हो सके तो यह कार्य करना ही होगा। इस प्रक्रिया के पूर्ण होने पर कारण शरीर एक ऐसी देदीप्यमान आभा और चकाचौंध करने वाली दिव्य ज्योति से परिपूर्ण दिखाई देगा जिसकी कोई भी कल्पना हम इस भौतिक जगत् में कर ही नहीं सकते। निम्न लोकों से सम्बन्धित परिपूर्णता प्राप्त सिद्ध महात्मागणों के कारण-शरीर ऐसे ही हैं।

कारण-शरीर के विकास में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व बुद्धिक और आत्मिक कोषों का उन्मीलन है। यदि कारण-शरीर एक ओर भौतिक वासना और निम्न मनोलोकों से प्राप्त संवेगों से विकसित होता है तो दूसरी ओर बुद्धिक और आत्मिक लोकों पर क्रियाशील आत्मिक शक्तियों से। इसलिए जीवात्मा के आत्मिक विकास से कारण-शरीर के विकास में अत्यधिक सहायता मिलती है और जिस कार्य को पूरा करने में बहुत अधिक समय लगता वह कुछ जीवनों में ही हो जाता है। जैसे देहात्मा के जीवन में स्थूल, वासनामय और निम्न मनोमय कोषों के कार्यों को अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार जीवात्मा के जीवन में भी आत्मिक, बुद्धिक और उच्च मनोमय कोषों के कार्यों को भी अलग नहीं किया जा सकता। निम्न मन के किसी अभ्यास से केवल निम्न मनोमय कोष नहीं सुधरता, स्थूल शरीर में उनके यंत्र-मस्तिष्क में भी साथ-साथ सुधार होता है। इसी प्रकार जब आत्मा और बुद्धि की शक्तियाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रियाशील हो जाती हैं तो उनका यंत्र, कारण-शरीर भी साथ-साथ विकसित होता है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि कारण-शरीर एक ऐसे दर्पण के समान है जो समष्टि चेतना में विद्यमान सत्यों को निम्न मन में प्रतिबिम्बित कर सकता है। जिसका कारण-शरीर काफी विकसित है और निम्न मनोमय कोष के सम्पर्क में है उसे समष्टि चेतना को थोड़ा-बहुत छू पाने के यथेष्ट साधन उपलब्ध हैं। यह एक ऐसी क्षमता है जिसे गुह्य-विद्या के सभी सच्चे साधकों को विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी उन्हें अनन्त और सच्चे ज्ञान का स्रोत अपने अन्तर में ही प्राप्त हो सकेगा। फिर आवश्यकतानुसार वे जब चाहें उसका उपयोग कर सकेंगे और अन्ततः ज्ञान के बाह्य स्रोतों पर उनकी निर्भरता समाप्त हो जाएगी।

यह सच है कि समष्टि चेतना से प्रत्यक्ष सम्पर्क तभी हो सकता है जब कोई व्यक्ति उच्च योगाभ्यास द्वारा अपने कारण-शरीर में सचेतन होकर कार्य कर सके। परन्तु इस अवस्था तक पहुँचने से पहले भी जो उच्च साधक ध्यान करता है और जिसने अपने मन को निर्मल और संयत बना लिया है वह अपने उच्च मन से सम्पर्क स्थापित करने की क्षमता विकसित कर सकता है और उच्च मन के माध्यम से वह अप्रत्यक्ष रूप से समष्टि चेतना के अधिकाधिक सम्पर्क में आ सकता है। ऐसा हो जाने पर जीवन की आन्तरिक वास्तविकताओं का ज्ञान साधक के मन में विभिन्न प्रकार से प्रकट होने लगता है और उनका महत्त्व तो उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने पर ही समझा जा सकता है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १२

हमारे जीवन में बुद्धि की भूमिका

पिछले एक अध्याय में विकास-प्रक्रियाओं की रूप-रेखा दी जा चुकी है। उससे यह स्पष्ट हो चुका है कि हम अपनी वर्तमान मानवीय अवस्था तक पहुँचने के पहले किन अवस्थाओं में होकर गुजर चुके हैं तथा भविष्य में कौन-सी अवस्थाएँ आनी शेष हैं। उस अध्याय में बताया गया था कि मानवीय वर्ग से पूर्व की अवस्थाओं में, जब आत्म-चेतना विकसित नहीं होती, विकास पूर्णतः बाह्य शक्तियों द्वारा निर्देशित होता है। विभिन्न रूपों में व्यक्त जीवन बाह्य शक्तियों के साथ सचेतन सहयोग नहीं कर पाता। मानवीय जीवात्मा का जन्म और कारण-शरीर का निर्माण होने पर आत्म-चेतना जाग्रत होती है। तब जीवन के लिए इस सम्भावना के द्वार खुलते हैं कि वह अपनी अभिव्यक्ति और विकास में भाग ले सके। यह भी सही है कि मानवीय विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जीवात्मा का अपने विकास में सचेतन सहयोग नगण्य-सा होता है। और विकास अधिकांशतः तब भी बाहर से ही निर्देशित होता है। विकास और परिपक्वता की उन्नत अवस्था पर पहुँचने के पश्चात् ही जीवात्मा अपने विकास में सक्रिय और बुद्धिमत्तापूर्ण भाग ले सकता है। तब विकास की दिशा में उस पर निरन्तर दबाव बनाए रखने वाली शक्तियों के साथ वह सहयोग कर सकता है। इस अवस्था तक पहुँचने पर जीवात्मा की चेतना के निम्न कोष काफी विकसित हो चुके होते हैं। जीवात्मा तब अपना आत्मिक विकास प्रारम्भ करने की स्थिति में होता है। बुद्धि का विकास हमारे आन्तरिक विकास के उस चरण का प्रारम्भ है जिसे हम आध्यात्मिकता कहते हैं। इसलिए हम में से जो भी व्यक्ति अपने उच्चतम आध्यात्मिक आदर्शों की ओर शीघ्रता से बढ़ना चाहते हैं उन्हें अपने जीवन में बुद्धि की भूमिका को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

बुद्धिककोष के माध्यम से चेतना की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ ही बुद्धि है। परिधि से केन्द्र की ओर बढ़ते समय यह कोष कारण-शरीर से अगला कोष है। इसीलिए इसकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र मन के परे है—निम्न मन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के ही नहीं वल्कि उस उच्च मन के भी परे जो सामान्य सिद्धान्तों से सम्वन्धित है और कारण-शरीर में कार्य करता है। इससे यह वात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि बुद्धि के कार्य मन के परे क्यों हैं। बुद्धि के कार्यों को मन उन मापदण्डों से समझ ही नहीं सकता जिन्हें साधारण विचारवान् मनुष्य अन्तिम और निश्चयात्मक समझता है। इससे यह बात भी समझ में आती है कि जिन सूक्ष्म अनुभूतियों का उद्भव वुद्धि-चेतना में होता है उन्हें मन समझ ही नहीं सकता। वुद्धिक चेतना के परे और उसे भी अपने में समाविष्ट करने वाली चेतना तो बस आत्मा की है। वह आत्मा ही हमारे जीवन का केन्द्र है और उसी में हमारी समस्त दिव्य सम्भावनाएँ सुप्तावस्था में पड़ी हैं।

अपनी संरचना में वुद्धि का स्थान समझ लेने के पश्चात् अब हम पहले एक सामान्य सिद्धान्त की चर्चा करेंगे। विभिन्न लोकों पर चेतना की अभिव्यक्ति का विचार करते समय हमें इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए। इससे हमारे विचार स्पष्ट हो जाएँगे और अपने जीवन में बुद्धि की भूमिका समझने के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो जायगी। किसी कोष के माध्यम से चेतना की अभिव्यक्ति में जो अन्तर हो जाता है उसे हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। किसी लोक में सम्वन्धित कोप के कम्पन यदि उससे अपेक्षाकृत स्थूल कोष के माध्यम से निम्न लोक में आयेंगे तो उनमें बहुत अन्तर हो जाएगा। उदाहरण के लिए, निम्न मनो-लोक में चेतना के कार्य को ले लें। जब चेतना निम्न मनो-लोक में कार्य करती है तो उससे उत्पन्न कम्पनों को विचार कहते हैं। मनोमय कोप में विचारों को उनके अपने ही लोक में तथा स्थूल और लोचहीन मस्तिष्क में उनकी अभिव्यक्ति को देखने पर जमीन-आसमान का अन्तर दिखाई देगा। यदि विचारों को उन्हीं के लोक में असामान्य दृष्टि में देखा जाए तो लगता है, उनका अपना ही संसार है जो मोहक है, सुन्दर रूप-रंगों से परिपूर्ण है। वह एक ऐसा संसार है जिसका स्वर्ग के रूप में अत्यन्त ही अपूर्ण वर्णन संसार के विभिन्न धर्मों ने किया है। परन्तु ये ही विचार जब हमारे स्थूल मस्तिष्क में व्यक्त होते हैं तो उनकी मूल विशेषताओं के होते हुए भी उनकी अपने लोक वाली वहुत-सी विशिष्टता और शक्ति नष्ट हो जाती है। अपने लोक पर वे विचार वास्तविक प्रतीत होते हैं। परन्तु भौतिक जगत् में वे अस्पष्ट और व्यक्तिगत लगने लगते हैं। यही बात भुवर्लोक के सम्बन्ध में भी लागू होती है। वासना-शरीर में अपने ही लोक में उत्पन्न कम्पनों को भावनाएँ और वासनाएं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहते हैं। उनके विभिन्न रूप और रंग होते हैं। भुवर्लोक में ये रूप-रंग व्यक्ति-निरपेक्ष होते हैं और इनका अपना संसार होता है। परन्तु जब ये ही कम्पन भौतिक जगत् में आते हैं और हमारी स्नायु-प्रणाली के माध्यम से व्यक्त होते हैं तो इनकी वहुत-सी विशेषताएँ नष्ट हो जाती हैं और चेतना की जिस विशिष्ट स्थिति को हम 'भावना' कहते हैं उसके अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता ।

इन उदाहरणों से हमें उस अन्तर को समझने में सहायता मिलेगी जो कि बुद्धि-लोक में अपने आनन्दमय कोष (वेदान्त में बुद्धिक कोष को आनन्दमय कोष कहते हैं) के सचेतन और सजग जीवन में और विभिन्न अन्तरिम कोषों के माध्यम से होकर हमारी स्थूल चेतना में उसी जीवन की अभिव्यक्ति में होगा। जब कोई योगी समाधि में बुद्धि-लोक तक पहुँचता है तो उसे अपार आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण एक नये जगत् का बोध होता है। जिस आनन्द के सागर में वह गोते लगाता है उसके सामने स्वर्ग का आनन्द भी फीका पड़ जाता है। बुद्धि-लोक के आनन्द और परात्पर ज्ञान का वर्णन शब्दों में किया ही नहीं जा सकता। जिन सन्तों और ऋषियों ने इस लोक की जरा-सी भी झलक देख ली है वे उस अनुपम सौंदर्य के बारे में दूसरों को कुछ भी बता पाने में असमर्थता का अनुभव करते हैं। बुद्धि-लोक के कम्पन उतरते-उतरते जव स्थूल मस्तिष्क में आते हैं तो उनकी गति बहुत कुछ समाप्त हो जाती है। अतः बुद्धि-लोक में जीवन की एकता का प्रत्यक्ष बोध नीचे आकर एक व्यापक करुणा और सहानुभूति मात्र रह जाता है। सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन अन्तःप्रज्ञा और उच्च जीवन के सत्यों का ज्ञान मात्र रह जाता है। अतः जव हम स्थूल चेतना में बुद्धि की अभिव्यक्ति का अध्ययन करते हैं तो हम अनुपम तेज की क्षीण-सी आभा की और अपने अन्तर में व्याप्त संगीत की हल्की-सी प्रतिध्वनि मात्र की ही बात करते हैं।

इन प्रारम्भिक वातों का विचार कर लेने के पश्चात् हम अब इस स्थिति में हैं कि अपनी मुख्य समस्या को ले सकें। वह समस्या अपनी वर्तमान सीमाओं के अन्दर यथासंम्भव जीवन में बुद्धि के कार्यों को अच्छी तरह समझ लेने की है। इस समस्या पर विचार करते समय पहली वात तो हमें यह समझनी है कि बुद्धि एक बहु-कार्यात्मक क्षमता है, न कि एक सामान्य क्षमता जैसा कि बहुत-से वे लोग सोचते हैं, जिन्होंने चेतना की समस्याओं का गहराई से अध्ययन ही नहीं किया है। बहु-कार्यात्मक क्षमता का अर्थ है कि यह क्षमता चेतना को अनेक तरह से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्य करने योग्य बनाती है। कम से कम मन के क्षेत्र में तो ये तरीके एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं। यह सम्भव है कि अपने ही लोक में अभिव्यक्ति के ये विभिन्न तरीके मूल रूप से भिन्न प्रतीत न हों। परन्तु मन के माध्यम से देखने पर तो ये भिन्न ही प्रतीत होते हैं। बुद्धि के इस बहु-कार्यात्मक स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिए हम उससे बहुत-कुछ मिलते-जुलते मन के कार्य पर विचार कर सकते हैं। 'मन' शब्द अनेक जटिल क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होता है। उसकी अनेक क्षमताएँ हैं, जैसे तर्क, स्मृति, निर्णय, निरीक्षण आदि। मन के स्वाभाविक विकास में ये क्षमताएँ एक-एक करके क्रम से प्रकट होती हैं। इन विभिन्न कार्य-विधियों को हम मन के कार्य कह सकते हैं। इसी प्रकार, बुद्धि की अभि-व्यक्ति की विभिन्न विधियाँ होती हैं। जैसा कि मानसिक कार्यों में होता है, बुद्धि कोष के विकास के साथ-साथ ये क्षमताएँ एक-एक करके विकसित होती हैं। यदि हम बुद्धि के किसी एक कार्य को ही बुद्धि समझ लें तो हमारे लिए उसको समझना तो कठिन हो ही जाएगा, हम सभी प्रकार के विरोधाभासों और भ्रमों में पड़ जाएँगे। भगवद्गीता जैसी पुस्तक पढ़ने वाले बहुत-से लोग इस बात को ध्यान में न रख पाने के कारण भ्रान्ति में पड़ जाते हैं क्योंकि वहाँ 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग कभी एक अर्थ में होता है तो कभी बिल्कुल ही भिन्न अर्थ में। यदि हम यह याद रखें कि इन सब दशाओं में बुद्धि के विभिन्न कार्यों का उल्लेख किया गया है तो अर्थ को समझ पाना अधिक सरल हो जाएगा।

अब हम इन विभिन्न कार्यों को एक-एक करके लेंगे और यथा-सम्भव उन्हें समझने की चेष्टा करेंगे। यह कुछ इसी प्रकार है, जैसे हमारे हाथ में एक हीरा हो और हम उसके विभिन्न पहलों को एक-एक करके सामने लाएँ। यद्यपि इन विभिन्न पहलों में प्रकाश की विभिन्न मात्रा प्रतिबिम्बित होकर विभिन्न रंग व्यक्त करती है तथापि हम जानते हैं कि हीरा एक है और उसमें चमकने वाला प्रकाश भी एक ही है।

हम बुद्धि के सरलतम कार्य, समझ या बोध शक्ति, से प्रारम्भ करें। आधुनिक मनोवैज्ञानिक साधारण अर्थ में समझ को मन का कार्य मानते हैं। परन्तु वास्तव में यह कार्य बुद्धि का है। मन तो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त किसी विषय-वस्तु से सम्बन्धित धारणाओं को एकत्रित करके उनमें सामंजस्य स्थापित करता है और उनका एक समन्वित मानसिक प्रतिबिम्ब बना लेता है। जब तक बुद्धि का प्रकाश उस प्रतिबिम्ब को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आलोकित नहीं करता हम उस विषय-वस्तु को जान ही नहीं सकते। हम योग-सम्बन्धी पुस्तकों में बार-बार पढ़ते हैं कि इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त धारणाएँ पहले मन में और फिर मन से बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती हैं। उसके पश्चात् ही वे अन्तःस्थित जीवात्मा के समक्ष प्रस्तुत होती हैं। वहुत से लोग यह नहीं समझ पाते कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने का क्या अर्थ है। इसका अर्थ है - किसी विषय-वस्तु से सम्बन्धित मानसिक प्रतिविम्ब को उस विषय-वस्तु की समझ में रूपान्तरित करना। निम्न मूर्त मन किसी विषय-वस्तु को अपने आप तब तक नहीं समझ सकता जब तक कि बुद्धि का प्रकाश उसके मानसिक प्रतिबिम्ब को प्रकाशित न करे। प्राच्य मनोविज्ञान के अनुसार मन तो एक यंत्र है और किसी भी चीज को समझने की उसमें अपनी स्वयं की क्षमता है ही नहीं। अतः मन के द्वारा अन्तश्चेतना के सामने प्रस्तुत विषय-वस्तुओं को समझना या उनका वोध प्राप्त करना बुद्धि के कार्यों में प्रथम और सरलतम कार्य है। यह प्रारम्भ से ही होता रहता है यद्यपि उस समय बुद्धि-कोष अविकसित अवस्था में होता है।

पहले से कुछ मिलता-जुलता और क्रम में अगला विकसित होने वाला कार्य वह है जिसे सामान्यतः बुद्धि कहते हैं—विद्वत्ता नहीं, बुद्धिमत्ता। इन दोनों में हमें भ्रान्ति होने की बहुत सम्भावना है परन्तु ये एक-दूसरे से भिन्न हैं यद्यपि इस अन्तर को पारिभाषित करना भी कठिन है। हम सभी अस्पष्ट रूप से विद्वान् और बुद्धिमान् व्यक्ति में अन्तर जानते हैं। विद्वान् व्यक्ति वह है जिसका मन पूर्ण विकसित है, तथ्यों और जानकारी से भरा है और विभिन्न मानसिक कार्यों को सरलता और कुशलता-पूर्वक कर सकता है। बुद्धिमान् व्यक्ति वह है जिसमें अपने प्राप्त ज्ञान के महत्त्व और अभिप्राय को समझने की क्षमता हो, जिसने अपने ज्ञान और अनुभव का सार-तत्त्व निकाल लिया हो और वह सूक्ष्म सत्त्व प्राप्त कर लिया हो जिसे प्रज्ञान (विज़डम) कहा जाता है। वह वस्तुओं को जैसी वे हैं वैसी ही देख पाता है। वस्तुएँ जैसी हैं उन्हें वैसी देख पाना सम्भवतः बुद्धि का सबसे प्रमुख लक्षण है। हम सब ऐसे लोगों से परिचित हैं जो अत्यन्त विद्वान् तो हैं परन्तु बुद्धिमान् नहीं हैं और जो वस्तुओं और स्थितियों के वास्तविक महत्त्व को समझने में सदैव चूक जाते हैं। विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता का अन्तर स्पष्ट करने में पिछले दो विश्व युद्ध महत्त्वपूर्ण पाठ प्रस्तुत करते हैं और हमारे सामने वह भयावह चित्र प्रस्तुत करते हैं कि विद्वत्ता क्या कर सकती है यदि उसके साथ बुद्धिमत्ता का योग न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो। इन दोनों के अन्तर का कारण यह है कि विद्वत्ता का स्रोत केवल मन है और बुद्धिमत्ता का बुद्धि।

बुद्धि के इन प्रारम्भिक कार्यों का वर्णन करने के पश्चात् अब हम उन कार्यों का विचार करेंगे जो उसके विकास के अन्तिम चरणों में व्यक्त हो पाते हैं। इनमें से एक कार्य को विवेक कहते हैं। हम योग तथा उससे सम्बन्धित विषयों की पुस्तकों में प्रायः पढ़ते हैं कि विवेक के जाग्रत हुए बिना अध्यात्म पथ पर चलना सम्भव ही नहीं है। ऐसा लगता है मानों यह आध्यात्मिक जीवन का क-ख-ग हो। विवेक कही जाने वाली यह शक्ति क्या है? सामान्यतः विवेक को सत्य और असत्य में विभेद करने वाली शक्ति के रूप में पारिभाषित किया जाता है। परन्तु यदि हम इसे जीवन और उसकी समस्याओं को उनके यथार्थ रूप में देख पाने वाली क्षमता मानें तो मेरे विचार से हम इसे अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे। हम रहते तो भ्रान्तियों के जगत् में हैं परन्तु हमें इस बात का भान तक नहीं होता। जब हम आध्यात्मिक दृष्टि से जाग्रत होने लगते हैं तो हमें धीरे-धीरे इन भ्रान्तियों का भी बोध होने लगता है। यह जाग्रत होना और भ्रान्तियों को उनके सही रूप में देख पाना ही विवेक है। प्रायः विवेक को बुद्धिमत्ता से भिन्न समझा जाता है। परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर हमें ज्ञात होगा कि विवेक बुद्धिमत्ता का ही अधिक विकसित स्वरूप है। उसी की विस्तृति है। एक उच्च स्तर पर बुद्धिमत्ता का ही कार्य है। दैनिक जीवन की सामान्य समस्याओं पर जब बुद्धि का प्रकाश पड़ता है तो वही बुद्धिमत्ता है। जब वह जीवन की गहरी और मूल समस्याओं को आलोकित करती है और भ्रान्तियों को स्पष्ट कर देती है तो वह विवेक है। यह तो मात्रा और कार्य क्षेत्र का अन्तर मात्र है।

बुद्धिमत्ता और विवेक के बीच इस सम्बन्ध से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है: आध्यात्मिक जीवन के लिए हमें बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है। साधारण सांसारिक जीवन बिताने के लिए जितनी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है उससे कहीं अधिक बुद्धिमत्ता आध्यात्मिक जीवन के लिए चाहिए। यदि किसी का साधारण जीवन ही अव्यवस्थित है तो उससे यही स्पष्ट होता है कि उसमें अपनी समस्याओं से निपटने के लिए बुद्धिमत्ता की कमी है। ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन की कहीं अधिक कठिन और जटिल समस्याओं को सुलझाने में अधिक सफल कदाचित् ही हो सके। इस सम्बन्ध में एक चेतावनी दे देना आव-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्यक है क्योंकि बहुत से साधक यह सोचते हैं कि सत्य की खोज प्रारम्भ करने पर वे अपनी बुद्धिमत्ता को ताक पर उठा कर रख सकते हैं और ईश्वर की अनुकम्पा मात्र से सब कुछ हो जाएगा। जो अपने काल्पनिक जगत् में ही रहना चाहते हैं उनको इस विचार से चिपके रहना सुखद हो सकता है ; परन्तु जिन्होंने यह दिव्य खोज प्रारम्भ की है और जो अपने निम्न स्वभाव पर विजय पाने तथा निम्न लोकों के जीवन की भ्रान्तियों का भेदन करने के लिए वास्तव में संघर्षरत हैं उनका अनुभव इसकी पुष्टि नहीं करता।

अब हम बुद्धि के एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य पर विचार करें। वह कार्य आध्यात्मिक जीवन के सत्यों को पहिचानने और समझने की क्षमता है। यह तो हमें ज्ञात हो ही चुका है कि विभेद कर पाने की क्षमता या विवेक हमें जीवन की भ्रान्तियों को जानने की सामर्थ्य प्रदान करता है। वस्तुतः यह कार्य का नकारात्मक पक्ष है। उसका सकारात्मक पक्ष तो आध्यात्मिक जीवन के सत्यों का प्रत्यक्ष बोध है। किसी अँधेरे कमरे में प्रकाश लाने पर अंधकार तो भाग ही जाता है, कमरा भी प्रकाश से भर उठता है। इसी प्रकार जब सच्चा विवेक जाग्रत होता है तो हमें दैनिक जीवन की भ्रान्तियों का तो बोध होने ही लगता है हमें उन वास्तविकताओं और सत्यों की भी झलक मिलनी प्रारम्भ हो जाती है जिन्हें इन भ्रान्तियों ने ढक रखा था।

मन नहीं, बुद्धि ही आध्यात्मिक सत्यों को जानने का साधन है—यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे दैनिक जीवन की बहुत-सी बातें स्पष्ट हो जाएँगी। उदाहरणार्थ, उच्च जीवन के सत्यों को सराहने और समझने में विभिन्न लोगों में इतना महान् अन्तर क्यों है ? कुछ लोग इन सत्यों को सहज ही समझ लेते हैं, परन्तु कुछ अन्य लोगों को ये अविश्वसनीय ही नहीं, बे-सिर-पैर की बातें लगती हैं। यह समझ विचार या तर्क करने का परिणाम बिल्कुल नहीं होती। पाश्चात्य मनोविज्ञान में बुद्धि के एक पक्ष को अन्तःप्रज्ञा (इंट्यूशॅन) कहते हैं। वहीं मनुष्य को तर्क की दुष्कर प्रक्रियाओं में जाए बिना इन सत्यों को जान लेने की शक्ति प्रदान करती है। जब तक अन्तःप्रज्ञा जाग्रत नहीं होती मनुष्य इन सत्यों को जानने में असमर्थ रहता है। पहले मन को इन बातों में अन्तिम निर्णायक समझा जाता था। परन्तु पाश्चात्य मनोविज्ञान को अनिच्छा होते हुए भी यह स्वीकार करना ही पड़ा कि हममें एक अन्य शक्ति है जिसे अन्तःप्रज्ञा या बुद्धि कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बुद्धि के द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त करने में मन की सहायता तो लेनी ही नहीं पड़ती, ज्ञान के स्वरूप में भी बहुत अन्तर पड़ जाता हैं। बुद्धि के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त ज्ञान दृढ़ भूमिका पर स्थित होता है और मनुष्य के परिवर्तनशील अनुभवों और विचारों से ज्ञान के प्रति शंका उत्पन्न नहीं होती। इसके विपरीत, मन के द्वारा प्राप्त ज्ञान के नष्ट हो जाने अथवा शंकाओं और संदेहों से उसके दूषित हो जाने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। हर जगह हमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिनका जीवन के उच्च सत्यों के प्रति विश्वास निरन्तर डगमगाता रहता है। आज उन्हें अनुकूल व्यक्ति और मधुर वातावरण मिला तो उन्हें लगता है कि मनुष्य दिव्य है, संसार में सब सुन्दर हैं और ईश्वर अपने स्वर्ग में है। कल यदि उनके साथ तथाकथित अन्याय हो गया, उनके साथियों ने उनके साथ निर्दयता से व्यवहार किया तो मनुष्य की दिव्यता में से उनका विश्वास उठ जाता है। वे कटु और शंकालु हो जाते हैं। यदि बुद्धि का प्रकाश हमारे विश्वास और हमारी श्रद्धा में बराबर जगमगाता रहे तभी हम जीवन में अपने पथ पर लक्ष्य की ओर बिना डगमगाये चल सकते हैं और समस्त परिवर्तनों, कठिनाइयों, अत्याचारों तक से अप्रभावित बने रह सकेंगे।

किन्तु हम सचेत रहें कि कहीं हम अपने तर्कशून्य और कभी-कभी मूर्खतापूर्ण विचारों को ही अपनी अन्तःप्रज्ञा की आवाज न समझ बैठें। जब तक बुद्धि अच्छी तरह विकसित न हो जाए और स्पष्ट निर्देशन न करने लगे मन की दृढ़ भूमि पर, चाहे वह ऊसर ही क्यों न हो, खड़े रहना अधिक उचित होगा, बजाय इसके कि हम अपने आपको उन मनोवेगों और मूढ़ाग्रहों पर छोड़ दें जिन्हें भावुक व्यक्ति बड़ी सरलता से ईश्वर की आवाज समझने की भूल कर बैठते हैं।

बुद्धि हमें उच्च जीवन के सत्यों को पहिचानने की क्षमता तो प्रदान करती ही है, यह हमें अपना सामान्य जीवन बिताने के लिए भी विश्वसनीय निर्देशन देती है। हम सभी को प्रतिदिन ही तो जीवन की कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है और कभी-कभी यह निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है कि हम क्या करें। मन हमारे सामने कुछ तथ्य रखता है। उनका उपयोग करके हम किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं। परन्तु ये तथ्य कभी भी पूर्ण नहीं होते क्योंकि किसी भी परिस्थिति में हम सभी बातें प्रायः कम ही जान पाते हैं। इसके अतिरिक्त, हमारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्व-धारणाओं और पूर्व-भावनाओं से भी हमारा निर्णय प्रभावित हो सकता है। इसीलिए हम कभी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हमारा निर्णय सही है या गलत। क्या अपनी जीवनसम्बन्धी बातों में सही निर्णय पर पहुँचने का कोई साधन नहीं है ? क्या कोई ऐसी विधि नहीं जिससे जाना जा सके कि सभी प्रकार की परिस्थितियों में सही ढंग से काम कैसे किया जाए ? वह विधि तो है परन्तु वह क्षमता अपने अन्दर बुद्धि को जाग्रत करके ही प्राप्त की जा सकती है। किसी भी कार्य को करने की सदैव एक सही विधि होती है। इस सही विधि का अर्थ तर्क-प्रक्रियाओं में पड़े बिना सही कार्य को सही समय पर और सही ढंग से करना है। बुद्धि हमें विस्तार से नहीं बताएगी कि कार्य किस प्रकार किया जाए। विधि और साधनों की समस्या तो मन को ही हल करनी पड़ेगी। बुद्धि तो मोटे तौर पर और सही-सही हमें केवल यह संकेत देगी कि क्या करना चाहिए, हमारा आत्मिक स्वरूप जितना अधिक विकसित होगा हमारे मन में बुद्धि का प्रकाश उतना ही सुस्पष्ट होगा। तब हम जीवन को हर क्षण इस प्रकार जीएँगे जैसे जीना चाहिए अर्थात् पूर्णतः ईश्वरीय इच्छा के अनुकूल।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि बुद्धि आध्यात्मिक सत्यों को पहिचानने के लिए प्रयुक्त एक यंत्र है। परन्तु यह उपयुक्त ही होगा यदि इन में से एक सत्य को उदाहरणार्थ लेकर यह देखा जाए कि निम्न भौतिक चेतना में यह किस रूप में व्यक्त होता है। हम जीवन की एकता के सत्य को ही ले लें। यहाँ निम्न लोकों में, भ्रान्ति से भ्रमित हम अपने आपको दूसरों से भिन्न समझते हैं। हम स्वयं को शरीर मानते हैं। हमें लगता है, हमारे पारस्परिक हितों में टकराव है। इसलिए हम व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए लड़ते रहते हैं और अपने साथियों को कुचल डालते हैं। परन्तु इस स्पष्ट भिन्नता और स्वार्थों के टकराव के होते हुए भी कुछ व्यक्तियों में, विभिन्न मात्रा में, समस्त जीवित प्राणियों के प्रति बन्धुत्व का बोध, सहानुभूति की एक भावना धीरे-धीरे विकसित हो रही है। वे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही सुख अनुभव नहीं कर पा सकते। उनका अन्तर्मन संतुष्टि का अनुभव कर नहीं पाता। जब तक कि उनके आस-पास वाले व्यक्तियों की आवश्यकताएँ भी पूरी न हो जाएँ। दूसरों को कष्ट में देख कर उन्हें भी उनके साथ थोड़ा-बहुत कष्ट होता है। क्रूरता होते देख दुर्व्यवहार से पीड़ित अपने भाई की सहायता के लिऐ दौड़-पड़ने के लिए वे व्यग्र हो उठते हैं। इस सच्ची सहानुभूति अ र दूसरों के कल्याण की गहरी भावना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को केवल मानसिक विचारों पर आधारित बन्धुत्व की कोरी आदर्शवादी धारणाएँ समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। आधुनिक जगत् में हम इन मानसिक धारणाओं को अत्यधिक बर्बरतापूर्ण क्रूरता और निर्दयता से युक्त भयंकर संघर्षों के रूप में व्यक्त होते हुए देखते हैं।

सच्ची सहानुभूति की भावना, समस्त जीवित प्राणियों के साथ बन्धुत्व की भावना, फिर आती कहाँ से है? यह मन के क्षेत्र से तो नहीं आती। मन तो इन भेदात्मक और स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों की उत्पत्ति का कारण है। बात वास्तव में यह है कि जब बुद्धिक कोष काफी विकसित हो जाता है और जीवात्मा को बुद्धि-लोक में जीवन की इस एकता का बोध हो जाता है तो यह बोध ही धीरे-धीरे निम्न चेतना तक आता है और वहाँ सभी प्राणियों के प्रति सहानुभूति और करुणा के रूप में प्रकट होता है। ये दो गुण ही सभी सन्तों और ऋषियों की विशिष्टता होते हैं। अल्प-विकसित जीवात्माओं का बुद्धिक कोष बहुत विकसित नहीं होता और उच्च लोक पर यह एकता दिखाई ही नहीं देती। अतः उनमें इस सर्वव्यापी एकता और सहानुभूति की भावना का अभाव होना स्वाभाविक है। स्वार्थपरता और क्रूरता ही उनके जीवन की सामान्य अभिव्यक्तियाँ होती हैं।

निम्न लोकों में इस एकता का कितना अनुभव होगा, यह दो बातों पर निर्भर करता है। प्रथम, जीवात्मा उच्च लोकों में कितना सचेतन और जाग्रत है तथा बुद्धिक कोष कितना विकसित है। दूसरी बात यह है कि उच्च और निम्न के बीच का मार्ग कितना खुल चुका है और उच्च लोकों का कितना ज्ञान मन तक पहुँच सकता है। यह सम्भव है कि बुद्धिक कोष काफी विकसित हो और उच्च लोकों पर एकता के दर्शन स्पष्ट हों। फिर भी यदि उच्च और निम्न के बीच का मार्ग हमारी स्वार्थपरता, क्षुद्रता और सांसारिकता से अवरुद्ध है तो उच्च लोक का प्रकाश व्यर्थ ही मन की दीवारों से टकराता रहेगा और उसमें से एक क्षीण-सा भी प्रत्युत्तर उत्पन्न करने में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार उच्च लोकों में ईश्वर की सर्वव्यापी चेतना में स्थित रहते हुए भी यह सम्भव है कि निम्नलोकों में हम अपने इस दिव्य स्वरूप से अनभिज्ञ रहें। उच्च लोकों में यदि इस एकता की झाँकी के दर्शन हो गए हैं तो मन के निम्न लोकों में इसे उतार लाने की विधि यह है कि मन पर संयम किया जाए और उसे इतना निर्मल बनाया जाए कि उच्च का प्रकाश बिना किसी अव-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रोध के इसमें जगमगाता रहे। जिस प्रकार कारण-शरीर रूपी दर्पण में समष्टि मन प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार बुद्धिक कोष-रूपी दर्पण में समष्टि जीवन प्रतिबिम्बित होता है। वह जीवन व्यक्त जगत् में सर्वव्यापी है और सभी जीवित प्राणियों में विभिन्न मात्रा में जगमगा रहा है। मन-रूपी दर्पण जितना अधिक स्वच्छ, पवित्र और संयत होगा उसमें समष्टि चेतना का प्रतिबिम्ब भी उतना ही अधिक स्पष्ट होगा।

बुद्धि के कार्यों के उपरोक्त वर्णन से हम इस आत्मिक क्षमता के विषय में थोड़ा-बहुत समझ सकते हैं। यह एक ऐसी क्षमता है जिसका विकास हमारे दिव्य स्वरूप के प्राकट्य का उद्घोष करता है। इस क्षमता से हमें एक दिशा-सूचक यंत्र मिल जाता है जिसकी सहायता से हम जीवन के तूफानी समुद्र को पार कर सकते हैं और आत्म-बोध के सुदूर किनारे तक पहुँच सकते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, इन कार्यों में से एक वह क्षमता है जिसकी सहायता से हम आध्यात्मिक सत्यों को प्रत्यक्षतः जान लेते हैं और हमें मन की तर्कपूर्ण प्रक्रियाओं में नहीं जाना पड़ता। इस क्षमता के क्रियाशील हो जाने पर व्यक्ति को इन सत्यों का सहज बोध हो जाता है। यह ज्ञान उसे बाहर से प्राप्त नहीं होता, न विचार-संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा आन्तरिक लोकों से प्राप्त होता है। यह तो एक प्रकार से उसके अपने हृदय से, एक सोते के पानी की तरह, स्वतः फूट निकलता है, चाहे वह जान ही न पाए कि यह कहाँ से आता है, चाहे वह इसे दूसरों को बता ही न पाए। परन्तु इस ज्ञान-प्राप्ति का उसे इतना दृढ़ विश्वास हो जाता है जो मन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान में कभी आ ही नहीं सकता। संसार में समय-समय पर जो संत और ऋषि हुए हैं उनमें से अधिकांश विद्वान् नहीं थे, उन्होंने पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। फिर भी, जीवन की मूल समस्याओं की समझ अति उच्च कोटि की थी और इसीलिए समकालीन व्यक्तियों में उनको अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त था।

बुद्धिक लोक से आने वाले ज्ञान के विषय में दो बातें समझ लेनी चाहिए। एक तो यह ज्ञान मन के क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली साधारण बातों से सम्बन्धित नहीं होता। एक सन्त कितना ही प्रबुद्ध क्यों न हो, यदि आप उसके सामने अवकलन-गणित की एक समस्या ले जाएँ अथवा मोटर गाड़ी के इंजन की संरचना के बारे में कोई प्रश्न पूछें तो वह आपको कोई उत्तर नहीं दे पाएगा जब तक कि उसने इन विशेष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समस्याओं का पहले से ही अध्ययन न कर रखा हो। ऐसी बातों के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना मन का कार्य है; बुद्धि का नहीं। यदि कोई प्रबुद्ध व्यक्ति इन बातों के बारे में कुछ जानना भी चाहे तो उन विशिष्ट क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे सामान्य साधन ही अपनाने होंगे। यह सच है कि उसकी अतिभौतिक शक्तियों के कारण इस प्रकार का ज्ञान उसे सरलता से और कभी-कभी तुरन्त प्राप्त हो सकता है। परन्तु फिर भी ये साधन मन के क्षेत्र के हैं और उसे मन की शक्तियों और क्षमताओं के माध्यम से ही कार्य करना पड़ेगा।

बुद्धि के माध्यम से प्राप्त ज्ञान, जीवन और उसकी मूल समस्याओं से, वस्तुओं के बीच आवश्यक सम्बन्धों से, सम्बन्धित होता है। यह उस प्रकाश के समान है जो हमारे अन्तर और बाह्य जीवन को प्रकाशित कर देता है। सही और गलत, झूठ और सच का बिल्कुल ठीक-ठीक बोध हमें बुद्धि के द्वारा ही प्राप्त होता है। बुद्धि से ही हमें सब कुछ सही परिप्रेक्ष्य में और सार रूप में देखने की क्षमता प्राप्त होती है। परन्तु जब तक हम निम्न लोकों में रहते हैं, मन के प्रयोग की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। अतः हमें यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस क्षमता के विकसित होने पर हम क्या आशा कर सकते हैं और क्या नहीं। हम बुद्धि को सर्वव्यापी चेतना समझने की भूल न कर बैठें।

बुद्धिक चेतना के सम्बन्ध में दूसरी बात हमें यह समझनी है कि इसका स्वरूप दोहरा है। एक ओर तो इसका सम्बन्ध मन से सम्बद्ध विषयों से है और दूसरी ओर भावनाओं से सम्बन्धित विषयों से। इस लोक की शक्ति जब निम्न लोकों में उतरती है तो उसकी अभिव्यक्ति उन यंत्रावलियों के स्वरूप पर निर्भर करती है जिनके माध्यम से यह कार्य करे। जब बुद्धि मन के क्षेत्र में प्रतिबिम्बित होती है तो इसका स्वरूप आध्यात्मिक ज्ञान होता है। भावनाओं के क्षेत्र में प्रतिबिम्बित होने तथा वासना शरीर में कार्य करने पर यह आध्यात्मिक प्रेम के रूप में व्यक्त होती है। शक्ति तो एक ही है परन्तु माध्यम भिन्न हो जाने से अभिव्यक्ति भी भिन्न हो जाती है अथवा यह कहिए कि भिन्न प्रतीत होती है। हम भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार की अभिव्यक्ति से भलीभाँति परिचित हैं जहाँ एक ही शक्ति माध्यमों में भिन्नता के अनुसार विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। एक ही विद्युत्-प्रवाह जब बिजली के बल्व में प्रवाहित होता है तो प्रकाश देता है तथा रेडियेटर में प्रवाहित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने पर गर्मी। प्राय: यह देखा जाता है कि जब एक भावुक व्यक्ति में बुद्धि विकसित होने लगती है तो वह भक्ति के अनन्य प्रेम के रूप में व्यक्त होती है। विद्वान् व्यक्ति में वही बुद्धि जीवन की समस्त समस्याओं के प्रति सुस्पष्ट-दृष्टि के रूप में प्रकट होती है। जैसे-जैसे प्रेम या ज्ञान गहरा होता जाता है चेतना में धीरे-धीरे एक नई अवस्था का उदय होता है जिसे हम प्राय: प्रज्ञान कहते हैं। बुद्धि के दोहरे स्वरूप के कारण ही यह सम्भव है कि हम उसके विकास के लिए दोनों तरीकों में से किसी एक को अपना लें, हम इसे भक्ति के द्वारा विकसित कर सकते हैं—भक्ति वह उत्कट प्रेम है जो प्रेमास्पद के प्रति अपने को पूर्णत: समर्पित कर देता है। अथवा हम इसे विवेक के द्वारा विकसित कर सकते हैं। विवेक वह तीक्ष्ण बुद्धिमत्ता है जो मन की समस्त भ्रान्तियों का भेदन कर सके और मन के परे के जीवन से सम्पर्क स्थापित कर सके। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रेम या बुद्धिमत्ता अपने आप में पर्याप्त है। इसका अर्थ बस इतना ही है कि चेतना के इन पक्षों में से प्रारम्भिक अवस्थाओं में कोई एक प्रधान रहे और अन्तत: चेतना की उस स्थिति में विलीन हो जाए जो न शुद्ध प्रेम है और न शुद्ध बुद्धिमत्ता; वल्कि इन दोनों का समन्वित स्वरूप है।

एक अन्य अर्थ में भी बुद्धि का स्वरूप दोहरा है। बुद्धि के कार्यों की व्याख्या करते समय हमने एक कार्य की चर्चा की थी जिसे समझ या प्रत्यक्ष बोधक्षमता कहा जाता है। इस कार्य का सम्बन्ध वस्तुओं के प्रत्यक्ष बोध से अथवा आध्यात्मिक अर्थ में 'दर्शन' से है। इस कार्य को निष्क्रिय कर्म कहा जा सकता है और मन के क्षेत्र में ज्ञानेन्द्रियों के कार्य से मिलता-जुलता है। आध्यात्मिक प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होने पर भी यह कार्य मूलत: बोधगम्य है क्योंकि आध्यात्मिक प्रेम जीवन की एकता के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बोध पर निर्भर करता है। परन्तु बुद्धि का एक संक्रिय कर्म भी है जो मन के क्षेत्र में कर्मेन्द्रियों के कार्य से मिलता-जुलता है। यह कार्य बुद्धि की भूमिका से सम्बन्धित है। इसमें बुद्धि आत्मा के यंत्र के रूप में कार्य करती है और मन को सक्रिय बनाती है। इस कार्य की प्राय: उपेक्षा की जाती है। परन्तु योग-मनोविज्ञान का अध्ययन यह बताता है कि यह क्रियात्मक कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि बोधगम्य कार्य। बुद्धि को विष्णु का वाहन कहा जाता है। विष्णु विश्व-व्यापी चेतना तो है ही जिसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सब कुछ समाविष्ट है, वे शक्तिदाता, पालन कर्ता और संसार के नियन्ता भी हैं। आत्मा का यह दोहरा कार्य बुद्धिक कोष के माध्यम से होता है जो बुद्धि और मनोमय लोकों में कार्य करता है। बुद्धि के इस दोहरे कार्य के कारण ही सत्य का 'दर्शन' और जीवन का 'जीना' सच्चे प्रज्ञान के क्षेत्र में अभिन्न हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १३

बुद्धि का विकास

बुद्धि के कार्यों का वर्णन करने के पश्चात् हम इस महत्त्वपूर्ण क्षमता के विकास की प्रमुख समस्या पर विचार कर सकते हैं। इस समस्या का विवेचन करने के प्रारम्भ में ही यह बता देना आवश्यक है कि बुद्धिक चेतना का विकास बुद्धि कोष के विकास पर निर्भर करता है और यह कोई आसान काम नहीं है। इसके लिए बड़ी लगन और निष्ठा की आवश्यकता होती है। अधिकांश व्यक्तियों में यह विकास धीमी गति से होता है और इसकी उन्नति और पूर्णत्व के लिए अनेक जीवन आवश्यक होते हैं। यह सच है कि कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में यदि आत्मिक स्वरूप पहले ही विकसित हो चुका होता है और यह कठिनाई केवल उच्च चेतना को निम्न कोषों में लाने की होती है तो ऐसा लगता है कि विकास आश्चर्यजनक तीव्रता से हुआ है। परन्तु यह विकास नहीं होता यह तो उच्च लोकों में पहले ही विकसित हुई शक्ति को निम्न लोकों में शीघ्रता से लाना मात्र है।

हम जातक कथाओं में पढ़ते हैं कि बोधिसत्त्व होने से पूर्व निस्स्वार्थता और करुणा से परिपूर्ण कई जीवन बिता कर भगवान् बुद्ध ने इस क्षमता और अपने आत्मिक स्वरूप को पूर्ण बना लिया था। ये कथाएँ अक्षरशः भले ही सत्य न हों परन्तु ये एक सिद्धान्त को स्पष्ट करती हैं—प्रकृति की अन्य सभी चीजों की तरह आध्यात्मिक उन्नति भी धीमे विकास की बात है। जो धैर्यपूर्ण आत्म-साधना रूपी मूल्य चुकाने को तैयार नहीं हैं उन्हें आत्म-बोध प्राप्ति के फल और निम्न जीवन की भ्रान्तियों और कष्टों से मुक्ति पाने की आशा भी नहीं करनी चाहिए। भाग-दौड़ और उतावली के इस काल में हमें इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए। आज लोग सब चीजों को शीघ्रता से प्राप्त कर लेना चाहते हैं। यदि लक्ष्य-प्राप्ति और उसके साधनों में धैर्य और निरन्तर प्रयत्नों की आवश्यकता है, यदि एक जीवन में ही सफलता प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है तो वे अधीर हो जाते हैं। इसीलिए दृढ़ता से लक्ष्य की ओर बढ़ते रहने का निश्चय, असफलताओं से हतोत्साहित न होना तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्षणिक और दिखावटी सफलताओं से न अत्यधिक प्रफुल्लित होना—इस मार्ग पर चलने के लिए पहली आवश्यकता है। जिनमें ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं है, और जो केवल मनोरंजन के लिए या सांसारिक जीवन की उत्तेजनाओं और आकर्षणों से उत्पन्न प्रतिक्रिया के कारण इस मार्ग को अपनाते हैं उनको तो निराशा और असफलता ही मिलेगी।

यदि किसी व्यक्ति में लक्ष्य के प्रति इतनी लगन है और यदि वह सही भावना से प्रेरित है तो इस दिव्य कार्य को प्रारम्भ करने के लिए प्रथम आवश्यकता उचित आधार निर्मित करने की है और इसका अर्थ है—उच्च कोटि की शक्ति, निस्स्वार्थता और पवित्रता विकसित करना। एक दृढ़ चरित्र की आवश्यकता इसलिए है कि उच्च चेतना जब निम्न कोषों में उतरती है तो उन कोषों पर अत्यधिक भार पड़ता है। यदि चरित्र की दृढ़ता का पर्याप्त विकास पहले ही नहीं हो चुका है तो भयंकर हानि सम्भावित ही नहीं, सुनिश्चित है। यदि हम बहुत उच्च वोल्टेज की बिजली का प्रयोग करना चाहते हैं तो यह सदैव आवश्यक होता है कि हम अपने फिटिंग की विद्युत्-संवाहन क्षमता की जाँच करा लें और उसे यथासम्भव सुधार लें अन्यथा विद्युत्-धारा का भयंकर क्षरण होगा या सारी यंत्रावली ही नष्ट हो जाएगी। इसी प्रकार यदि हम उच्च आत्मिक क्षेत्रों के कम्पन अपने निम्न कोषों में लाना चाहते हैं तो हमारे समस्त कमजोर भागों का परीक्षण हो जाना चाहिए और यथासम्भव उन्हें शक्तिशाली बना लेना चाहिए अन्यथा देहात्मा का विघटन और फलस्वरूप जीवात्मा की प्रगति में काफी समय तक गतिरोध हो सकता है। हमारे सम्पूर्ण स्वभाव का परीक्षण और पुष्टीकरण हमारे दैनिक जीवन की कठिन परीक्षाओं के द्वारा होता रहता है। ये परीक्षाएँ प्रलोभनों, कठिनाइयों और विभिन्न प्रकार के परीक्षणों के रूप में होती हैं। इनमें से कुछ परीक्षाएँ तो हमारे जीवन की साधारण प्रक्रिया में होती रहती हैं। कुछ अन्य परीक्षण-योजनाएँ हमारी मानव-जाति के उन महान् गुरुदेवों द्वारा उन साधकों और शिष्यों के लिए विशेषतः बनाई जाती हैं जिनके प्रशिक्षण का भार उन पर होता है। इस प्रशिक्षण और आत्म-संयम के फलस्वरूप साधक में धीरे-धीरे लोहे की-सी दृढ़ता विकसित हो जाती है जो बिना टूटे भारी से भारी भार को भी सह सकता है।

आधार निर्मित करने के लिए दूसरा आवश्यक गुण निस्स्वार्थ दृष्टिकोण है। शक्ति जितनी अधिक होगी सावधानियाँ भी उतनी ही अधिक आवश्यक होंगी जिससे शक्ति का उपयोग स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों और दूसरों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को कष्ट पहुँचाने के लिए न किया जा सके। विकास-शृंखला में व्यक्ति जितना आगे बढ़ता है उतनी ही अधिक उसकी शक्तियाँ होती हैं। दूसरों का भला करने में ही नहीं उनका अहित करने में भी वह उतना ही सक्षम हो जाता है। और जो महान् शक्तियाँ आन्तरिक लोकों से संसार का निर्देशन कर रही हैं वे यथासम्भव इस बात का ध्यान रखती हैं कि ऐसी शक्तियाँ उन लोगों के हाथ न लग पाएँ जो उसका निस्वार्थ कार्यों के लिए उपयोग न कर सकें। व्यक्तिगत गौरव के लिए शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की प्रवृत्ति को (जो सभी महत्त्वाकांक्षी लोगों की विशेषता होती है) तो हमें अपने स्वभाव में से निकाल ही देना चाहिए। साथ ही हमें स्वार्थपरता के उस अस्पष्ट परन्तु अधिक प्रचलित स्वरूप से भी अपने को मुक्त कर लेना चाहिए जिसे स्वकेन्द्रिता कहते हैं। हममें से अधिकांश का जीवन अपने ही क्षुद्र व्यक्तिगत हितों और कार्यों के चारों ओर घूमता रहता है। हमारा लगभग सारा समय और विचार हमारे अपने काम-धन्धे, अपने परिवार, अपने शौक और अपने मनोरंजन में ही बीत जाता है। हम अपने ही तुच्छ और सामान्य कार्यों में व्यस्त रहकर अपना जीवन बिता देते हैं और कदाचित् ही हमें किसी और बात का भान होता है। यह समझ पाना कठिन नहीं होना चाहिए कि इस प्रकार का दृष्टिकोण आत्मा के पूर्णतः स्वार्थरहित जीवन के लिए एक अच्छा आधार नहीं हो सकता। यदि चेतना के उच्च स्वरूपों के सम्पर्क में आने की हमारी आकांक्षा है तो जीवन और दृष्टिकोण को सीमित करने वाली बाधाओं को हमें समाप्त करना ही पड़ेगा। इस पूर्णतः स्वार्थरहित दृष्टिकोण को प्राप्त करने का सर्वाधिक प्रभावी और शीघ्र फलदायी तरीका अपने साथियों की सही भावना से सेवा करना है। मैंने सही भावना की बात जानबूझ कर कही है क्योंकि यही तो कठिन समस्या है। हजारों लोग अपने साथियों की सेवा में संलग्न हैं परन्तु वे इस पूर्णतः स्वार्थरहित दृष्टिकोण को प्राप्त करने में कदाचित् ही कोई प्रगति कर पाते हैं। वे अपने लिए केवल अच्छे कर्मों का निर्माण कर लेते हैं और आगे चलकर इससे थोड़ी-बहुत सहायता भी मिलती है। परन्तु इससे उनके जीवन से व्यक्तिगत भाव पूरी तरह निकल नहीं पाता और वही तो आत्म-बोध के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। सेवा तो निष्काम और परमात्मा की पूजा के रूप में होनी चाहिए।

इस उच्च जीवन और चेतना का आधार तैयार करने के लिए तीसरी आवश्यकता शरीर, मन और भावनाओं की पवित्रता है। बुद्धि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के कार्यों की चर्चा करते समय यह बताया गया था कि यह उच्च चेतना भौतिक जगत् में कितनी लाई जा सकती है, यह इस पर निर्भर करता है कि उच्च और निम्न के बीच का मार्ग अवरोधों से कितना मुक्त है। और उच्च चेतना के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध निम्न कोषों की—और विशेषत: मन की—अपवित्रता है। जैसे धूल जमे दर्पण से सूर्य की किरणें प्रतिबिम्बित नहीं हो सकतीं उसी प्रकार अपवित्र मन सत्य को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता और हमारा आत्मिक स्वरूप उच्च लोकों में भले ही अत्यधिक विकसित हो, हम निम्न लोकों में अपनी दिव्य विरासत और दिव्य सम्भावनाओं से वंचित ही रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो एक आवरण उच्च को निम्न से अलग करता है और अपने सच्चे स्वरूप के दर्शन में बाधक बनता है। अत: अपने निम्न स्वभाव को निर्मल बनाने के विधिवत् और धैर्यपूर्वक प्रयत्न उस साधना और आत्म-नियंत्रण के अंग होने चाहिए जिन्हें हम अपने सामान्य दैनिक जीवन में बुद्धिक चेतना की अभिव्यक्ति की भूमिका तैयार करने के लिए अपनाएँ।

यदि हम अपने अन्दर दिव्य जीवन के अवतरण के लिए अपने आपको तैयार करना चाहते हैं तो जिन तीन गुणों की ओर ऊपर ध्यान दिलाया गया है—दृढ़ता, निस्स्वार्थता और पवित्रता—उन्हें हमें काफी विकसित करना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन की वास्तविकताओं का अनुभव करने के आकांक्षी अनेक व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर बिना निश्चित प्रगति किए वहीं के वहीं क्यों रह जाते हैं ? इसका प्रमुख कारण यह है कि वे उस जीवन की आवश्यक आधार-शिला रखने के लिए कोई कार्य ही नहीं करते और इन बातों के विषय में केवल पढ़ या सोचकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। पढ़ने और सोचने मात्र से हम बहुत अधिक प्रगति नहीं कर सकते। हमें गम्भीरता से प्रयत्न आरम्भ करने होंगे और सच्ची प्रगति के लिए आवश्यक शर्तें पूरी करनी होंगी क्योंकि हमें नियम-संचालित जगत् में कार्य करना है।

इस प्रकार रखी गई आधार-शिला पर सच्चे आध्यात्मिक जीवन का भवन निर्विघ्नता और विश्वास के साथ निर्मित किया जा सकता है। अब हम कुछ उन विशिष्ट विधियों और अभ्यासों पर विचार कर सकते हैं जो अनादि काल से उच्च चेतना के विकास के लिए बताए गये हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस आन्तरिक विकास के लिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनाए गये साधन बहुत-कुछ व्यक्तिगत होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट इकाई है। वह अन्य सभी से भिन्न तो है ही; जिस पूर्णत्व के मार्ग का वह अनुगमन करता है वह भी थोड़ा विशिष्ट ही होता है। यह विचार 'मार्ग प्रकाशिनी' (लॉइट ऑन दी पाथ) में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है : "प्रत्येक व्यक्ति पूर्णत: अपना स्वयं का मार्ग, सत्य और जीवन है।' इसका अर्थ है कि हमें जीवन में विभिन्न विधियों का प्रयोग करके देखना होगा और अपने उस विशिष्ट मार्ग का पता लगाना होगा जो हमें अपने लक्ष्य तक ले जाएगा। कोई भी ऐसा छोटा या बना-बनाया मार्ग नहीं है जिसे हम आँखें मूँद कर अपना लें और आत्म-बोध प्राप्त कर सकें। हमारा मार्ग विशिष्ट अवश्य है परन्तु अपने विशिष्ट मार्ग का पता लगाने के लिए कुछ सामान्य विधियाँ अपनाकर हम परीक्षण कर सकते हैं। अब हम इन सामान्य विधियों में से कुछ का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

इस खोज में हमारा पहला कदम यह है कि अपनी समस्त बिखरी हुई मानसिक शक्तियों को हम एकत्रित कर लें और उन्हें जीवन और जीने की समस्या में लगा दें। जब तक हम अपने मन को सभी प्रकार की विषय-वस्तुओं की खोज में निरुद्देश्य और बिना निर्देशन के भटकने देंगे तब तक हम भ्रान्ति के जाल में उलझे ही रहेंगे और सत्य सदैव हमारी दृष्टि से ओझल रहेगा। यह ठीक ही कहा है : "मन सत्य का हत्यारा है, शिष्य हत्यारे की ही हत्या कर दे।" हम मन की हत्या तभी कर सकते हैं, अर्थात् उसकी भ्रान्तियों से परे देखने की क्षमता तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब चेतना का प्रकाश हम स्वयं मन पर केन्द्रित कर दें और फिर यह देखने का प्रयत्न करें कि हमारी चेतना तक पहुँचने के पहले ही मन किस प्रकार प्रत्येक चीज को परिवर्तित और विकृत कर देता है। मन के द्वारा उत्पन्न की गई भ्रान्तियों का भान हमें तभी हो सकता है जब इसके माध्यम से चेतना तक पहुँचने वाली प्रत्येक चीज को देख पाने में हम समर्थ हों। निरन्तर जागरूकता और सतर्कता उत्पन्न करने का एक मात्र साधन विवेक है। विवेक वह क्षमता है जिसका उच्चतम स्वरूप धीरे-धीरे असत् जगत् का नाश करके हमें सत्य जगत् के दर्शन कराता है। यह विचार-प्रक्रिया बिल्कुल नहीं है। यह तो चेतना का वह स्वरूप है जिसके सामने विचार-प्रक्रियाएँ होती हैं और विशाल दृश्य के रूप में गुजर जाती हैं। मन और उसकी क्रियाओं पर तीव्र एकाग्रता का अभ्यास दिन-प्रतिदिन निरन्तर करते रहना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारी यह आदत बन जानी चाहिए कि अपने सामान्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी हमें हर समय मन की इस अनवरत क्रिया का बोध होता रहे। यह समझना सरल है कि यदि यह अभ्यास काफी समय तक किया जाए तो चेतना का केन्द्र धीरे-धीरे मन के क्षेत्र से (जहाँ वह इस समय केन्द्रित है) हट कर मन से परे बुद्धि के क्षेत्र में चला जाएगा। बुद्धि तो एक आत्मिक क्षमता है और मन उसकी सहायता से कार्य करता है। अतः अन्तःस्थित चेतना को मन की क्रियाओं का बोध होता रहता है। चेतना का केन्द्र जब इस नई स्थिति में, अर्थात् द्धि में, सुदृढ़ हो जाता है और जीवन को मन के लोक से नहीं, बुद्धि के उच्च लोक से देखा जाता है तब चेतना के क्षितिज पर वे सब सत्य प्रकट हो जाते हैं जिनका उद्भव बुद्धि-लोक में होता है। जीवन और मन की भ्रान्तियों का भेदन करके चेतना की उच्चावस्था प्राप्त करने के लिए विवेक का जिस विधि में उपयोग किया जाता है वही ज्ञान-मार्ग का आधार है।

उपरोक्त विधि मन के माध्यम से बुद्धि तक पहुँचने का मार्ग है। परन्तु भावनाओं के माध्यम से पहुँचने का एक अन्य मार्ग भी है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, बुद्धि का स्वरूप दोहरा है और उसमें मन और भावनाओं दोनों का सार समाहित है। दूसरी विधि सुपरिचित भक्ति-मार्ग है और अत्यन्त भावना-प्रधान व्यक्तियों के लिए उपयुक्त है। इस विधि में, विभिन्न प्रकार के साधनों द्वारा, किसी विशिष्ट देवता के प्रति प्रेम और भक्ति को अधिकाधिक तीव्र किया जाता है जब तक कि भक्त और इष्टदेव की चेतनाएँ मिलकर एक न हो जाएँ। हम सभी जानते हैं कि पृथ्वी तल की किसी वस्तु पर बिजली कैसे गिरती है। बादलों में उत्पन्न घर्षण-बिजली पृथ्वीतल पर उसका विपरीत चार्ज उत्पन्न करती है। जैसे-जैसे बादलों में बिजली का वोल्टेज बढ़ता जाता है दोनों विपरीत चार्जों के बीच दबाव भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। एक अवस्था ऐसी आती है कि दबाव इतना बढ़ जाता है कि इन दोनों चार्जों को अलग करने वाली वायु की प्रतिरोधक-शक्ति समाप्त हो जाती है और बिजली की चमक दो विपरीत चार्जों के निकट आने का और मिलकर एक हो जाने का उद्घोष करती है। कुछ इसी प्रकार की बात तब होती है जब परम आनन्द की अवस्था में भक्त और उसके इष्टदेव की चेतनाएँ मिलकर एक हो जाती हैं। भक्त के प्रत्यक्ष दर्शन से पूर्व सदैव ऐसा होता ही है। कुछ क्षणों के लिए भक्त की चेतना बुद्धि-लोक में चली जाती है और उसे वहाँ ऐसा अनुभव होता है कि वह और उसके इष्टदेव दो नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक ही हैं। उस क्षण के पश्चात् बुद्धि-लोक की प्रत्यक्ष चेतना का भान न भी रहे, परन्तु उसे प्राप्त दर्शन शक्तिशाली प्रेरणा के स्रोत बने रहते हैं और इस प्रकार निर्मित हुए माध्यम से बुद्धि-लोक के कम्पन प्रवाहित होते रहते हैं।

बुद्धिक चेतना विकसित करने के साधनों का वर्णन गायत्री के महत्त्व का उल्लेख किए बिना पूर्ण नहीं होगा। हिन्दुओं की दैनिक पूजा-पद्धति में गायत्री जप का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह सच है कि बिना उसके महत्त्व को समझे और साधना के अन्य पक्षों की ओर ध्यान दिए ही जिस प्रकार हजारों धर्मनिष्ठ हिन्दू इसका नित्य जप करते हैं उससे बहुत अच्छे परिणाम प्राप्त नहीं होते, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि जप सही विधि से और उचित परिस्थितियों में किया जाए तो बुद्धिक चेतना को विकसित करने के लिए यह अत्यन्त ही शक्तिशाली और प्रभावी साधन है। गायत्री के जप को एक वैज्ञानिक प्रयोग समझना चाहिए। जैसा सभी वैज्ञानिक प्रयोगों में होता है, यदि हम वांछित फल प्राप्त करना चाहते हैं तो सही परिस्थितियाँ उपलब्ध होना आवश्यक है। यहाँ इसकी व्याख्या करना तो सम्भव नहीं है कि ये परिस्थितियाँ क्या हैं। परन्तु यहाँ कुछ शब्द उस धार्मिक साधना की उपयुक्तता के बारे में कहना आवश्यक है जिसकी प्राचीन ऋषियों ने अपने उच्च स्वरूप से समस्वरता बनाए रखने के लिए अनुशंसा की थी।

गायत्री जप के बारे में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो पूर्णतः यांत्रिक है और दूसरी चेतना से सम्बन्धित है। जब हम केवल अपने अन्तर से ही प्राप्त हो सकने वाले दिव्य प्रकाश की तीव्र और सच्ची आकांक्षा करते हैं तो हमारे प्रभा-मंडल में एक विचित्र तनाव उत्पन्न हो जाता है। इसी तनाव के कारण उच्च लोकों से आने वाली शक्तियों के लिए नीचे आने का मार्ग खुल जाता है। यह तो एक वैज्ञानिक परीक्षण की बात है। हम जानते हैं कि यदि किसी बर्तन में दो छेद हों और एक छेद से हम उस बर्तन को खाली करने लगें तो दूसरे छेद से हवा प्रवेश कर जाएगी और बर्तन के खाली भाग में भर जाएगी। इसी प्रकार जब हम अपनी आत्मा के प्रकाश की तीव्र और सच्ची आकांक्षा करते हैं और व्यक्तिगत विचारों और वासनाओं को अपने अन्दर से निकाल देते हैं तो आत्मा का प्रत्युत्तर, यंत्रवत्, तुरन्त मिलता है और बुद्धि का प्रकाश तत्क्षण हमारे देहात्मा को प्रकाशित कर देता है। यह प्रत्युत्तर स्वतः होता है। परन्तु आकांक्षा सच्ची और हार्दिक होनी चाहिए और जप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मंत्र का दोहराना या विचार-श्रृंखला मात्र न हो। अब हम गायत्री मंत्र के अर्थ पर विचार करें। यह प्रार्थना सौरमंडल के देवता—वह समष्टि चेतना जो सौरमंडल का आधार है—से की गई है कि वे हमें अधिक प्रकाश—बुद्धि का प्रकाश प्रदान करें। यदि हम निरन्तर, निष्ठा से तथा उसमें निहित भाव से तादात्म्य होकर इस प्रार्थना को करते रहें तो सम्बन्धित शक्ति उच्च लोकों से खिचकर, निकल कर, उच्च कोषों को प्रकाश से भर देती है। उच्च लोकों पर प्राप्त यह प्रकाश सच्चे ज्ञान के अधिकाधिक प्रकाश और अधिक आध्यात्मिक दृष्टिकोण के रूप में देहात्मा में प्रतिबिम्बित होता है।

गायत्री जप का दूसरा प्रभाव यांत्रिक है और उस शक्ति पर निर्भर करता है जो सभी सच्चे मंत्रों में होती है। मंत्रों से उत्पन्न प्रभाव का आधार यह तथ्य है कि यह समस्त व्यक्त जगत् विभिन्न प्रकार के कंपनों पर आधारित है और उपयुक्त प्रकार के कम्पनों का चयन करके और उनका वैज्ञानिक ढंग से सम्मिश्रण करके बाह्य या आन्तरिक लोकों में कोई भी फल प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन ऋषियों ने, जिनकी दृष्टि के सामने मानों सूक्ष्म जगत् खुले पड़े थे, इस समस्या का अच्छी तरह अनुसंधान किया। उन्होंने कुछ विशिष्ट फल-प्राप्ति के लिए कुछ शब्द और विचारों के सम्मिश्रण तैयार किए। इन सम्मिश्रणों को ही मंत्र का रूप दे दिया गया। इन मंत्रों में गायत्री एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण मंत्र है और इसे विशेषतः बुद्धिक चेतना को विकसित करने के लिए बनाया गया है। यह बुद्धि कोष को तो शक्ति प्रदान करता ही है, यह निम्न कोषों को भी समन्वित करता है और उनमें तथा उच्च कोषों में समस्वरता स्थापित करता है ताकि उच्च लोकों की शक्तियाँ बिना किसी बाधा के अन्तरिम लोकों से होकर हमारी स्थूल चेतना में प्रकट हो सकें। इस मंत्र की कार्य-विधि चाहे कुछ भी हो, उच्च चेतना के विकास में इसका प्रभाव सुनिश्चित और महत्त्वपूर्ण है। परन्तु अन्य सभी आवश्यक शर्तों का पूरा होना आवश्यक है।

विकास की जिन समस्त विधियों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनका झुकाव योगाभ्यास की ओर है और अन्ततः लक्ष्य भी वही है। योगाभ्यास की कड़ी मानसिक साधना और आत्म-संयम के बिना बुद्धिक चेतना की उच्च अवस्थाएँ प्राप्त ही नहीं की जा सकतीं। बुद्धिक चेतना का पूर्णतः सचेतन होकर कार्य करना तभी सम्भव है जब मन और वासनाओं के परे जाया जा सके और साधक समाधि में बुद्धि तथा अन्य उच्च

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकों तक अपनी चेतना ले जा सके। तभी और केवल तभी वह जीवन को उसके वास्तविक स्वरूप में देख सकेगा। जीवन के रहस्य को जान सकेगा। आध्यात्मिक जीवन के उन सनातन सत्यों का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त कर सकेगा जिन्हें वह अब तक केवल सही मान लेता था और अपने अन्तर बोध के आधार पर स्वीकार कर लेता था। एक बार प्रत्यक्ष दर्शन कर लेने के पश्चात् वह भ्रान्तियों से कभी भी पूर्णतः अभिभूत नहीं हो सकता, भले ही वह फिर से निम्न जीवन में निमग्न हो जाए। वह तो फिर निरन्तर उच्च चेतना के प्रकाश में जीता है। जैसे-जैसे वह विकास-क्रम में आगे बढ़ता है, बुद्धि-लोक की सर्वातीत चेतना उसकी सामान्य चेतना का अंग बन जाती है। वह नीचे के लोकों में तभी आता है जब कार्य के लिए उसकी वहाँ उपस्थिति आवश्यक हो।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि सही प्रकार का आत्म-संयम बुद्धिक चेतना के विकास हेतु अभ्यास का आवश्यक अंग है। यह सच है कि बुद्धिक चेतना की प्राप्ति आन्तरिक वास्तविकताओं के प्रत्यक्ष बोध की बात है। परन्तु यह प्रत्यक्ष बोध पवित्र, शान्त, संयमित ओर समस्वरित कोषों की सहायता से ही सम्भव है। केवल इच्छा करने मात्र से ये परिस्थितियाँ प्राप्त नहीं हो जातीं। इनके लिए लम्बे और कड़े आत्म-नियंत्रण की आवश्यकता होती है। और इसका अर्थ है अपने आध्यात्मिक आदर्शों को सम्यक् जीवन और विचारों में रूपान्तरित कर देना। ये परिस्थितियाँ क्या हैं और कैसे प्राप्त हो सकती हैं ये योग-दर्शन और साधना की बातें हैं और इनकी संक्षिप्त चर्चा बाद में की जाएगी।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १४

मन और बुद्धि

पिछले अध्यायों में मन और बुद्धि के कार्यों का वर्णन तो किया जा चुका है, परन्तु इन कार्यों में विभेद कर पाना आसान नहीं है। इन दोनों को स्पष्टतः समझने में भ्रम होने की सम्भावना है। इसीलिए यह आवश्यक है कि इस प्रश्न पर थोड़ा और विचार करके यह अच्छी तरह समझ लिया जाए कि मन और बुद्धि में क्या सम्बन्ध है और ये दोनों एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं। साधारण वैचारिक ज्ञान और सच्चे प्रज्ञान के बीच स्पष्टता का अभाव ही हमारे आध्यात्मिक जीवन की अधिकांश गतिहीनता तथा धर्म और दर्शन सम्बन्धी वैचारिक ज्ञान पर अनावश्यक बल दिये जाने के लिए उत्तरदायी है। इस भ्रम या अस्पष्टता के कारण केवल विद्वत्ता और धार्मिक जीवन के बाह्य आडम्बर को ही भूल से आध्यात्मिकता समझ लिया जाता है। बहुत-से साधक थोथे वैचारिक ज्ञान मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें कभी यह अनुभव ही नहीं होता कि ऐसे ज्ञान से प्राप्त विश्वास की कल्पित भावना भ्रामक है और बाह्य परिस्थितियों में सामान्य-से परिवर्तन से पूर्णतः समाप्त हो सकती है। मन और बुद्धि के बीच सम्बन्ध को ठीक-से समझ लेने पर हम वैचारिक ज्ञान के सही मूल्य का अनुमान लगा सकेंगे और अपने तथा-कथित आध्यात्मिक जीवन के लिए स्थायी और विश्वसनीय आधार खोज सकेंगे।

परन्तु पहले हम अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन) शब्द पर थोड़ा विचार कर लें। प्रायः साधारण व्यक्ति अन्तःप्रज्ञा को अधिक महत्त्व नहीं देता। इसी कारण ऐसा लगता है कि अपने अन्तर में परम सत्य की खोज में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति के लिए यह शब्द अत्यन्त कमजोर और शक्तिहीन हैं। इस शक्ति के लिए अन्तःप्रज्ञा या अन्तर्बोध शब्द का उपयोग करके मेरी समझ से भूल की गई है। पाश्चात्य दार्शनिक के लिए अन्तःप्रज्ञा शब्द उपयुक्त है क्योंकि उसका दर्शन अधिकांशतः सैद्धान्तिक है। मन के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से जीवन की वास्तविकताओं के विषय में गहराई से जानने की सम्भावना को वह बड़ी दुविधा के साथ स्वीकार कर पाता है। अन्तर जीवन की वास्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकताओं को प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है, इस बात को न जानने या उस सम्भावना को स्वीकार न करने के कारण 'अन्त:प्रज्ञा' शब्द से उसका काम अच्छी तरह चल गया। उसने इस सम्भावना को अस्पष्ट और अनिश्चित-सा ही माना और उससे भी अधिक अस्पष्ट और अनिश्चित माना इस अन्त:प्रज्ञात्मक शक्ति को।

परन्तु प्राच्य दर्शन के अनुसार मन को ज्ञान प्राप्ति का बहुत ही अपूर्ण साधन माना गया है। उसकी मान्यता है कि मन या चेतना का विषय-वस्तु से तादात्म्य होने पर ही सच्चे ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार का 'तादात्म्य ज्ञान' या बोध प्रत्यक्ष, स्पष्ट और विश्वसनीय होता है और उसमें किसी भूल या भ्रम की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि जिस शक्ति के द्वारा इस प्रकार का बोध प्राप्त हो उसके लिए एक अधिक अर्थ-बोधक शब्द का प्रयोग किया जाए। थिओसॉफिकल साहित्य में प्राय: प्रयुक्त 'बुद्धि' शब्द अधिक सन्तोषजनक है परन्तु इसका दोष यह है कि हिन्दू दर्शन में इसका प्रयोग मन के क्षेत्र के बहुत-से कार्यों के लिए भी किया जाता है, जैसे अनुभूति, विवेक, तर्क, आदि। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कराने वाले यंत्र के लिए किसी अधिक उपयुक्त शब्द का प्रयोग आवश्यक है। परन्तु एक नया शब्द गढ़ने से हो सकता है और भी अधिक भ्रम उत्पन्न हो जाए। इसलिए प्रचलित अन्त:प्रज्ञा, या अन्तर्बोध, और बुद्धि शब्दों का ही प्रयोग उनकी सीमाओं और अपूर्णताओं को ध्यान में रखकर करना ही ठीक होगा।

मन और बुद्धि के कार्यों और उनके द्वारा प्राप्त विभिन्न प्रकार के ज्ञान को समझने के लिए हम भौतिक जगत् के अनुभव को लेते हैं। उसमें ये अन्तर स्पष्ट हो सकेंगे। मान लीजिए, अँधेरी रात में आप किसी अजायबघर के एक विशाल कमरे में यह जानने के उद्देश्य से प्रवेश करते हैं कि उसमें क्या-क्या रखा है। वहाँ अँधेरे में उन विभिन्न वस्तुओं के बीच में से आप बड़ी सावधानी से अपना मार्ग टोहते हैं। वस्तुओं को छूकर, उनका अनुभव करके आप यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि वे क्या हैं। एक मेज की टाँग को छूकर आप यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह कोई गोलाकार लम्बी चीज होगी। फिर आप उसकी सतह को छूते हैं और आप अपना मत बदल देते हैं और यह सोचते हैं यह एक समतल सतह वाली कोई वस्तु होगी। इस प्रकार आप एक वस्तु से दूसरी वस्तु के पास जाते हैं और विभिन्न वस्तुओं के स्वरूप और उनकी स्थिति का एक मानसिक चित्र बना लेते हैं। आप जब इस प्रकार जानने की प्रक्रिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में व्यस्त हैं तो ऊषा का हल्का-सा प्रकाश कमरे में आने लगता है और विभिन्न वस्तुओं को आप थोड़ा-थोड़ा देख पाते हैं। प्रकाश और तेज होने पर आप वस्तुओं को और अधिक स्पष्ट देख पाते हैं और अन्ततः आप कमरे की सभी वस्तुओं को, बिना अपने स्थान से हिले-डुले ही, स्पष्ट और ठीक प्रकार से देख पाते हैं। अंधकार में वस्तुओं के विषय में जानने का प्रयास मन के कार्य के समान है। और उन्हें सूर्य के प्रकाश में देखना बुद्धि के कार्य के समान। इसलिए हम सामान्य रूप से कह सकते हैं कि बुद्धि वस्तुओं को प्रत्यक्ष, ठीक-ठीक, पूरी तरह और उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखती है जबकि मन उन्हें अप्रत्यक्ष और आंशिक रूप से तथा परिप्रेक्ष्य से हट कर ही देख पाता है।

बुद्धि के कार्यों के बारे में पहली महत्त्वपूर्ण बात हमें यह समझ लेनी है कि इसका सम्बन्ध तथ्यों से उतना नहीं होता जितना कि उन तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों और महत्त्व से होता है। बुद्धि के प्रकाश से जब मन प्रकाशित होता है तब प्रज्ञान का उदय होता है। प्रज्ञान मूलतः तथ्यों को सही परिप्रेच्य में और सही महत्त्व के साथ देख पाने की क्षमता है। तथ्यों से भरा हुआ मन, चाहे वे सही ही क्यों न हों, उन्हें बिल्कुल भी नहीं समझ पायेगा, यदि बुद्धि का प्रकाश उनको समन्वित करके उनके महत्त्व को स्पष्ट नहीं करता। आधुनिक विज्ञान की प्रगति ने, और विशेषकर अणुशक्ति की खोज ने, मन के साथ-साथ बुद्धि का विकास न होने में निहित जोखिमों को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। बुद्धि ही ज्ञान को प्रज्ञान बनाती है।

तथ्यों के बीच एक नये सम्बन्ध का बोध उन तथ्यों के महत्त्व को पूर्णतः बदल देता है। यह बात एक सरल से उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो सकती है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति का पुत्र बचपन में ही खो जाता है और उसका लालन-पालन अन्यत्र होता है। परन्तु उसके पिता को इसका लेश-मात्र भी पता नहीं चलता। बड़ा होकर वह पुत्र अपने पिता के घर आता है और उसे वहाँ नौकर रख लिया जाता है। इस रूप में पुत्र वहाँ वर्षों तक कार्य करता है। फिर एक दिन पता चलता है कि जो व्यक्ति उनके यहाँ नौकर के रूप में कार्य कर रहा है वही उसका खोया हुआ पुत्र है। इस बात का पता चलते ही उनके सम्पूर्ण सम्बन्धों में एक-दम परिवर्तन आ जाता है। तथ्य तो पूर्ववत् ही हैं। फिर भी उस सम्बन्ध की जानकारी से उन तथ्यों का महत्त्व ही पूर्णतः बदल जाता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और परिणामस्वरूप उनके सम्बन्ध ही मूलतः बदल जाते हैं। इसी प्रकार से बुद्धि के द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष वोध हमारे दृष्टिकोण और मनोभावों को और फलतः हमारे जीवन को, बिना बाह्य परिस्थितियों में किसी भी परिवर्तन के, पूर्णतः बदल सकता है।

अपनी आन्तरिक विकास-प्रक्रिया में नये सम्बन्धों की खोज के फल-स्वरूप अपने जीवन और दृष्टिकोण में आये महान् परिवर्तन पर हम कुछ उदाहरण लेकर विचार करें। पहले हम जीवात्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध को ही ले लें। यह हमारे जीवन के महानतम रहस्यों में से एक है और मानवीय विकास के अन्तिम चरण में जाकर ही यह रहस्य पूर्णतः प्रकट होता है जैसा कि अत्यन्त सुन्दर शब्दों में "मार्ग प्रकाशिनी" (लाइट ऑन दी पाथ) में कहा है : "युगों से जो अन्तिम रहस्य तुमसे छिपा हुआ है उसे अन्तरतम से, उस एक से पूछो।" परन्तु इस रहस्य का पूर्ण उद्घाटन तो अन्तिम अवस्था में, निर्वाण के द्वार तक पहुँचने पर ही होता है। फिर भी, हमारे आत्मिक विकास की अत्यन्त ही प्रारम्भिक अवस्था से ही इस रहस्य का 'आभास-सा' होने लगता है। इस रहस्य का 'आभास' अपने केन्द्र या जीवन-स्रोत के प्रति सच्चे प्रेम या भक्ति के रूप में व्यक्त होता है। हमारे जीवन के अन्तरतम में पूर्व-स्थापित घनिष्ठ सम्बन्ध का विभिन्न अंशों में प्रत्यक्ष दर्शन बुद्धि को होता है। उसी का निम्न मन में प्रतिबिम्बन यह 'आभास' है—और कुछ नहीं। परन्तु यह आभास घोरतम पापी को भी सच्चा सन्त बना देने के लिए पर्याप्त है।

अब हम जीवात्मा के व्यापक जीवन में एक अन्य महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध को लेते हैं—अर्थात् विभिन्न जीवात्माओं का पारस्परिक सम्बन्ध। सभी जीवात्माएँ मूलतः दिव्य हैं और उस एक परम सत्ता की चेतना के केन्द्र हैं। जीवात्माओं के बीच पारस्परिक सच्चे सम्बन्ध का बोध उस एक दिव्य जीवन से अपने सम्बन्ध के बोध पर निर्भर करता है, जिस जीवन की वे सभी जीवात्माएँ विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इसलिए हमारे बन्धुत्व के रहस्य का हमारे दिव्य उद्गम के रहस्य के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः ये दो रहस्य एक ही रहस्य के दो पक्ष हैं।

अतः यह स्पष्ट हो जाएगा कि समस्त जीवित प्राणियों के साथ बन्धुत्व की सच्ची अनुभूति, विभिन्न अंशों में, ईश्वर के परमपिता होने की अनुभूति पर और अपने दिव्य स्वरूप के बोध पर निर्भर करती है। सच्चे अर्थों में बन्धुत्व केवल आत्मिक लोकों पर ही होता है। जब तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने दिव्य स्वरूप का बोध नहीं होता, बन्धुत्व केवल एक वैचारिक आदर्श या अधिक से अधिक सबके प्रति सहानुभूति और सच्ची करुणा की भावना मात्र होता है। अपने दिव्य स्वरूप और जीवन की एकता का हमें जितना 'आभास' होगा सच्चे बन्धुत्व को हम उतना ही जान और समझ पाएँगे। आत्मानुसंधान और विश्व-बन्धुत्व की अनुभूति की समस्या इसलिए वस्तुतः एक है, दो नहीं। वैचारिक आदर्श, स्वार्थ या भावना मात्र पर आधारित बन्धुत्व के सामान्य स्वरूप आसानी से कलुषित हो जाते हैं। यदि आपका भाई आपके इच्छानुसार कार्य नहीं करता या आपको कष्ट पहुँचाता है तो आप उससे घृणा करने लगते हैं। आप उसका विनाश करने को भी उद्यत हो सकते हैं। यदि सच्चा बन्धुत्व बुद्धि के प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित है तो ऐसा सम्भव ही नहीं है। तब हमें बोध होगा कि हम सबका उद्भव एक स्रोत से हुआ है और हम सभी उस एक जीवन के अंग हैं।

यह बात कि बुद्धि का कार्य सम्बन्धों से है, उसके प्रत्यक्ष बोध के कार्य से भी स्पष्ट हो जाती है। योग दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष बोध उसका प्रमुख कार्य है। प्रत्यक्ष-बोध क्या होता है? यह वह सम्बन्ध है जो द्रष्टा और दृश्य अथवा व्यक्ति और विषय वस्तु को मिलाता है। जब द्रष्टा-दृश्य सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, जैसा कि समाधि में होता है, तो तीनों, अर्थात् द्रष्टा, दृश्य और दर्शन का विलय हो जाता है और एक समग्र चेतना शेष रहती है। इसका अर्थ होता है, द्रष्टा द्वारा दृश्य की वास्तविक अनुभूति।

अब हम बुद्धि के एक अन्य कार्य पर विचार करेंगे। जिस साधक ने अभी मार्ग पर चलना प्रारम्भ ही किया है उसके लिए यह अत्यन्त महत्त्व का है। इसे विभेदात्मक कार्य कह सकते हैं। यदि हम मार्ग पर निर्विघ्न होकर चलना चाहते हैं तो सही और गलत में विभेद कर पाने की और किसी भी कीमत पर केवल सही कार्य करने की क्षमता बहुत प्रारम्भिक अवस्था में ही प्राप्त कर लेनी चाहिए। बुद्धि का प्रकाश मन को आलोकित कर सके इसके लिए मन का शुद्ध और शान्त होना आवश्यक है। यह बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि हमारा जीवन कितना सत्य-निष्ठ है। सत्यनिष्ठा से मेरा अर्थ यह नहीं है कि किसी धर्म या विचार-धारा के अनुसार किसी विशिष्ट आचार-संहिता का पालन किया जाए। इसका अर्थ है कि अपनी समझ के अनुसार हम जिसे ठीक मानते हैं उसे सहज भाव से और बिना किसी प्रयत्न या संघर्ष के करने की हमारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवृत्ति स्थायी हो जाए। सही और गलत तो सापेक्षिक हैं। हम जिसे सही समझते हैं, हो सकता है प्राप्त परिस्थितियों में वह सही न हो। परन्तु भावना की पवित्रता के दो प्रत्यक्ष परिणाम होते हैं। एक तो यह हमें उस आन्तरिक संघर्ष से मुक्त कर देती है जो सभी सिद्धान्तविहीन लोगों के जीवन को विशृंखल बना देता है और मन में एक अत्यन्त अस्वस्थ स्थिति उत्पन्न कर देता है। दूसरे यह धीरे-धीरे मन को पवित्र बना देती है और बुद्धि के प्रकाश का इस तक अधिकाधिक पहुँच पाना सम्भव हो जाता है। बुराई के साथ समझौता कर लेने का सबसे अवांछनीय परिणाम यह होता है कि हम शीघ्र ही एक दुश्चक्र में फँस जाते हैं और उससे फिर निकल पाना कठिन होता है। बुरे कर्म, विचार और भावना बुद्धि को अधिकाधिक आच्छादित कर देते हैं। बुद्धि के आच्छादित हो जाने से हम समझ ही नहीं पाते कि कोई कार्य सही है या गलत और हम और अधिक बुराई में फँसते ही जाते हैं। इसी प्रकार से ऐसा होता है कि सामान्यतः समझदार लोग धीरे-धीरे पापमय जीवन बिताने लगते हैं और उन्हें इस बात का भान तक नहीं होता कि वे कुछ गलत भी कर रहे हैं। बुद्धि के विभेदात्मक कार्य के द्वार उनके लिए बन्द हो जाते हैं।

जिस प्रकार हम बुराई के दुश्चक्र में फँस जाते हैं उसी प्रकार हम सही कार्य करके अपने लिए एक अच्छाई का चक्र भी बना सकते हैं। यदि हम सदैव वही कार्य करें जिसे हम ठीक समझते हैं, चाहे परिणाम कुछ भी हो, तो हमारा मन थोड़ा निर्मल हो जाता है। उससे मन में बुद्धि का प्रकाश थोड़ा अधिक आने लगता है और हमारी विभेदात्मक क्षमता बढ़ती है। सही क्या है यह देख पाने की क्षमता के अनुपात में सही कार्य करने की संकल्प-शक्ति भी दृढ़ होती जाती है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हम अन्ततः गलत कार्य करने की प्रवृत्ति से मुक्त हो जाते हैं। साथ ही हमें यह जानने में भी सहायता मिलती है कि प्रत्येक परिस्थिति में क्या करना उचित होगा। ऐसे कोई भी बँधे-बँधाए नियम नहीं हैं जिन पर सत्यनिष्ठ जीवन बिताने के लिए यंत्रवत् चला जा सके। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति नई होती है और उसमें विवेक और कर्म आवश्यक होते हैं। यदि कोई ऐसी चीज है जिसके द्वारा हम प्रत्येक परिस्थिति में बिल्कुल निश्चित रूप से जान सकें कि कौन सा मार्ग सही है और जो हमें उस पर चलने की शक्ति और दृढ़ता प्रदान करे तो वह है निर्मल मन, जिसमें बुद्धि का प्रकाश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निरन्तर जगमगाता रहे और कभी मलिन न हो। क्योंकि बुद्धि का कार्य सम्बन्धों से है इसीलिए यह हमें प्रत्येक परिस्थिति में सही और गलत में विभेद करने में सहायक होती है।

बुद्धि के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का विवेचन करने के पश्चात् हम अब संक्षेप में उन बातों पर विचार करें जिनसे ज्ञान और प्रज्ञान में अन्तर स्पष्ट हो सके। ज्ञान केवल मन के द्वारा प्राप्त होता है परन्तु जब बुद्धि का प्रकाश मन को प्रकाशित कर दे तब प्रज्ञान की उपलब्धि होती है।

इस सम्बन्ध में ध्यान आकर्षित करने वाली पहली बात यह है कि केवल मन द्वारा ज्ञान होने पर कथनी और करनी में बहुत बड़ा अन्तर हो सकता है। परन्तु प्रज्ञान में यह सम्भव ही नहीं है। एक विद्वान् व्यक्ति का ज्ञान केवल मन पर आधारित होता है। वह धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र के उच्चतम सिद्धान्तों पर बड़े ही प्रतिभाशाली ढंग से बातें कर सकता है, भाषण दे सकता है और लिख सकता है। परन्तु यह सम्भव है कि जिन बातों में वह विश्वास प्रकट करता हो उनका उसके जीवन में नितान्त अभाव हो। जिस व्यक्ति ने इन सत्यों की अनुभूति बुद्धि के प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा कर ली है उसके लिए यह सम्भव ही नहीं है क्योंकि वह जानता है कि अन्तर जीवन से सम्बन्धित ये सत्य वास्तविकताएँ हैं। जो व्यक्ति जान लेता है कि अधर्म से दुःख और नैतिक पतन होता है वह अधर्म से उसी प्रकार बचता है जैसे एक साधारण व्यक्ति, यह जान लेने पर कि जहर उसे मार डालेगा, जहर से बचता है।

प्रज्ञान द्वारा निर्दिष्ट कार्य अनिवार्यतः किया तो जाता ही है, उसके करने में कोई हिचकिचाहट, कोई पश्चात्ताप नहीं होता, चाहे उस कार्य से उस समय हानि, असुविधा या दुःख ही क्यों न हो क्योंकि इसका दृढ़ विश्वास होता है कि जो सही है वही आगे चल कर हमारे हित में ही होगा। साधारण ज्ञान और प्रज्ञान को क्रमशः कार्य रूप में परिणत करने में यह अन्तर बौद्धिक क्षमता के स्वरूप के कारण है। बुद्धि-लोक में प्रत्यक्ष ज्ञान और कर्म एक-दूसरे से अभिन्न होते हैं। शंका या अनिश्चितता कर्म में बाधक होते हैं परन्तु उनका उस क्षेत्र में अस्तित्व ही नहीं होता। बुद्धि-लोक में सब कुछ प्रत्यक्ष होता है। शंका केवल मन के क्षेत्र में कार्य करने-वाले व्यक्ति के कार्यों को विश्रृंखल बना देती है। यही कारण है कि निर्णय सही होने पर यह आवश्यक नहीं है कि उसके अनुसार कार्य किया ही जाए। यदि हम जो करना चाहते हैं नहीं कर पाते तो हमारे मन में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहीं न कहीं थोड़ी शंका सदैव छिपी रहती है, चाहे हमें उसका पता न हो। यह संकल्प शक्ति का प्रश्न नहीं हैं, सही और स्पष्ट प्रत्यक्ष-दर्शन की बात है। यदि हम जान लें कि अमुक वस्तु में जहर है तो उसे खाने से अपने आपको रोकने में संकल्पशक्ति की बहुत आवश्यकता नहीं होती।

इनके स्वभाव के अनुसार ज्ञान और प्रज्ञान दोनों को प्राप्त करने के साधनों में भी अन्तर है। ज्ञान की कोई विषय-वस्तु होती है। अतः ज्ञान-रूपी भवन को एक-एक ईंट लेकर बनाना पड़ता है अथवा तूलिका से एक-एक लकीर खींच कर चित्र बनाना पड़ता है। इसमें समय और शक्ति की आवश्यकता होती है। परन्तु प्रज्ञान की वास्तव में कोई विषय-वस्तु नहीं होती। वह तो केवल मन द्वारा ज्ञात किए तथ्यों के सम्बन्धों और महत्त्व को देखने की बात है। प्रज्ञान में कोई निर्माण कार्य नहीं किया जाता। यह तो बस प्रत्यक्ष-दर्शन की अन्तःप्रवेशी शक्ति को बढ़ाने को तथा चीजों को गहराई से देखने को बात है। प्रत्यक्ष-दर्शन जितना अन्तःप्रवेशी होगा प्रज्ञान उतना ही गहरा होगा। बुद्धि के प्रत्यक्ष-दर्शन की एक अन्तःप्रवेशी झलक किसी भी व्यक्ति को पूर्णतः बदल सकती है। उसे जीवन की वास्तविकताओं के ऐसे दर्शन करा सकती है जो अनेक जीवनों तक जीवन की गहन समस्याओं के अध्ययन के पश्चात् भी सम्भव न हो सकें। बिजली की एक झलक किसी स्थल को इस प्रकार स्पष्ट कर सकती है जो अंधेरी रात में लालटेन लेकर ढूँढ़ने का प्रयत्न करने पर भी सम्भव न हो। प्रज्ञान तात्कालिक सुसम्बद्ध और सही परिप्रेक्ष्य में होता है। ज्ञान आंशिक और परिप्रेक्ष्य से हट कर होता है। दोनों को प्राप्त करने की समयावधि में तो अन्तर है ही, दोनों का मूल स्वरूप भी एक जैसा नहीं होता। अतः पुस्तकें पढ़कर, वाद-विवाद करके, भाषण सुनकर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के तथ्यों से इस प्रकार ज्ञान-रूपी भवन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त हो सकती है। इन्हें सुव्यवस्थित ढंग से रखना पड़ेगा, रिक्त स्थानों की पूर्ति करनी होगी, विचारों को स्पष्ट करना होगा, कमजोर स्थलों को दृढ़ बनाना पड़ेगा। परन्तु प्रज्ञान के लिए हमें मन में से अपवित्रता, विक्षेप और मनोग्रंथियों को तथा कार्य में उनकी गलत अभिव्यक्तियों को निकाल कर अपनी दृष्टि की स्पष्टता को बढ़ाना पड़ेगा। हमें अपने अन्तर में प्रवेश करना होगा। गहराई से देखना होगा, चेतना के उच्च स्तर तक ऊपर उठना होगा और मानसिक और आत्मिक के बीच के मार्ग को खोलना पड़ेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान और प्रज्ञान के उपरोक्त विवेचन से साधक को यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाएगा कि उसे किस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। वह यह निर्णय कर सकेगा कि उसे किस सीमा तक केवल मानसिक क्रियाओं पर निर्भर रहना तथा उनके लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रज्ञान के विकास के लिए उसे कौन-से साधन अपनाने चाहिए। वह यह भी जान सकेगा कि उसका कितना ज्ञान मन से तथा कितना बुद्धि से प्राप्त हुआ है। इन दोनों में विभेद करने के लिए कुछ सीधे-सीधे प्रश्नों के द्वारा वह अपने मन की सामान्य स्थिति को जान सकता है। वे प्रश्न निम्नलिखित हैं :—

(१) क्या हम अपने सही निर्णयों या विचारपूर्वक प्राप्त निष्कर्षों पर उचित कार्य करने में हिचकिचाहट या अनिच्छा का अनुभव करते हैं ?

(२) क्या हमारे निर्णयों के अनुसार कार्य सहजतः सरलता और बिना 'निम्न मन' के अवरोध के होता है ?

(३) क्या हमारे निष्कर्षों और विश्वासों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है—आज यदि सब कुछ पूर्णतः सुनिश्चित और विश्वास से परिपूर्ण है तो कल सब कुछ अव्यवस्थित और शंकाओं से व्याप्त।

(४) क्या नए तथ्यों की खोज के प्रकाश में हमें अपने निष्कर्षों को निरन्तर बदलना या परिवर्तित करना पड़ता है ?

(५) क्या नये तथ्यों से और अनुभवों से केवल हमारे ज्ञान की मूल संरचना और अधिक स्पष्ट, साफ और सुनिश्चित होती है अथवा जब कभी भी हमें नए तथ्य या अनुभव प्राप्त होते हैं तो हमें बहुधा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने पड़ते हैं ?

(६) जब कभी हम कठिनाई में होते हैं और यह निर्णय नहीं कर पाते कि प्राप्त परिस्थितियों में क्या किया जाए तो क्या हमें परामर्श लेने के लिए बराबर अन्य व्यक्तियों के पास भागना पड़ता है ?

(७) क्या हम स्वभावतः क्षुब्ध और दुखी मनःस्थिति में तथा हर चीज और हर किसी से असामंजस्य और प्रतिकूलता की स्थिति में रहते हैं ?

इन प्रश्नों के उत्तरों से हमें कुछ आभास मिल सकेगा कि हमारा मन बुद्धि के प्रकाश को कितना प्राप्त कर सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मन और वुद्धि के अंतर को भली भाँति समझ लेना मनोविज्ञान की एक सैद्धान्तिक समस्या मात्र नहीं है। विभिन्न प्रकार से इसका हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जीवन के मूल्यों के प्रति हमारी आस्था तथा अपने आत्म-तत्व की खोज के लिए अपने प्रयत्नों को सफलता से जुटाने की हमारी क्षमता इस अन्तर की सही समझ पर ही निर्भर करती है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १५

हमारे जीवन में आत्मा की भूमिका

जिन लोगों का पालन-पोषण धार्मिक परम्पराओं में हुआ है उनमें यह धारणा प्रचलित है कि सत्य अपने अन्तर में, चेतना की गहराइयो में ही प्राप्त किया जा सकता है, धर्म के बाह्य स्वरूपों में नहीं। यह विचार काफी प्रचलित है कि ईश्वर या परम-सत्य की खोज में अपने अन्तरतम की गहराइयों में प्रवेश करने पर साधक अन्ततः आत्म-बोध की एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जिसे अन्तिम समझा जा सकता है। उसके पश्चात् फिर और कुछ खोजने या प्रयत्न करने को शेष नहीं रहता। ऐसा मान लिया जाता है कि इस स्थिति में पहुँचने के पश्चात् आत्मज्ञानी परमानन्द की उस अवस्था में अनन्तकाल तक विश्राम करता रहेगा। परन्तु अपने आध्यात्मिक लक्ष्य और पूर्णत्व की प्राप्ति के सम्बन्ध में किसी अन्तिम अवस्था का विचार एक गलत धारणा हैं। यह धारणा धार्मिक जीवन की वास्तविक समस्याओं की अत्यन्त ही थोथी जानकारी पर आधारित है। धर्म के गुह्य पक्ष से परिचित लोगों को सदैव इस बात का ज्ञान रहा है कि आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में न तो कोई अन्तिम अवस्था है और न हो सकती है। गुह्य साहित्य के विभिन्न ग्रंथों में इस सत्य का बहुत ही स्पष्ट उल्लेख कियां गया है। "मार्ग प्रकाशिनी" (लाइट ऑन दी पाथ) में कहा गया है : "मनुष्य की आत्मा अमर है और उसका भविष्य एक ऐसी चीज का भविष्य है जिसके विकास और जिसकी भव्यता की कोई सीमा ही नहीं है।" इसी पुस्तक में एक अन्य स्थान पर कहा गया है :—"आप प्रकाश में प्रवेश करेंगे परन्तु कभी भी ज्योति को छू नहीं पाएँगे।" ये ग्रंथ इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि आत्मानुसंधान की इस यात्रा में जब साधक अपने अन्तर की गहराइयों में प्रवेश करता है और अधिकाधिक भव्यता और गहनतर सत्यों को प्राप्त कर लेता है तो वह कभी भी ऐसी स्थिति में नहीं पहुँच पाता जब उससे यह कहा जा सके—"बस यहीं तक, और आगे नहीं।"

यह तो दूसरे अध्याय में बताया ही जा चुका है कि मनुष्य के जीवात्मा का स्वरूप त्रिगुणात्मक है—आत्मा-बुद्धि-मनस्। वह उच्च

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनोमय, बुद्धिक और आत्मिक लोकों में कार्य करता है। अतः आत्मिक कोष जीवात्मा का केन्द्र-स्थल है। यहीं से देहात्मा का ही नहीं, जीवात्मा का भी जीवन नियंत्रित होता है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाएगा कि जहाँ तक मानवीय स्वरूप का सम्बन्ध है जीवात्मा में अन्तिम तत्त्व आत्मा ही है। इसी कारण यह विचार अत्यन्त प्रचलित है कि आत्मा हमारे प्रयत्नों का अन्तिम लक्ष्य है। आत्मिक चेतना की प्राप्ति ही जीवात्मा की मुक्ति है। परन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मानवीय विकास में भले ही आत्मिक लोक हमारी आत्मानुभूति की सीमा निश्चित करता हो, उसके परे भी और लोक हैं। मानवीय विकास पूर्ण हो जाने पर उपलब्धि के नये क्षेत्र, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, हमारे सामने खुल जाते हैं। फिर हमारा विकास सूक्ष्मतर लोकों पर होता रहता है। आत्मिक चेतना की प्राप्ति आत्मानुभूति का चरम लक्ष्य नहीं है। यह बात पातञ्जलि के योगसूत्र के चौथे पाद के २५वें सूत्र से स्पष्ट होती है। इस सूत्र में पुरुष के नित्य लोक में चेतना के और भी आगे जाने की बात कही गई है।

इससे पहले कि हम आत्मा के अर्थात् आत्मिक कोष में दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति के, कार्यों को समझने का लगभग असम्भव-सा प्रयास प्रारम्भ करें, हमें उन महान् सीमाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है जिनके अन्दर मानव-मन कार्य करता है। इनके कारण आत्मिक जीवन की सचाइयों को आंशिक रूप से भी समझने में कठिनाई होती है। हमारे अन्दर जो भी तत्त्व मन के क्षेत्र से जितना अधिक दूर होगा उसे समझने में कठिनाई भी उतनी ही अधिक होगी। उन वास्तविकताओं को समझ पाना तो सचमुच असम्भव होता यदि ये सब तत्त्व हमारे अपने अन्दर ही न होते, यद्यपि ये गहरे दबे हुए पड़े रहते हैं। इसीलिए उन आन्तरिक क्षेत्रों की धीमी-सी भी प्रतिध्वनियाँ हमारे मन में हल्का-सा प्रत्युत्तर उत्पन्न कर देती हैं। उससे हमें अपने इन्द्रियातीत स्वरूप की यहाँ-वहाँ थोड़ी-सी झलक मिल जाती है। इस महान् कठिनाई को ध्यान में रखकर और श्रद्धा की भावना के साथ हमें इन समस्याओं का अध्ययन करना चाहिए; क्योंकि जहाँ ज्ञान की सच्ची जिज्ञासा और आकांक्षा होती है हमारे अन्तर में स्थित दिव्य जीवन किसी न किसी प्रकार मन को थोड़ा प्रकाशित करके प्रत्युत्तर देता ही है।

अपने जीवन में आत्मा की भूमिका का अध्ययन करने के लिए उस कोष के स्वरूप के विषय में भी कुछ बता देना आवश्यक है जिसके माध्यम से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चेतना आत्मिक लोक पर कार्य करती है। जैसा कि उच्च असामान्य दृष्टि-प्राप्त गुह्य-विद्या के साधक जानते हैं, उच्च मन का कोष कारण-शरीर, अंडाकार और वासनामय और निम्न मनोमय कोषों के प्रभा-मण्डलों के अनुरूप होता है। इसका अर्थ है कि उच्च मनोलोक पर चेतना के कोष ने एक सीमित स्थान अभी भी ले रखा है, भले ही विकास और अन्तर से प्रवाहित आत्मिक शक्तियों के प्रभाव से वह स्थान कितना ही विस्तृत क्यों न हो जाए। अगले उच्च कोष—वेदान्त के आनन्दमय कोष—के माध्यम से हम बुद्धि लोक के सम्पर्क में आते हैं। तव हम यह कल्पना कर सकते हैं कि स्थान-सम्वन्धी सीमाएँ नष्ट हो गई हैं और बुद्धिकोष एक सितारे के समान, एक प्रकाश-पुंज सा प्रतीत होता है जिसकी किरणें चारों ओर फैल रही हैं। स्थूल के माध्यम से कार्य करने वाला मन बस इतनी ही कल्पना कर सकता है। अगले उच्च लोक पर आत्मिक कोष की कल्पना भी आत्मिक लोक के एक पर-माणु की एक इकाई के रूप में की जा सकती है, वहाँ चेतना में कल्पना-नीत गति से क्रमशः फैलने और संकुचित होने की क्षमता होती है—फैल कर सम्पूर्ण लोक की चेतना को समाविष्ट कर लेना और एक बिन्दु तक संकुचित होकर इस सर्वव्यापी चेतना को एक व्यक्तिगत इकाई होने का आभास कराना। इस प्रकार सर्व-व्यापकता और व्यक्तिगतता के बिल्कुल विरोधी और दिखने में असंगत गुण एक ही चेतना में समाहित हो जाते हैं। मानव-मन के लिए इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है। इस सर्वव्यापी चेतना का अत्यन्त ही सुन्दर वर्णन इस सुप्रसिद्ध वाक्यांश में मिलता है : "इसकी परिधि कहीं नहीं है परन्तु इसका केन्द्र सर्वत्र है।"

जो बात वास्तव में मानव-मन के क्षेत्र से परे की है उसके और अधिक विस्तार में जाने से विशेष लाभ नहीं होगा। अब हम आत्मा के कार्यों के अधिक महत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। अथवा यह कहिए कि उन कार्यों का विचार कर सकते हैं जैसे वे हमें प्रतीत होते हैं और देहात्मा के निम्न क्षेत्रों में हमें प्रभावित करते हैं। अपने उस अनुभवातीत लोक में वे कार्य क्या हैं उन्हें भ्रान्तिपूर्ण निम्न-लोकों का वासी समझ ही नहीं सकता।

जैसा पहले बताया जा चुका है, आत्म-लोक वह क्षेत्र है जहाँ से ईश्वर की वह संकल्प-शक्ति कार्य करती है जो इस सौरमंडल के विशाल-तंत्र को चला रही है। क्या हमने कभी सोचने का प्रयत्न किया है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतनी विशाल शक्ति कहाँ से आती है जो ग्रहों को स्वर्ग में उनके परिक्रमा-पथ पर चलाती रहती है, जिससे परमाणुओं में अणु चक्कर काटते रहते हैं, जो असंख्य जीवों के विकास और उन्नति की व्यवस्था कर रही है और जो सभी चीजों का सशक्तता और मधुरता से संचालन कर रही है ? यह शक्ति आती है आत्मिक लोक पर क्रियाशील ईश्वर की संकल्प-शक्ति से और वही समस्त सौरमंडल के सभी लोकों को शक्ति प्रदान करती है। विद्युत्-चुम्बकीय शक्ति का महान् चक्र, सूर्य, भौतिक जगत् में उस ईश्वर का प्रतीक और प्रतिनिधि है। वह सूर्य ही भौतिक ग्रहों को प्रकाश, ताप और अन्य प्रकार की शक्तियाँ प्रदान करता है। प्रत्येक लोक पर ईश्वरीय जीवन को धारण करने वाले रूपों के निर्माण और विनाश का अति विशाल कार्य उसकी शक्ति से ही हो रहा है। उसकी संकल्प-शक्ति ही विकास की दिशा में अनवरत और अप्रतिरोध्य दबाव डालती रहती है।

जिस प्रकार समग्र आत्म-लोक सम्पूर्ण सौरमंडल की शक्ति का स्रोत है उसी प्रकार एक जीवात्मा का आत्मिक कोष एक ऐसा यंत्र है जिसमें वह सामान्य और व्यापक शक्ति केन्द्रित हो जाती है और फिर उसका उपयोग उसके अपने व्यक्तिगत कार्यों के लिए होता है। यह तो मानो एक ऐसा प्लग-बिन्दु है जो एक जीवात्मा के कोष-समूह को 'पावर-हाउस' से जोड़ता है और जिसके माध्यम से जीवात्मा के विभिन्न कार्यों के लिए आवश्यक शक्ति प्राप्त की जा सकती है। अनन्त काल तक जीवात्मा का विकास आत्मिक कोष के माध्यम से संचालित और नियंत्रित होता है। इस स्रोत से प्राप्त शक्ति के कारण ही जीवात्मा समस्त कठिनाइयाँ दूर कर पाता है। प्रत्येक जीवन में सभी प्रकार के परीक्षणों और कष्टों में होकर गुजरता है और अन्ततः सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर पूर्णत्व की प्राप्ति करता है।

जो अन्तरिम लोकों को भेदकर इस लोक की झाँकी प्राप्त कर पाते हैं उनकी चेतना इस झाँकी से अभिभूत हो उठती है। वे अपार शक्ति और दृढ़ता का अनुभव करते हैं। उसकी कोई कल्पना हम यहाँ कर ही नहीं सकते। विभिन्न कठिनाइयों और बाधाओं से जो निराशा और कातरता यहाँ इस लोक में उत्पन्न हो जाती है वह तो जैसे समाप्त हो जाती है और चेतना में एक असीम विश्वास की भावना व्याप्त होती प्रतीत होती है। इससे व्यक्ति का आत्म-विश्वास जाग्रत होता है। उसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरोसा हो जाता है कि वह अन्ततः बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेगा। साथ ही, उसे विकास-योजना की सफलता तथा बुराई पर अच्छाई की अन्ततः विजय का और दिव्य योजना की पूर्ति का भी विश्वास हो जाता है। आत्मिक लोक की यह चेतना जब नीचे आकर देहात्मा में व्यक्त होती है तो उसकी बहुत-सी गति और स्पष्टता नष्ट हो जाती है। परन्तु फिर भी उससे थोड़ा विश्वास और बल तो मिलता ही है और इसे हम दृढ़-निश्चयी सभी महान् व्यक्तियों में, विभिन्न मात्रा में सदैव देख सकते हैं। जिन्होंने कभी आधुनिक अति विशाल पावर-हाउस देखा हो उन्हें सम्भवतः स्मरण होगा कि उस स्थान का वातावरण एक विचित्र-सी शक्ति की भावना से व्याप्त होता है। बाहर से देखने में, साधारण-सी मशीन चलने के अतिरिक्त कुछ और दिखाई नहीं देता परन्तु उस गतिशीलता से किसी को भी प्रायः अनुभव होगा कि विशाल विद्युत्-शक्ति-यंत्रों द्वारा अपार अदृश्य विद्युत्-शक्ति का निर्माण हो रहा है। कुछ इसी से मिलता-जुलता अनुभव उस व्यक्ति को होता है जिसमें सच्ची आत्मिक शक्ति जाग्रत होने लगती है। उसे लगता है कि वह एक ऐसी विशाल और सूक्ष्म शक्ति के समक्ष है जिसकी अनुभूति तो उसे होती है परन्तु जिसका उपयोग कर पाने में वह अभी असमर्थ है।

देहात्मा में आत्मा के जीवन और चेतना की अभिव्यक्ति की चर्चा करने से पहले उस विपरिवर्तन या उलटेपन की याद दिला देना आवश्यक है जो देहात्मा के स्तर पर चेतना के उतरने पर हो जाता है। इस विपरिवर्तन के कारण देहात्मा के कार्य-क्षेत्र तीन निम्न लोकों का सम्बन्ध जीवात्मा के कार्य-क्षेत्र तीन उच्च लोकों से इसी प्रकार का होता है, जैसा जल में किसी भवन के प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध उस भवन से होता

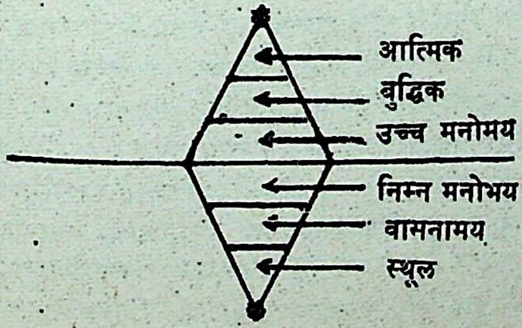

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। प्रतिबिम्व में भवन का उच्चतम भाग प्रतिविम्व के सबसे निचले भाग में होता है और भवन का निम्नतम भाग उल्टे हुए प्रतिबिम्ब के उच्चतम भाग को छूता है। इसी को पिछले पृष्ठ में दिखाया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है मानो इस विपरिवर्तन के परिणामस्वरूप ही आत्मिक चेतना स्थूल चेतना में, बुद्धिक चेतना वासनामय चेतना में और उच्च मन की चेतना निम्न मनोमय चेतना में प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रतिविम्बन का अर्थ इतना ही नहीं है कि सम्बन्धित लोकों की विशिष्टताओं में कुछ समानता होती है बल्कि इन दोनों के बीच एक अधिक सीधा सम्बन्ध और सादृश्य भी होता है। इस प्रकार आत्मिक लोक के जीवन और चेतना की अभिव्यक्ति किसी रहस्यमय ढंग से उन दो अन्य लोकों की अपेक्षा जिनमें देहात्मा कार्य करता है स्थूल जगत् में अधिक पूर्णता से होती है, यद्यपि आत्मिक से स्थूल की दूरी सर्वाधिक है। इसी प्रकार का कुछ रहस्यमय सम्बन्ध बुद्धिक चेतना का वासनामय चेतना से है और उच्च और निम्न मनोमय का सम्बन्ध तो सहज ही दिखाई देता है और सर्वविदित है। ऊपर जो कुछ भी आत्मिक और स्थूल, बुद्धिक और वासनामय तथा उच्च मनोमय और निम्न मनोमय के बीच सम्बन्धों और सादृश्य के विषय में कहा गया है उसी को निम्न चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

आदि	अनुपादक	आत्मिक (उच्च स्तरीय)
⇅	⇅	⇅
आत्मिक (निम्न स्तरीय)	बुद्धिक	उच्च मनोमय
⇅	⇅	⇅
स्थूल	वासनामय	निम्न मनोमय

यहाँ इस रोचक प्रश्न के विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है परन्तु आत्मिक और स्थूल के बीच इस सम्बन्ध के विषय में इतना तो कहा ही जा सकता है कि किसी भी जन्म में देहात्मा का जीवन केवल स्थूल जगत् में ही पूर्ण और गतिशील होता है। इसीलिए स्थूल जगत् में बिताया गया समय सर्वाधिक महत्त्व का होता है। स्थूल जगत् में मनुष्य पूर्ण होता है। वह कर्म का निर्माण कर सकता है और क्षमताएँ विकसित कर सकता है। परन्तु मृत्यु के पश्चात् वासनामय और निम्न मनोमय लोकों पर अपने जीवन-काल में तो वह केवल उस सबका फल भोगता और संचित करता है जो कुछ उसने स्थूल जगत् में अपने पिछले जीवन में किया है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि देहात्मा के रूप में मनुष्य केवल स्थूल जगत् में ही पूर्ण होता है। अतः केवल भौतिक जीवन में ही वह अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न कर सकता है, मृत्यु के पश्चात् वासनामय और मनोमय. लोकों में नहीं। इसीलिए किसी भी जन्म में भौतिक जगत् के जीवन का महत्त्व सबसे अधिक होता है। निस्संदेह इसका कारण यह है, उसमें आत्मा-जीवात्मा का उच्चतम पक्ष—प्रतिबिम्बित और विशेष रूप से समाहित होता है।

देहात्मा और जीवात्मा के लोकों के बीच विशेष सम्बन्ध और सादृश्य व्यावहारिक महत्व के हैं। एक ओर तो इनसे थोड़ा संकेत मिलता है कि देहात्मा के उच्च लोकों तक पहुँचने के तथा दूसरी ओर उच्च से निम्न लोकों की ओर शक्तियों के अवतरण के सरल मार्ग कौन-से हैं। इसलिए सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि उच्च मन तक मन के माध्यम से, बुद्धि तक भावनाओं के माध्यम से और आत्मा तक कर्म के माध्यम से पहुँचा जा सकता है।

इस अध्याय में क्योंकि हम अपने जीवन में आत्मा की भूमिका का अध्ययन कर रहे हैं इसलिए हम थोड़ा इस पर विचार कर लें कि भौतिक जीवन जीते हुए हम आत्मा तक कैसे पहुच सकते हैं? हम अपने अन्तर में स्थित दिव्य सत्ता के निकट कैसे आ सकते हैं? अपनी चेतना का केन्द्र उस दिव्य सत्ता में स्थापित करने के लिए क्या प्रयत्न कर सकते हैं? इस प्रक्रिया में कर्म की भूमिका प्रमुख होती है, जैसा कि संकेत दिया जा चुका है। यहाँ कर्म का अभिप्राय केवल स्थूल शरीर की क्रियाओं से नहीं है। कर्म में वे सब क्रियाएँ आ जाती हैं जो अपने आदर्शों को गतिमान् जीवन में परिणत करने के लिए तथा देहात्मा को जीवात्मा की अभिव्यक्ति का एक यंत्र मात्र बनाने के लिए अन्तर से प्रारम्भ होती हैं। यद्यपि आत्मा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विराजमान है परन्तु उसकी इच्छा देहात्मा में व्यक्त नहीं हो पाती। इसके कारण हैं अंशतः निम्न कोषों की अपूर्णतः और उनका अवरोध तथा अंशतः अहं और भ्रान्तियाँ जिनमें देहात्मा फँसा रहता है। जब देहात्मा अपने जीवन और दृष्टिकोण को वास्तव में बदलने लगता है और आध्यात्मिक आदर्शों को साधना द्वारा आध्यात्मिक जीवन में परिणत करना प्रारम्भ कर देता है तभी जीवात्मा देहात्मा में अधिकाधिक व्यक्त होने लगता है और देहात्मा पर उसका नियंत्रण बढ़ने लगता है। अन्ततः जीवात्मा देहात्मा के जीवन और चेतना का केन्द्र बन जाता हैं। अतः आत्म-प्रेरित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्म ही साधना का आधार है, आत्मा तक पहुँचने का मार्ग है, और कर्म का उच्चतम स्वरूप ही योग हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि आत्मा के सम्बन्ध में हमारा प्रमुख कार्य इस दिव्य सत्ता को अपने जीवन का केन्द्र बनाना है। अथवा एक अन्य प्रकार से यह कहा जाए कि हमें स्व-केन्द्रित होने के बजाय आत्म-केन्द्रित होना है। आत्मा एक स्वयं प्रकाशित, स्वतंत्र और परिपूर्ण सत्ता है। अतः उसे विकसित करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। हमें तो केवल उन परिस्थितियों का निर्माण करना है जिनमें वह हमारे जीवन में अधिकाधिक व्यक्त हो सके। यह प्रभावी और पूरी तरह उच्च योगाभ्यास द्वारा किया जा सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में देहात्मा को कुछ प्रारम्भिक कार्य करना आवश्यक होगा। तभी योग के सफल अभ्यास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बन सकेंगी। इस प्रारम्भिक कार्य के अनेक पक्ष हैं परन्तु उदाहरण के रूप में हम यहाँ उनमें से केवल कुछ का ही उल्लेख करेंगे।

ऊपर कहा गया था कि आत्मा एक स्वप्रकाशित, स्वतंत्र और परिपूर्ण सत्ता है। ये दिव्य गुण देहात्मा के जीवन में कैसे व्यक्त हो सकते हैं? देहात्मा के लिए स्वयं प्रकाशमान होने का अर्थ यह होगा कि वह आवश्यक ज्ञान अधिकाधिक मात्रा में अपने अन्तर से ही प्राप्त कर सके और विभिन्न बाह्य साधनों पर निर्भर न रहे। यह तभी सम्भव हो सकता है जब वह थोड़ा-बहुत कारण-शरीर से अपना सम्पर्क स्थापित कर सके, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। परिपूर्णता का अर्थ होगा कि हम अपनी प्रसन्नता के लिए उस स्रोत पर निर्भर रहें जो हमारे अपने अन्दर है और इसके लिए हम किसी बाह्य प्रेरक पर बिल्कुल भी निर्भर न रहें। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब हम बुद्धि-कोष (या वेदान्त के आनन्दमय कोष) से अपना सीधा सम्पर्क स्थापित कर लें। तीसरे गुण अर्थात् स्वतंत्रता का अर्थ होगा कि आत्मा की संकल्पशक्ति ही हमारे जीवन में सर्वोपरि हो और धीरे-धीरे देहात्मा वासनाओं की दासता से मुक्त हो जाए। यह तब ही सम्भव होगा जब भौतिक जगत् में देहात्मा का थोड़ा-बहुत सम्पर्क आत्मिक लोक से हो और वह ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति का साधन बन जाए।

जब हम कुछ अंशों में स्वप्रकाशित, परिपूर्ण और स्वतंत्र बनने का प्रयत्न करते हैं तो हमारी चेतना का केन्द्र धीरे-धीरे अन्दर की ओर जाने लगता है। तब हमारा जीवन अधिकाधिक मात्रा में हमारे आत्मिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंश से प्रवाहित एवं संचालित होने लगता है। जब यह काम थोड़ा-बहुत होने लगे तब ही योगाभ्यास सम्भव होता है। योगाभ्यास के द्वारा ही देहात्मा और जीवात्मा दोनों आत्मा की अभिव्यक्ति के सक्षम यंत्र बन जाते हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि आत्मा का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। वह ईश्वर के सत्-चित्-आनन्द स्वरूप से मिलता-जुलता है। आत्मा में भी स्वप्रकाशित, परिपूर्ण और स्वतंत्र होने के तीनों ही गुण हैं परन्तु इनमें से अन्तिम गुण इसकी विशिष्टता है। पहले दो गुण तो जीवात्मा के प्रमुखतः दो निम्न कोषों, अर्थात् कारण-शरीर और बुद्धि-कोष के माध्यम से प्रकट होते हैं। तीसरे और अन्तिम गुण का स्रोत स्वयं आत्मा ही है। स्वतंत्र होने या आत्मनिश्चयी होने का गुण देहात्मा में आत्मिक संकल्प-शक्ति के रूप में व्यक्त होता है। इसलिए देहात्मा के क्षेत्र में आत्मा की भूमिका का विचार करते समय हम संकल्प-शक्ति को दृढ़ करने के प्रश्न पर विशेष रूप से ध्यान देंगे। जब तक हमारी संकल्प-शक्ति दृढ़ नहीं हो जाती राजयोग के मार्ग पर चल पाना और आत्मबोध और जीवनमुक्ति के लक्ष्य तक पहुँच पाना कठिन है। संकल्प-शक्ति दृढ़ होने का अर्थ है कि हमारा जीवन आत्मा की संकल्प-शक्ति द्वारा संचालित हो, न कि देहात्मा की अपनी सनक और इच्छाओं द्वारा।

संकल्प-शक्ति के स्वरूप के विषय में अनेक गलत धारणाएँ प्रचलित हैं। अतः यह उचित ही होगा यदि हम पहले अपने चरित्र के इस सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व के आवश्यक स्वरूप को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करें। यदि हम पहले यह देख लें कि एक ओर संकल्प-शक्ति तथा दूसरी ओर प्राण, कामना और कर्म का क्या सम्बन्ध है तो संकल्प-शक्ति का स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी।

विज्ञान में 'शक्ति' शब्द का प्रयोग अब एक निश्चित अर्थ में किया जाता है। इससे यांत्रिकी-शक्ति के प्रयोग की क्षमता का संकेत होता है। बहुत-से व्यक्तियों ने इन बातों पर अच्छी तरह विचार नहीं किया हैं और वे संकल्प-शक्ति को शक्ति-प्रयोग करने की क्षमता समझ लेते हैं। शक्ति प्रयोग की क्षमता तो चाहे वह भौतिक जगत् में हो या अति-भौतिक लोकों में—वास्तव में प्राण का कार्य है। प्राण वह व्यापक शक्ति है जिसका उल्लेख बहुधा योग-साहित्य में किया गया है। प्राण द्वारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो विभिन्न लोकों का पदार्थ गतिमान होता है और उससे काम लिया जाता है। प्राण का स्वरूप तो प्रत्येक लोक में भिन्न होता है, परन्तु प्रत्येक लोक में उसके एक कार्य में समानता है और वह कार्य है लोकों के पदार्थ में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाना। अतः संकल्प-शक्ति प्राण से बिल्कुल ही भिन्न है और उसका कार्य एक बिल्कुल दूसरे ही प्रकार का है। परन्तु इस अन्तर के होते हुए भी संकल्प-शक्ति और प्राण में घनिष्ठ सम्बन्ध है। संकल्प-शक्ति के प्रयोग के कारण ही प्राण-शक्ति का प्रवाह मन के माध्यम से प्रत्येक लोक पर हो पाता है। प्राण-शक्ति के इस प्रवाह के कारण ही पदार्थों में परिवर्तन सम्भव होता है। भौतिक जगत् में इस सम्बन्ध की तुलना चुम्बकत्व और विद्युत्-शक्ति के बीच सम्बन्ध से की जा सकती है। ये दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। फिर भी चुम्बक के प्रभाव-क्षेत्र में उसकी क्रिया के कारण ही तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है और उससे फिर सभी प्रकार का कार्य लिया जा सकता है। निस्संदेह, यह उपमा पूर्ण नहीं है। परन्तु इससे हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि बाहर से देखने में दो बिल्कुल भिन्न शक्तियाँ किस प्रकार एक-दूसरे को अत्यन्त प्रभावित करती हैं।

अब हमें संकल्प-शक्ति और कामना में अन्तर समझना है। विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में संकल्प-शक्ति निम्न लोकों में कामना के रूप में ही व्यक्त होती है। उच्च लोकों में आत्मिक संकल्प-शक्ति स्वतंत्र होती है और ईश्वरीय इच्छा के अनुरूप कार्य करती है। परन्तु जब यह निम्न लोकों में व्यक्त होती है तो भ्रान्तिपूर्ण देहात्मा द्वारा अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही इसका उपयोग किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि ये उद्देश्य ईश्वरीय इच्छा के अनुकूल ही हों। वे अनुकूल हो भी सकते हैं और नहीं भी। जब संकल्प-शक्ति ऐसी परिस्थितियों में कार्य करती है तो वह कामना का रूप ले लेती है। अतः वह है तो संकल्प-शक्ति ही परन्तु विकृत हो गई है और देहात्मा उसका उपयोग अपने निजी स्वार्थों के लिए करता है।

निम्न लोकों में कार्यरत व्यक्तिगत चेतना अपने आपको निम्न कोषों से अभिन्न समझने लगती है। इसके कारण उसमें एक झूठा "मैं" या देहात्म-भाव उत्पन्न हो जाता है। दिव्य योजना की पूर्ति के लिए ईश्वरीय इच्छा से सहयोग करने की बजाय देहात्मा अपनी ही सनक और अभिरुचियों की पूर्ति में लग जाता है। देहात्मा को निर्देशित और नियंत्रित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करने वाली शक्ति कामना ही होती है। मानवीय जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में विकास इसी की शक्तिशाली प्रेरणा से होता है। बाद में, विकास-प्रक्रिया के अन्तिम चरणों में, और मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना जाग्रत होने पर, देहात्मा के कामना-स्वरूप और जीवात्मा की आत्मिक संकल्प-शक्ति के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यह संघर्ष तब तक चलता रहता है जब तक कि कामना पूर्णत: समाप्त न हो जाए और जीवात्मा की संकल्प-शक्ति ही सर्वोपरि न हो जाए।

कामना और संकल्प-शक्ति के बीच सम्बन्ध का वर्णन वासना-शरीर के कार्यों पर विचार करते समय पहले ही किया जा चुका है। इसलिए इस पर और विचार करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस विषय पर प्रचलित भ्रम के एक-दो उदाहरण दे देना उपयुक्त ही होगा। हमें कभी-कभी ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिनमें अपने निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए दृढ़ता और लगन के साथ कार्य करने की तथा अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी सफलता प्राप्त करने की क्षमता होती है। ऐसे व्यक्तियों को महान् संकल्प-शक्ति वाला समझा जाता है। एक दृष्टि से यह सही भी है। परन्तु हमें यह स्मरण रहे कि इस प्रकार की परिस्थितियों में लक्ष्य स्वार्थपरता और प्रज्ञान के अभाव से सम्बद्ध होता है और इसीलिए वह विषय कामना के क्षेत्र तक ही रह जाता है। कामना और संकल्प-शक्ति में बाह्य समानता तो है। दोनों का स्रोत भी एक ही है। परन्तु कामना की अभिव्यक्तियों को शुद्ध संकल्प-शक्ति की अभिव्यक्ति मान लेना गलत होगा। निस्संदेह, जिस सामान्य दुराग्रह या जिद्दीपने को कभी-कभी संकल्प-शक्ति समझ लिया जाता है वह वास्तव में कमजोर संकल्प का ही एक रूप होता है। जो जीवात्मा प्राप्त परिस्थितियों का सामना आवश्यक विश्वास के साथ नहीं कर पाता उसकी यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक होती है। इसीलिए वह समस्त तर्क और सामान्य बुद्धि के विपरीत एक विशिष्ट कार्य-पद्धति से मूर्खतापूर्ण ढंग से चिपका रहता है। यदि किसी एक छोटी-सी घटना से उसकी कार्य-विधि में परिवर्तन या उलट-फेर हो जाता है तो शक्ति के बाह्य आवरण के पीछे छिपी उसकी वास्तविक कमजोरी प्रकट हो जाती है।

संकल्प-शक्ति का कार्य समझने के लिए संकल्प-शक्ति और कर्म के बीच सम्बन्ध को भी अच्छी तरह समझना आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान इस सम्बन्ध के घनिष्ठ स्वरूप को स्वीकार करता है। कुछ मनोवैज्ञानिक तो यहाँ तक कहते हैं कि संकल्प-शक्ति का प्रमुख कार्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्म के लिए आवश्यक प्रेरक-शक्ति प्रदान करना है। संकल्प-शक्ति और कर्म की तुलना सम्भावी और गतिमान शक्ति से की जा सकती है। एक बैटरी में एक निश्चित वोल्टेज की शक्ति सम्भावी रूप में विद्यमान रहती है और जब तक दोनों सिरों को संचालक माध्यमों से जोड़ा नहीं जाता वह सम्भावी ही बनी रहती है। एक तार के द्वारा दोनों सिरों को जोड़ देने से प्रतिरोध समाप्त हो जाता है और सम्भावी शक्ति गतिमान शक्ति में परिवर्तित होने लगती है। दिव्य संकल्प-शक्ति अनन्त वोल्टेज वाली सम्भावी शक्ति के रूप में प्रत्येक मानव के अन्दर विद्यमान रहती है। मानवीय विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, निम्न कोषों के विकास के अनुसार, वह शक्ति कामना के रूप में प्रकट होती है। वही सामान्य कार्यों के लिए चालक या प्रेरक शक्ति प्रदान करती है। विकास की उच्च अवस्थाओं में यह आत्मिक संकल्प शक्ति के रूप में प्रवाहित होती है। तब यह निष्काम कर्म की प्रेरक शक्ति बनती है।

संकल्प-शक्ति और कर्म के बीच इस घनिष्ठ सम्बन्ध का संकेत इससे भी मिलता है कि कर्म एक विचित्र ढंग से संकल्प-शक्ति को सशक्त बनाता है। अथवा यह कहना अधिक सही होगा कि कर्म हमारे जीवन में संकल्प-शक्ति की अधिक अभिव्यक्ति में सहायक होता है। "संकल्प-शक्ति को सशक्त बनाना" यह वास्तव में उचित प्रयोग नहीं है क्योंकि संकल्प-शक्ति तो सभी शक्तियों का स्रोत है। अतः संकल्प-शक्ति को सशक्त बनाया ही नहीं जा सकता। सामान्य अवलोकन तथा मनोविज्ञान के अनुसंधानों ने भी यह निश्चयात्मक ढंग से स्पष्ट कर दिया है कि चरित्र के विकास में कर्म की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। यह सच है कि विचार और भावनाएँ ही अन्ततः कर्म का रूप ले लेती हैं। अपने चरित्र में परिवर्तन लाने के लिए हमें अपनी भावनाओं और मानसिक प्रवृत्तियों को भी सुधारना होगा। परन्तु चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात की खोज की गई है। वह बात यह है कि जब तक विचार और भावनाएँ कर्म के रूप में व्यक्त नहीं होते, हमारे जीवन में कोई भी बुनियादी अन्तर लाया ही नहीं जा सकता। लोक-प्रसिद्ध कहावत है कि नरक का मार्ग सद्भावनाओं से भरा है। केवल शुभ संकल्प कर लेना पर्याप्त नहीं है। जो अपने को केवल सुधारने की इच्छा मात्र से संतुष्ट होते रहते हैं वे इसकी अपर्याप्तता से परिचित ही हैं। एक संकल्प अथवा विचार जब तक मन के क्षेत्र में है, वह एक प्रकार से अप्रभावी शक्ति ही है। उसी को कार्य रूप में परिणत कर दीजिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समस्त अन्तर जीवन-शक्ति से भर उठेगा। अभीष्ट परिवर्तन के लिए शक्तियाँ तुरन्त प्रवाहित होने लगेंगी और उस परिवर्तन को हमारे चरित्र का एक स्थायी अंग बना देंगी। एक कंजूस व्यक्ति का उदाहरण ले लीजिए। वह अपने चरित्र में उदारता लाना चाहता है। वह पुण्यार्थ कार्यों के विषय में सोचता रहता है। दिन-प्रतिदिन वह ऐसी कल्पना करता है कि वह अपने दैनिक जीवन में ऐसे कार्य कर रहा है परन्तु वह वास्तव में कोई भी पुण्यार्थ कार्य करता नहीं है। क्या आप सोचते हैं कि वह अपने लक्ष्य के थोड़ा निकट पहुँच पाया है ? नहीं। परन्तु वास्तव में वह किसी निर्धन व्यक्ति को कुछ दे दे और फिर परिणाम देखिए। उस कार्य को करने से ही उसके चरित्र में काफी परिवर्तन हो जाएगा। उसके आन्तरिक जीवन की संरचना में गति आ जाएगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के कार्य उसे अनेक बार करने होंगे। तभी यह गुण उसके चरित्र का स्थायी अंग बन सकेगा। यह भी सच है कि बार-बार पुण्यार्थ कार्यों के विषय में सोचने से इस प्रकार का कर्म करना उसके लिए अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। परन्तु सत्य तो यही है कि पुण्यार्थ कर्म से ही परिवर्तन-प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। मानसिक शक्तियाँ स्वभाव में परिणत हो जाती हैं। बिना कर्म के मन विचारों से परिपूर्ण रह सकता है परन्तु उसका कुछ भी निश्चित परिणाम नहीं होगा।

अतः जो अपनी आदतों, प्रवृत्तियों को बदलने का प्रयत्न कर रहे हैं वे इस आवश्यक बात को समझ लें। विचार कर्म का जनक है। विचार किसी विशेष प्रकार के कर्म करने की प्रवृत्ति को सशक्त बनाता है। परन्तु सचमुच कर्म करने में ही विचार को गति प्राप्त होतो है। हमारे बाह्य और आन्तर जीवन में परिवर्तन होता है। स्नायु-प्रणाली के लिए मार्ग प्रशस्त होता है और नई मानसिक प्रवृत्तियाँ सशक्त होती हैं। और सबसे महत्त्वपूर्ण तो यह है कि इससे संकल्पशक्ति की अभिव्यक्ति और निम्न कोषों पर उसका अधिकाधिक प्रभुत्व सम्भव हो जाता है।

अभी संकल्प-शक्ति का प्राण, कामना और कर्म से क्या सम्बन्ध है, इस पर विचार किया गया। उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि संकल्पशक्ति इन तीनों की सहायक और इनके पीछे सम्भावी शक्ति के रूप में रहती है। परन्तु जिन क्रियाओं का यह केन्द्र है उन क्रियाओं में यह स्वयं कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लेती। जीवन में इसकी भूमिका एक राजा की है। वह अपने सिंहासन पर विराजमान रहता है। वहाँ उसकी उपस्थिति मात्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से उसके राज्य का सम्पूर्ण प्रशासन उसके इच्छानुसार चलता रहता है। वह स्वयं न तो भाग-दौड़ करता है, न कोई कार्य ही करता है। यह कार्य तो उसके मंत्रियों और राज्य के अन्य अधिकारियों का है। परन्तु उसकी व्यापक शक्ति ही राज्य के समस्त शासन-तंत्र का संचालन करती हैं। यदि वह सभी कार्यों का हृदय और केन्द्र-स्थल, न हो तो प्रशासन ठप्प हो जाएगा और गड़वड़ी और अव्यवस्था फैल जाएगी। इस उपमा से सम्भवत: पुरुष का रहस्य भी समझ में आ जाए जिसे सांख्यदर्शन में द्रष्टा मात्र कहा गया है। वह निष्क्रिय द्रष्टा नहीं है परन्तु उपरोक्त वर्णित राजा की भाँति अपने आस-पास की क्रियाओं में स्वयं भाग नहीं लेता। वह उन सव क्रियाओं से परे है, परन्तु फिर भी उनका कारण और उनकी प्रेरक शक्ति है।

सीधी आत्मिक लोक से आने वाली सच्ची आत्मिक शक्ति का उपयोग केवल अत्यन्त ही कठोर शर्तों को पूरी करने पर ही किया जा सकता है। क्योंकि उन शर्तों को पूरा करना आसान नहीं है इसीलिए वह शक्ति इतनी दुर्लभ है। यह तो स्पष्ट किया ही जा चुका है कि स्वार्थ-भावना से दूषित होते ही इस शक्ति का विकृत स्वरूप कामना हो जाता है और उसका पवित्र और दुर्निवार स्वरूप समाप्त हो जाता है। अत: निर्वैयक्तिकता, अर्थात् निम्न 'स्व' के प्रभुत्व से मुक्ति, किसी भी व्यक्ति द्वारा इसके उपयोग के लिए पहली शर्त है। व्यक्ति जितना ही पृथक्तावादी और स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों के प्रभाव से मुक्त होता है और जीवन को आत्म-दृष्टि से देख पाता है उतना ही अधिक वह इस शक्ति का उपयोग कर सकता है क्योंकि केवल जीवनमुक्त ही निम्न व्यक्तिगत जीवन की भ्रान्तियों और स्वार्थों से मुक्त होता है, इसलिए वही इस शक्ति का निर्विघ्नता और सफलता से उपयोग कर सकता है। यह स्पष्ट हो जाएगा कि जितना अधिक हम अपनी अन्तःस्थित चेतना से अपनी चेतना का ऐक्य स्थापित कर पाते हैं उतना ही अधिक सफलता के साथ हम आत्मा की सच्ची आत्मिक संकल्प शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में यह कहना अधिक सही होगा कि दिव्य संकल्प-शक्ति हमारे चेतना-केन्द्र के माध्यम से विना किसी अवरोध के कार्य करने लगती है, बजाय यह कहने के कि व्यक्ति के रूप में हम आत्मिक संकल्प-शक्ति का उपयोग करते हैं। आत्मिक शक्ति के उपयोग के लिए प्रज्ञान की प्राप्ति अनिवार्य बना देना ही शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध प्रकृति की सुरक्षा व्यवस्था है क्योंकि इस शक्ति में अनन्त सम्भावनाएँ हैं और अपवित्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्तियों के हाथों में पड़ जाने पर इससे महान् हानि की सम्भावना रहती है।

उपरोक्त विचारों से—यद्यपि उनका स्वरूप अधिकांशतः नकारात्मक है—सम्भवतः उस सर्वातीत सत्ता की झलक मिल सके जो हमारे अन्तर में है, जो हमारे जीवन का केन्द्र और आधार है। वही उस सनातन और गतिशील प्रेरणा का स्रोत है जो हमें पूर्णत्व के सुनिश्चित लक्ष्य की ओर ले जा रही है। वह सत्ता हमारी दृष्टि से ओझल है और मानव-जीवन के परम उदात्त और विस्मय-भरें स्वरूपों में हम केवल उसकी क्षीण और आंशिक अभिव्यक्ति के ही दर्शन कर सकते हैं। परन्तु फिर भी उस सत्ता का अस्तित्व ही इस बात की गारंटी है कि निम्न जीवन की समस्त भ्रान्तियों और अपूर्णताओं पर हम विजयी होंगे और हमारी दिव्य विरासत हमें प्राप्त ही होगी। वह परमात्मा ही हमारा 'आन्तरिक अविनाशी शासक' है। उसका प्रतिरोध कर पाना असम्भव है। वही हमारे जीवन-साम्राज्य पर मौन रहकर शासन करता है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १६

आत्मिक संकल्प-शक्ति का विकास

इस विषय के सैद्धान्तिक पक्ष का अध्ययन करने के पश्चात् अब इस संकल्प की महान् शक्ति की विकास-विधियों पर विचार कर सकते हैं। इस शक्ति का उद्भव आत्मिक लोक में होता है। इस बात पर तो पहले ही बल दिया जा चुका है कि जब तक हमारी चेतना भौतिक जगत् तक सीमित है, हम आत्मा की केवल उन अभिव्यक्तियों के विषय में ही सोच सकते हैं जो इस जगत् में सम्भव हैं। आत्मिक लोक पर उद्भूत महान् शक्तियों को समझने अथवा उन्हें नियंत्रित करने की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ये हमारे ज्ञान-क्षेत्र के बाहर हैं और बाहर ही रहेंगी जब तक कि हम अपने आन्तरिक विकास के द्वारा भौतिक जगत् के परे जाने में समर्थ न हो जाएँ और उच्च आत्मिक लोकों में कार्य न करने लगें।

भौतिक जगत् के अपने दैनिक जीवन में संकल्प-शक्ति के कार्य पर विचार करने की सर्वोत्तम विधि यह होगी कि सामान्य से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे विशिष्ट तक आएँ। अर्थात् पहले सामान्य नियंत्रण-कार्य का विचार करें और फिर उन छोटे कार्यों को लें जो उस सामान्य कार्य के ही रूपान्तरण होते हैं।

अपने जीवन में आत्मा का प्रभुत्व बढ़ाने के लिए पहला कदम यह है कि हम धीरे-धीरे चेतना के केन्द्र को देहात्मा से जीवात्मा के क्षेत्र में लाने का प्रयत्न करें। जब तक हम देहात्मा के हितों और भ्रान्तियों में पूर्णतः लिप्त रहेंगे हमारे लिए आत्मिक लोक में उद्भूत सच्ची आत्मिक संकल्प शक्ति को व्यक्त कर पाना असम्भव है। निम्न और उच्च के बीच का मार्ग दिव्य जीवन के प्रवाह के लिए साफ करना ही पड़ेगा क्योंकि सच्चे प्रज्ञान, शक्ति और प्रेम की धारा दिव्य जीवन के साथ ही प्रवाहित होती है।

उदाहरणार्थ हम कुछ प्रारम्भिक अभ्यासों पर विचार कर सकते हैं। इन अभ्यासों से हमारे जीवन में संकल्प-शक्ति का स्थान अधिक महत्व-पूर्ण हो जाएगा। इनसे एक तो धीरे-धीरे देहात्मा के दृष्टिकोण और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी अभिवृत्तियों से हम अपने को अलग कर सकेंगे। दूसरे, हमारे निम्न कोष जीवात्मा के नियंत्रण और निर्देशन में कार्य करने के अभ्यस्त हो जाएँगे। आत्मा निम्न कोषों का पूरी तरह उपयोग और नियंत्रण तभी कर सकता है जब जीवात्मा योग-मार्ग अपना ले और उसमें काफी प्रगति कर ले। वास्तव में, राजयोग के अभ्यास के द्वारा योगी के जीवन में आत्मा को सर्वोच्च शासक बनाना ही योगाभ्यास का उद्देश्य माना जा सकता है।

पहला अभ्यास तो यह है कि अपने उच्च स्वरूप और जीवन के उद्देश्य का निरन्तर स्मरण बनाए रखने की आदत डाली जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि साधक जीवन की समस्याओं पर पहले ही गहराई से विचार कर चुका हो। देहात्मा की कमजोरियों और भ्रान्तियों से ऊपर उठने की महान् आवश्यकता का वह अनुभव करता हो, उच्च चेतना की प्राप्ति के लिए जीवन की परिस्थितियों में जिस परिवर्तित दृष्टिकोण की आवश्यकता है उसका उसे थोड़ा ज्ञान हो। संकल्प कर लेने मात्र से स्मरण बनाए रखने की यह आदत नहीं पड़ जाएगी। इसके लिए वर्षों तक उस दिशा में अनवरत और तीव्र प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। प्रत्येक जीवन में हमने अपने निम्न कोषों को अनियंत्रित और अव्यस्थित ढंग से कार्य करने दिया है। अपने पूर्व संस्कारों के अनुरूप प्रत्येक कोष में क्रिया-प्रतिक्रिया होती रही है। इन कोषों को अब अपने जीवन के उद्देश्य के अनुरूप बनाना सरल काम नहीं है। उसके लिए अधिकाधिक नियंत्रण की ही नहीं, प्रारम्भिक अवस्था में तो निरन्तर जागरूकता की और भी आवश्यकता होगी। अपने निम्न कोषों को नियंत्रण में रखने की और अपनी चेतना को अपने उच्च स्वरूप में केन्द्रित रखने की हमें आदत ही नहीं है। काफी समय तक बार-बार हम असावधानी के शिकार होंगे। तब हमें यह जानकर धक्का-सा लगेगा कि हम तो अपने कोषों को पूर्ववत् ही अव्यस्थित ढंग से काम करने दे रहे हैं। प्रारम्भिक अवस्थाओं में यह अनिवार्य है। परन्तु यदि हम देहात्म-भाव से ऊपर उठने का सतत प्रयत्न करते रहें तो चेतना का केन्द्र धीरे-धीरे अन्तर में स्थित होने लगेगा। साथ ही, जीवन की समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझाने की और उन्हें उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने की अधिकाधिक शक्ति हमें प्राप्त होगी। इससे व्यक्ति को जीवात्मा के केन्द्र-आत्मा के वासस्थान से अधिकाधिक मात्रा में कार्य करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection; Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः देहात्मा के क्षेत्र में आत्मा की शक्ति को लाने के हम सभी प्रयत्नशील व्यक्तियों को पहले अपने समस्त निम्न उद्देश्यों और क्रियाओं को अपनी उच्चतम नियति के गतिशील उद्देश्यों के चुम्बकीय प्रभाव-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। हमें चाहिए कि अपनी समस्त शक्ति और क्षमता इस महान् उद्देश्य की पूर्ति में लगा दें। पहले हम अपने कोषों को पूर्णतः नियंत्रित कर लें और एक कुशल चालक की भाँति अपने जीवन-रथ को आत्म-ज्ञान के लक्ष्य की ओर ले जाएँ। जीवात्मा का यह प्रतीकात्मक चित्र हमारे अन्दर स्थित आत्मा के सच्चे उद्देश्य का सही निरूपण करता है। हम इसे सदैव अपने मन में रखें और धीरे-धीरे अपना जीवन इसके अनुरूप बनाने का प्रयत्न करें।

इस सामान्य दृष्टिकोण की रूप-रेखा के पश्चात् अब हम कोषों को नियंत्रण में लाने की प्रमुख समस्या पर विचार करें। संकल्प-शक्ति का निम्न लोकों में यही मुख्य और आवश्यक कार्य है। इस नियंत्रण का क्या अर्थ है? मोटे तौर पर इसका अर्थ है प्रमुखतः दो बातें। एक तो यह कि प्रत्येक कोष जीवात्मा का एक तत्पर और कुशल यंत्र बन जाए। दूसरे, प्रत्येक कोष अन्तर से प्राप्त प्रेरणा से प्रेरित होकर कार्य करे। बाह्य अथवा स्वयं कोष की अपनी क्रिया से उत्पन्न प्रेरणाओं के प्रति उसका दृष्टिकोण दृढ़ होना चाहिए। अब हम देखें कि इन दो सामान्य कथनों का क्या अर्थ होता है। पहले कथन के सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विकास के लिए प्रेरक वातावरण तथा पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण हमारे स्थूल वासनामय और मनोमय कोष अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व बना लेते हैं। उनकी सामान्य कार्य-विधि के विपरीत यदि कोई निर्देश अन्तर से प्राप्त होता है तो उसका वे विरोध करते हैं। यदि स्थूल शरीर एक विशेष प्रकार के खाने का आदी हो जाता है तो भौतिक जीवन को उन्नत बनाने की दृष्टि से आहार में परिवर्तन लाने के सभी प्रयत्नों का वह विरोध करेगा। शराब से उत्तेजना प्राप्त करने वाला वासना-शरीर निश्चित समय पर उसकी जोर से माँग करेगा और जब तक उसकी माँग पूरी न हो जाए किसी भी काम का करना वह असम्भव कर देगा। मनमाने ढंग से निरुद्देश्य भटकने का अभ्यस्त मन किसी भी निश्चित कार्य पर अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित करने को तैयार ही नहीं होगा। हमारे, सबही के, इन शरीरों की सुनिश्चित प्रवृत्तियाँ और आदतें होती हैं। यदि हम इन शरीरों का अपने इच्छानुसार उपयोग करना चाहें तो ये आदतें ही बाधक बन जाती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधक का एक महत्वपूर्ण कार्य इन शरीरों को ऐसा सधा लेना है कि अन्तर से प्राप्त निर्देशों को वे अविलम्ब और पूर्णतः मान लें। इसके लिए अपने कार्य से सम्बन्धित कुछ प्रवृत्तियों और आदतों को तो पूर्णतः त्यागना पड़ेगा तथा कुछ अन्य को निष्क्रिय-सा बना देना पड़ेगा। इन प्रवृत्तियों से पूरी तरह छुटकारा पाना तो विकास की अति उन्नत अवस्था प्राप्त कर लेने पर ही सम्भव है। परन्तु यदि हमारे काय और प्रगति में विशेष बाधक न हों तो बहुत अंशों में हमारे उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। यह कार्य कठिन तो अवश्य है परन्तु यदि हम लगन और तत्परता से इसमें लगे रहें तो सफलता मिल सकती है।

नियंत्रण के दूसरे पक्ष को "प्रतिक्रिया रहितता" कहा जा सकता है। कोषों की अपनी प्रवृत्तियों के कारण (जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है) कुछ बाह्य प्रेरकों के फलस्वरूप प्रत्येक कोष में स्वतः ही पूर्वानुसार एक विशिष्ट प्रतिक्रिया यन्त्रवत् होती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण ले लें। कोई व्यक्ति आपको मारने के लिए डंडा दिखाता है। तत्क्षण स्थूल शरीर में बचाव करने की प्रतिक्रिया होगी। यदि कोई व्यक्ति आपसे आकर कुछ कहता है जिसे आप अपमानजनक समझते हैं तो आपके वासना शरीर में तुरन्त एक प्रतिक्रिया होगी और आप क्रोधावेश में होंगे। यदि कोई पुस्तक पढ़ते समय पुस्तक में प्रतिपादित दृष्टिकोण आपसे भिन्न होता है तो आपके मन में स्वतः एक प्रतिक्रिया होगी। आप उस दृष्टिकोण पर निष्पक्ष होकर विचार किए बिना ही उसे अस्वीकार कर देंगे। बाह्य प्रेरकों से हमारे कोषों में अनेक प्रकार की यंत्रवत् प्रतिक्रियाओं के ये सब उदाहरण हैं। ये प्रवृत्तियाँ हमारे स्वभाव का ऐसा अभिन्न अंग बन जाती हैं कि हम उन्हें अनुचित नहीं समझते। हमें उनका भान तक नहीं होता। जब हम आध्यात्मिक विकास के पथ पर चलना प्रारम्भ करते हैं और हमारी बुद्धि कार्य करने लगती है तो धीरे-धीरे इन प्रवृत्तियों की ओर हमारा ध्यान जाने लगता है। एक-एक करके हमें उनका भान होता है। ज्यों-ज्यों हम इन बुरी प्रवृत्तियों को त्यागते हैं उन प्रवृत्तियों के सूक्ष्म स्वरूप हमारी चेतना में प्रकट होने लगते हैं।

इन प्रवृत्तियों या प्रतिक्रियाओं को समाप्त करने की समस्या अत्यन्त ही रोचक है। इस समस्या का निराकरण दो प्रकार से हो सकता है। मनोविश्लेषण के क्षेत्र में किए गए हाल के अनुसंधानों से परिचित व्यक्ति जानते हैं कि यदि "मानसिक ग्रंथियों को केवल उस व्यक्ति के ध्यान में ला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिया जाए, अर्थात् उसे उनका बोध हो जाए, तो वे सहज ही सुलझ जाती हैं। हमारी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ इन मनोविश्लेषण की ग्रन्थियों से मिलती-जुलती होती हैं और इसीलिए उन्हें समाप्त करने के लिए उनका बोध होना आवश्यक है। परन्तु कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार समाप्त नहीं हो सकतीं। उनको समाप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक नियमों के साथ-साथ संकल्प-शक्ति के हल्के से परन्तु निरन्तर दबाव का सावधानी से प्रयोग करना पड़ेगा। यह दूसरी विधि चरित्र-निर्माण-विज्ञान का अभिन्न अंग है परन्तु यहाँ उस पर विचार करना आवश्यक नहीं है। यदि प्रक्रिया-रहितता काफी मात्रा में प्राप्त कर ली जाए तो वाह्य प्रेरकों से शरीर अप्रभावित बने रहते हैं। फिर केवल जीवात्मा से प्राप्त प्रेरणाओं से ही शरीरों में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। इस प्रतिक्रिया का स्वरूप निश्चलता मात्र हो अथवा एक विशेष प्रकार का कर्म—इसका निर्णय जीवात्मा करता है। अतः हम अपने वासना-शरीर को ऐसा सधा सकते हैं कि विषय-वासना-सम्बन्धी कम्पनों की उस पर कोई प्रतिक्रिया ही न हो और घृणा के कम्पनों का प्रत्युत्तर भी वह प्रेममय कम्पनों से दे सके। इन दोनों दशाओं में प्रतिक्रिया संकल्प-शक्ति द्वारा निश्चित होती है और वह यंत्रवत् नहीं होती। प्रतिक्रिया-रहितता आने से धीरे-धीरे आत्म-निर्णय की शक्ति विकसित होती है जिसका आन्तरिक नियंत्रण आत्मा द्वारा होने लगता है। यह शक्ति उनकी विशिष्टता होती है। जो यह चाहते हैं कि उनके जीवन का संचालन उनकी आत्मिक संकल्प-शक्ति के द्वारा हो, उन्हें इस शक्ति को विकसित करना ही चाहिए। हम जितने अधिक प्रतिक्रियारहित और अहं-रहित होंगे, हमारे कार्य उतने ही अधिक हमारे अन्तर में विराजित दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति होंगे। वे फिर निम्न कोषों के संस्कारों के परिणामों की अभिव्यक्ति मात्र नहीं होंगे। इन परिस्थितियों में किया कर्म ही निष्काम और अहं भाव से मुक्त होता है।

आत्मिक संकल्प-शक्ति को विकसित करने के लिए इन दो महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार करने के पश्चात् अब हम इस कार्य के लिए अपनाई जाने वाली विशिष्ट विधियों का विचार कर सकते हैं। यहाँ केवल सामान्य सिद्धान्त ही दिए जा सकते हैं। इन सिद्धान्तों को व्यक्ति के स्वभाव और परिस्थितियों के अनुसार जीवन में अपनाने के असंख्य तरीके हो सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हम देख चुके हैं कि संकल्प-शक्ति के दो कार्य हैं : निम्न कोषों की क्रियाओं को नियंत्रित करना और उनकी क्रियाओं के लिए सम्भावी शक्ति उपलब्ध कराना। इन नियंत्रणों के दो पक्ष हैं और दोनों ही महत्त्व-पूर्ण हैं। पहले को कार्य का निरोध और दूसरे को नियमन कहा जा सकता है। यदि कोषों के कार्यान्वयन में पूर्ण सामंजस्य और समस्वरता लानी है तो नीचे के तीनों ही लोकों में नियंत्रण के इन पक्षों पर ध्यान देना आवश्यक है।

निरोध के सम्बन्ध में हमें याद रखना चाहिए कि शारीरिक क्रियाओं का निरोध कर पाने की शक्ति लम्बे समय तक विभिन्न प्रकार के अभ्यासों द्वारा विकसित हो सकती है। इस अभ्यास को निश्चित रूप से हानिकारक क्रियाओं के निरोध से प्रारम्भ करना उचित होगा। उदाहरणार्थ, मन के क्षेत्र में हम समस्त बुरे विचारों को रोकने का प्रयत्न करें। भावनाओं के क्षेत्र में हम घृणा के विभिन्न रूपों को त्यागने का प्रयत्न करें। भौतिक क्षेत्र में हम शारीरिक स्वास्थ्य विगाड़ने वाली आदतों से मुक्त होने का प्रयास करें। निश्चित रूप से हानिकारक क्रियाओं से मुक्ति पा लेने के पश्चात् हम उन सभी व्यर्थ की क्रियाओं को धीरे-धीरे त्यागने का प्रयत्न करें जो देखने में तो हानिकारक नहीं हैं परन्तु जिनसे हमारी शक्ति का विभिन्न प्रकार से अपव्यय होता है और हमारा वहुत-सा समय नष्ट होता है। यदि हम अपने जीवन को ध्यानपूर्वक देखें तो हमें ज्ञात होगा कि हमारे समय और शक्ति का अधिकांश भाग व्यर्थ के कार्यों में बीतता है। हम विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं की खोज करते रहते हैं। हम इतना धन कमाने में लगे रहते हैं जिसकी हमें कभी आवश्यकता ही नहीं होगी। केवल फालतू समय काटने के उद्देश्य से सामाजिक कार्यों और संयोजनों में व्यस्त रहते हैं। यदि हमने सचमुच यह निश्चय कर लिया है कि हम संकल्प-शक्ति का प्रभुत्व स्थापित करने के कार्य में अपने आपको पूर्णतः लगा देंगे तो ऐसे सभी प्रयत्न और कार्य धीरे-धीरे परन्तु दृढ़ता के साथ हमारे जीवन में से निकल जाने चाहिए। हमें अपने कार्य के लिए शक्ति के प्रत्येक कण की आवश्यकता होगी। अतः हमें सावधानी से और विधिवत् अपनी शक्ति संचित करनी चाहिए। हानिकर और व्यर्थ के कार्यों के निरोध के लिए विभिन्न अभ्यासों से धीरे-धीरे एक अपूर्व शक्ति प्राप्त होगी। उससे व्यक्ति आवश्यकतानुसार तीनों निम्न कोषों की क्रियाओं का पूर्णतः विरोध कर सकेगा। चाहे जितने समय के लिए मन की पूर्ण एकाग्रता, वासना कोप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की पूर्ण शान्ति और स्थूल शरीर की पूर्ण निश्चलता प्राप्त कर लेना ही अन्ततः इसके परिणाम होंगे।

निरोध की इस शक्ति की पराकाष्ठा और इसकी उच्चतम अभिव्यक्ति समाधि में बैठे योगी में देखी जा सकती है। उसका शरीर पूर्णतः निश्चल हो जाता है। उसके विचारों और भावनाओं की क्रिया तो मानो एक हो जाती हैं। जब तक इन तीनों निम्न कोषों की क्रियाओं का पूर्णतः निरोध नहीं हो जाता और कोष एक प्रकार से निष्क्रिय नहीं हो जाते चेतना उच्च लोकों में कार्य करने तथा उन लोकों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मुक्त नहीं हो पाती।

संकल्प-शक्ति के नियंत्रण का दूसरा पक्ष इन कोषों की क्रियाओं का नियमन है। निरोध के अभ्यास के समान, हमें यहाँ भी इन तीनों ही शरीरों पर ध्यान देना होगा। जीवात्मा को निम्न लोकों में कार्य करने के लिए इन तीनों शरीरों की तो आवश्यकता होती ही है, साथ ही, उनके सामंजस्यपूर्ण और समन्वित ढंग से कार्य करने पर ही बाह्य जगत् में कार्य की सफलता निर्भर करती है और उच्च लोकों की शक्ति निम्न लोकों में लाई जा सकती है। यह तो इसी प्रकार है मानो जीवात्मा को तीन घोड़ों की टोली को चलाना है। इनमें से किसी एक की चंचलता या अव्यवस्थित चाल से प्रगति रुकेगी या कार्य में बाधा पड़ेगी। जो ध्यान करना प्रारम्भ करते हैं वे इन तीनों शरीरों के सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य करने की आवश्यकता का अनुभव सहज ही कर सकेंगे। यदि स्थूल शरीर पूर्ण स्वस्थ नहीं है और अनमना-सा है, या भावनाओं में उद्वेग है तो मन की एकाग्रता पर तुरंत असर पड़ेगा और शरीरों की हलचल के अनुरूप उच्च लोकों से प्रेरणा और शक्ति के सतत प्रवाह में बहुत कुछ बाधा उत्पन्न हो जाएगी।

निम्न कोषों की क्रियाओं पर संकल्प-शक्ति की नियन्त्रण-विधि का अध्ययन करते समय सम्भवतः सर्वोत्तम यह होगा कि संकल्प-शक्ति की इन कोषों पर सामान्य नियन्त्रण और नियमन क्रिया के तीन महत्वपूर्ण पक्षों पर अलग-अलग विचार किया जाए। इन तीन पक्षों में से पहला पक्ष नए प्रकार की क्रियाओं का प्रारम्भ करना है। जिन कार्यों के हम अभ्यस्त हैं अथवा जिनमें किसी प्रकार का सुख या रस मिलता है उन्हें करना सरल है। आदत या वासना की शक्ति के प्रभाव से हम अपने कोषों के स्वाभाविक आलस्य या तामस पर काबू पा लेते हैं। परन्तु यदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमें कोई ऐसी नई क्रिया प्रारम्भ करनी हो जिसमें किसी प्रकार का सुख या रस न हो तो हमें संकल्प-शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। अतः उदाहरण के लिए, टेनिस खेलने में या अपने प्रिय जनों को स्नेहपूर्ण विचार भेजने में या रोचक उपन्यास पढ़ने में संकल्प-शक्ति के उपयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परन्तु टाइप सीखने के लिए, या जिस व्यक्ति से हम घृणा करते हैं उसे प्रेमपूर्ण विचार भेजने में अथवा एक नई भाषा सीखने में हमें ज्ञात होगा कि हमारे कोष काफी विरोध करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में अपने निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए हमें संकल्प-शक्ति का उपयोग करना ही पड़ेगा। जिस व्यक्ति ने पूर्णत्व का आदर्श अपने सामने रखा है उसे तो नये कार्य सीखने ही होंगे। उसे तो बार-बार नई क्रियाएँ प्रारम्भ करनी होंगी। उसे धीरे-धीरे निम्न कोषों के इस स्वाभाविक विरोध को समाप्त करना पड़ेगा। उसे तो बिना अवरोध के नई क्रियाओं को करने का अभ्यास चाहे वे क्रियाएँ रुचिकर हों अथवा अरुचिकर—इन कोषों को बहुत कुछ इसी प्रकार कराना होगा जैसे सधाया हुआ घोड़ा स्वतः ही और तुरन्त अपने स्वामी के जरा से संकेत का पालन करता है।

जब नई क्रियाओं को प्रारम्भ करने की काफी क्षमता प्राप्त हो जाए तो प्रत्येक कोष से सम्बन्धित क्षमताओं के क्षेत्र को धीरे-धीरे बढ़ाने का मार्ग खुल जाता है। किसी व्यक्ति का कोई विशेष शरीर जिन कार्यों को अत्यन्त सफलतापूर्वक कर सकता है उनकी संख्या सीमित होती है। उसके वातावरण, उसके अभ्यास और उसके शरीर के विकास पर यह संख्या निर्भर करेगी। इस क्षेत्र को धीरे-धीरे और विधिवत् बढ़ाना आवश्यक है। तभी उच्च शक्तियाँ विभिन्न प्रकार से और अधिक पूर्णता के साथ मनुष्य के निम्न जीवन में व्यक्त हो सकेंगी। इसमें संदेह नहीं कि विभिन्न शरीरों की ये क्षमताएँ किन दशाओं में विकसित की जाएँ यह उस व्यक्ति की आवश्यकता और स्वभाव पर—जिसे हम उसकी व्यक्तिगत विशिष्टता कह सकते हैं—निर्भर करेगा। पर कोषों पर हर समय दृढ़ता से दवाव डालते रहना आवश्यक है जिससे उनकी कम्पन-क्षमता और उपयोगिता निरन्तर बढ़ती रहे। परिपूर्णता-प्राप्ति के लिए गम्भीरता से प्रयत्न करने पर ही व्यक्ति को यह भान होता है कि उसका जीवन कितना "आबद्ध, संकुचित और सीमित" है तथा उसकी चेतना के विस्तार में तथा उसके अन्दर दिव्य जीवन के प्रवाह में उसके कोषों में ग्रहणशीलता का अभाव कितना बाधक है। वह चाहता है कि आन्तरिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकों के कम्पन उसकी स्थूल चेतना में आएँ परन्तु उसके मस्तिष्क की जड़ता महान् कठिनाइयाँ खड़ी कर देती हैं। उसकी इच्छा होती है कि भक्ति भाव में वह इतना तल्लीन हो जाए कि अपने प्रियतम के चरणों में पहुँच जाए परन्तु उसका वासना-शरीर स्फूर्तिविहीन सिद्ध होता है और श्रीकृष्ण के दिव्य संगीत से झंकृत ही नहीं होता। वह एक विशिष्ट अध्ययन करना चाहता है परन्तु उसके मन ने अभी तक उस प्रकार के विचारों को समझने की क्षमता ही विकसित नहीं की है। इन अयोग्यताओं के कारण क्षुब्ध होने से कोई लाभ नहीं है। जिन क्षमताओं को हमने विकसित नहीं किया है वे हमें प्राप्त भी नहीं हो सकतीं। बुद्धिमान् मनुष्य प्राप्त परिस्थिति को स्वीकार कर लेता है। फिर संकल्प-शक्ति का सतत प्रयोग करके और लक्ष्य के अनुरूप साधन अपनाकर वांछित दिशा में वह अपने शरीरों की क्षमताओं को विकसित करना प्रारम्भ कर देता है। यदि हम यह स्मरण रखें कि ये सभी क्षमताएँ हमारे अन्दर बीज रूप में पहले से ही विद्यमान हैं और असीम दिव्य संकल्पशक्ति भी हमें उपलब्ध है तो अपनी छिपी सम्भावनाओं को विकसित करने का कार्य हम सम्भवतः अधिक विश्वास के साथ कर सकेंगे। हमारी क्षमताएँ जितनी विविध होंगी, हमारे अन्तर में बैठा दिव्य कलाकार अपने प्रयोग के लिए निर्मित यंत्रों से उतना ही अधिक मधुर संगीत उत्पन्न कर सकेगा।

क्षमताओं में वृद्धि के साथ-साथ तीव्र अभ्यास द्वारा उनमें गुणात्मक वृद्धि करनी भी आवश्यक है। बहुत-सी क्षमताओं का आंशिक विकास बहुत-ही सामान्य-सा हो सकता है और निःसारताओं से भरे जीवन की ओर ले जा सकता है। अपने आन्तरिक साधनों का उपयोग तथा जीवात्मा के उच्च उद्देश्यों की पूर्ति तभी सम्भव होती है जब कोई क्षमता पर्याप्त विकसित हो जाती है। आध्यात्मिक जीवन में गम्भीरता या तीव्रता सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है। आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी सफलताएँ सामान्यतः किसी विशेष दिशा में प्रयत्नों के लिए निरन्तर तीव्रतर होने के कारण ही सम्भव हो पाती हैं। यह तीव्रीकरण संकल्प-शक्ति के निरन्तर बढ़ते हुए दबाव के कारण ही होता है। इस प्रकार जो संकल्प शक्ति प्राप्त होती है वह कदाचित् ही किसी अन्य प्रकार से प्राप्त हो सके। तीव्र प्रयत्न और संकल्प-शक्ति के बीच इस क्रिया-प्रतिक्रिया से धीरे-धीरे हमारे चरित्र में सहन शक्ति, अनवरत प्रयत्नशीलता और एकनिष्ठता जैसे गुण विकसित होते हैं। ये ही निम्न लोकों में आत्मिक चेतना की महान् शक्ति के धुँधले से प्रतिबिम्ब हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी भी प्रकार की क्रिया प्रारम्भ करने तथा उसे चाहे जितने समय तक कठिनाई होते हुए भी, जारी रखने की क्षमता के साथ-साथ उस क्रिया को चाहे जब अविलम्ब पूर्णतः छोड़ देने की क्षमता भी विकसित कर लेनी चाहिए। यह किसी भी कोष के नियंत्रण की पराकाष्ठा है। यह भी एक प्रकार का निरोध ही है। फिर भी, नियंत्रण-क्षमता की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिए स्थूल, वासनामय और मनोमय कोषों की क्रियाओं को इस प्रकार अविलम्ब और पूर्णतः छोड़ देने का अभ्यास इन कोषों की क्रियाओं के साथ-साथ ही किया जाना चाहिए। अतः उदाहरणार्थ, हम कोई भी भौतिक क्रिया लगातार करते रहें और जब उसकी आदत पड़ जाये तो उस क्रिया को छोड़ सकें। हम उत्साह जैसी भावना को अत्यन्त विकसित कर लें और एक क्षण में वासना-शरीर को शान्त भी बना सकें। हम मन को किसी भी काम में या विषय के अध्ययन में लगा दें और जब मन उसमें पूरी तरह अनुरक्त और तन्मय हो जाये तो उस कार्य या अध्ययन से उसे पूर्णतः हटा सकें और उस ओर जाने ही न दें या मनमाने ढंग से उसे उस कार्य या विषय का रस ही न लेने दें। जब कोई व्यक्ति स्थूल, वासनामय और मनोमय शरीरों की किसी भी क्रिया को स्वेच्छा से प्रारम्भ कर सकता है, चालू रख सकता है और छोड़ भी सकता है तभी यह कहा जा सकता है कि आत्मा ने इन शरीरों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है और वह निम्न लोकों में इनसे केवल यंत्र की तरह काम ले सकता है।

ऊपर संकल्प-शक्ति के विकास के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे अन्दर विद्यमान इस सर्वोच्च-शक्ति के विकास के अवसर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और सभी बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों में प्राप्त होते हैं। आत्मा हमारा परम तत्त्व है। हमारे आध्यात्मिक जीवन का आधार है। आत्मिक संकल्प-शक्ति रूपी अपने प्रमुख शस्त्र के माध्यम से आत्मा सभी शक्तियों और कोषों का नियमन करता है; उन्हें शक्ति प्रदान करता है तथा नियंत्रित करता है। यह प्रमुख शक्तिशाली नियंत्रक-शक्ति हमारे अन्दर युग-युगों से कार्य कर रही है और अत्यन्त कुशलता से हमें विकास की वर्तमान अवस्था तक ले आई है। इसी के कारण अपूर्णताओं और दुर्बलताओं पर हमारी अन्ततः विजय सुनिश्चित है। अपनी भव्य नियति प्राप्त करना अवश्यम्भावी है। जो अपने जीवन को गम्भीरता से सँवारने में लग जाता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और आत्म-साधना के विज्ञान का अध्ययन और अभ्यास करने लगता है उसे उस परम दिव्य शक्ति के असीम स्रोत से अधिकाधिक सहायता प्राप्त होने लगती है। अन्ततः वह एक ऐसा केन्द्र बन जाता है जिसके माध्यम से संकल्प-शक्ति की निर्बाध गति से ईश्वरीय विधान की पूर्ति कर सकता है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खण्ड : ३

आत्मानुसंधान और आत्मानुभूति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १७

आत्मानुसंधान—हमारा यह असत् जगत्

अपने अन्दर छिपे परम-तत्त्व की खोज का दिव्य कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व हमें स्वयं से दो प्रश्न पूछने चाहिए : (१) क्या हम वास्तव में इस कठिन कार्य को करना चाहते हैं ? (२) हम इस कार्य को क्यों करना चाहते हैं ? वहुत से साधक कहेंगे : "निस्संदेह, हम यह कार्य करना ही चाहते हैं अन्यथा हम इन वातों का अध्ययन ही क्यों करते और उन साधनों की जानकारी ही क्यों चाहते जो हमें अपनाने होंगे।" दूसरे प्रश्न का उत्तर सम्भवतः वे उतने विश्वास के साथ न दे सकें। उनका उत्तर यह हो सकता है कि वे इस मार्ग में इसलिए प्रवेश करना चाहते हैं क्योंकि जीवन कठिनाइयों और कष्टों से भरा है और वे इन सव कष्टप्रद परिस्थितियों से मुक्ति चाहते हैं।

इन दोनों प्रश्नों के उत्तर अत्यन्त सरल प्रतीत होते हैं। परन्तु हमें यह विश्वास नहीं कर लेना चाहिए कि हम सचमुच उनके उत्तर जानते हैं। क्योंकि यदि सचमुच हम उन उत्तरों को जानते तो अन्तर जीवन की वहुत सी समस्याएँ हमारे सामने ही न होतीं। उदाहरणार्थ, मार्ग पर पूर्ण लगन और स्थिरता से चलने के लिए तीव्र उत्कंठा के अभाव की समस्या अथवा अपने जीवन और मानसिक दृष्टिकोण में कोई भी परिवर्तन लाने में अत्यन्त कठिनाई का अनुभव करने की समस्या। बुद्धि के स्वरूप की चर्चा करते समय यह कहा गया था कि अपने आदर्शों और निश्चयों के अनुसार व्यवहार करने में हमें इतनी कठिनाई इसलिए होती है कि जीवन की मूल समस्याओं के विषय में हमारे मन की गहराइयों में संशय छिपे पड़े रहते हैं। ये मानसिक संशय और पूर्वाग्रह ही कर्म करने की अथवा अपने आपको वदलने की हमारी इच्छा को पंगु या गतिहीन बना देते हैं। हम इन समस्याओं को उनके सही स्वरूप में देख ही नहीं पाते। सच्चे अर्थों में हम अन्तिम निर्णय ले ही नहीं पाए हैं। किसी भी समस्या को मन को ही नहीं, बुद्धि के प्रकाश में देखने पर ही हम उसे स्पष्टतः और बिना किन्हीं संशयों के देख सकते हैं और तभी हमें अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक शब्द है "निश्चय" जिसका अर्थ है बुद्धि के प्रकाश में प्राप्त सच्चा और दृढ़ विश्वास। ऐसे विश्वास में किसी भी प्रकार का संशय मन में नहीं रहता। ऐसा विश्वास उत्पन्न हो जाने पर ही कर्म तत्परता से तथा बिना किसी दुविधा के होता है। आत्मानुसंधान की इन समस्याओं के सम्बन्ध में हमारा निश्चय इसी प्रकार का होना चाहिए। तभी हमारी प्रगति लगातार, बिना रुकावट के और आनन्ददायक होगी। मन में विवेक जाग्रत होने पर ही वास्तव में ऐसा निर्णय हो पाता है। विवेक ही जीवन की समस्त समस्याओं को उनके यथार्थ रूप और सही परिप्रेक्ष्य में देखने में हमारी सहायता करता है। यह प्रमुखतः तो आन्तरिक विकास की बात है। परंतु यदि इन समस्याओं में हमारी सच्ची रुचि है तो माना जा सकता है कि ऐसी मनःस्थिति प्राप्त करने की हममें क्षमता है। अतः दृढ़ निश्चय पर पहुँचने की प्रक्रिया में आवश्यक साधनों द्वारा तीव्रता लाई जा सकती है। इस दिशा में पहला कार्य गहराई और गम्भीरता से विचार करना है। जीवन के कुछ पक्षों पर ध्यानपूर्वक, निरन्तर और गम्भीरता से विचार करने से हमारा उच्च मन सक्रिय तथा निम्न मन पवित्र और अनुकूल हो जाता है और बुद्धि उद्दीप्त हो जाती है। इस प्रकार मन और बुद्धि का मार्ग धीरे-धीरे खुलने लगता है। ऐसा होने पर हम चीजों को सही-सही देखना प्रारम्भ करते हैं। तब हमारे अन्दर रूपान्तरण की प्रक्रिया सहजता, सरलता और तीव्रता से होने लगती है। हमारे अन्तर जीवन में गति आती है। यही कारण है कि प्रज्ञान के जिज्ञासु और आत्म-ज्ञान के पथ में प्रवेश करने के इच्छुक सभी लोगों को जीवन की समस्याओं पर गहराई से विचार करने की सलाह दी जाती है। उन्हें इन समस्याओं पर तब तक विचार करते रहना चाहिए जब तक उन्हें वास्तव में यह विश्वास न हो जाए कि अपने आन्तरिक विकास के मार्ग पर चलना वांछनीय ही नहीं अनिवार्य है और यह इतनी आवश्यक समस्या है जिसको और अधिक टाला नहीं जा सकता। सच्चे विश्वास की यही कसौटी है।

इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न होने तक विचार और अन्वेषण की यह प्रक्रिया कैसे प्रारम्भ और पूर्ण की जाए? वैसे तो यह बहुत कुछ व्यक्तिगत मामला है। परन्तु यहाँ मैं विचार करने की कुछ विधियाँ प्रस्तुत करता हूँ। जब तक दृढ़ विश्वास उत्पन्न न हो जाए अथवा समस्या को हल करने का उसका अपना ही तरीका ज्ञात न हो जाए साधक इन विधियों के अनुसार विचार करना प्रारम्भ कर सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्वेषण की ये विधियाँ एक ही समस्या तक पहुँचने के दो आधारभूत दृष्टिकोणों पर आधारित हैं। एक तो है उस जगत् के बारे में गम्भीरता और सावधानी से विचार करना जिसमें हम रहते हैं। जो कुछ हमारे महान् गुरुओं ने कहा है उसके प्रकाश में ही नहीं, बल्कि अपने अनुभव और तर्क के प्रकाश में भी तथा इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में हुए अनुसंधानों के प्रकाश में हमें यह विचार करना है। यह कार्य यथासम्भव सावधानी और निष्पक्षता से किया जाना चाहिए। यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि क्या यह जगत् वास्तव में वैसा ही है जैसा इसे हम समझते हैं या हम केवल विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियों के शिकार हैं? क्या हम इन भ्रान्तियों में ही सन्तुष्ट होकर जीवन बिताते रहते हैं, यद्यपि अनादि काल से आध्यात्मिक गुरु हमें चेतावनी देते रहे हैं? यदि हम इस जगत् के बारे में इस प्रकार विचार करें तो सम्भव है, हमें पता चले कि जैसा यह दिखता है वैसा है नहीं। यह हो सकता है कि इस बात से संसार के प्रति हमारे दृष्टिकोण में सच्चा परिवर्तन आ जाए और फिर हम बिना किसी दुविधा के उचित कार्य भी कर सकें। अन्वेषण की सम्भावित विधियों का सुझाव ही दिया जा सकता है अथवा उनकी अनुशंसा ही की जा सकती है। परन्तु यह कार्य तो प्रत्येक व्यक्ति को स्वंय ही करना होगा। कोई व्यक्ति केवल विभिन्न विधियाँ बता सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। जैसा कि एक जीवन्मुक्त महात्मा ने 'महात्मा के पत्र' (दी महात्मा लेटर्स) नामक पुस्तक के एक पत्र में कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को इन चीजों को स्वयं देखना होगा। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की आँखें फाड़ कर उसे आन्तरिक जीवन की सत्यता दिखा नहीं सकता।

दूसरा दृष्टिकोण उस जगत् के परीक्षण पर आधारित है जिसमें हम प्रवेश करना चाहते हैं और जिसके विषय में एक महात्मा ने कहा है "अपने जगत् से निकल कर हमारे जगत् में आ जाओ"। निस्संदेह हम जानते ही नहीं हैं कि वह जगत् कैसा है क्योंकि हम तो उसमें प्रवेश की तैयारी कर रहे हैं। वह जगत् तो हमारी कल्पना और बहुत कुछ हमारी समझ के परे है। परन्तु जो इस जगत् में प्रवेश कर चुके हैं उन्होंने कुछ संकेत दिए हैं कि यह किस प्रकार का है। यदि हम उनके साक्ष्य और उनके कथन के अनुसार उस जगत् के बारे में विचार करें तो सम्भव है हमें उसकी सुन्दरता, भव्यता और शान्ति का कुछ आभास मिल सके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और इस प्रकार हम उसमें प्रवेश करने की इच्छा से काफी अभिप्रेरित हो सकें। इस प्रेरणा से सम्भव है, हमें कुछ प्रोत्साहन मिल सके। बहुत से साधकों को जीवन में इस प्रेरणा की अत्यन्त आवश्यकता होती है। वे अपनी वर्तमान परिस्थितियों से निकलना तो चाहते हैं परन्तु निश्चेष्टता के कारण विवशता का अनुभव करते हैं। जिस जगत् में हम रहते हैं उसको ध्यानपूर्वक देखने पर हमें ज्ञात होगा कि जैसा हम सोचते थे यह उससे कहीं अधिक खराब है। इससे इस संसार को छोड़ने की हमारी इच्छा और संकल्प को बल मिलेगा।

इसी प्रकार जिस जगत् में हम प्रवेश करना चाहते हैं उसको ध्यानपूर्वक देखने पर यह सम्भव है कि मन की भ्रान्तियों और संसार के कार्यों में व्यस्तता के कारण हमने उसे जैसा समझा था उससे यह जगत् कहीं अधिक सुन्दर और अद्भुत प्रतीत हो और हो सकता है कि सच्ची प्रेरणा और आध्यात्मिक आकांक्षा से उत्पन्न गम्भीरता और उत्साह के साथ इस जगत् में प्रवेश करने की हमारी इच्छा को थोड़ा बल मिले।

इस असत् जगत् के प्रति हमारे आकर्षण को कम करने वाली तथा सत् जगत् के प्रति हमारे आकर्षण को बढ़ाने वाली इन दो प्रवृत्तियों के दोहरे प्रभाव के फलस्वरूप सम्भव है, हमें कम से कम सही दिशा में ठीक से चलना प्रारम्भ करने के लिए पर्याप्त प्रेरणा मिले। एक वार सच्ची लगन से चलना प्रारम्भ कर देने पर अभीष्ट दिशा में अधिकाधिक गति और निश्चय के साथ चलते रहना हमारे लिए सम्भव होगा। क्योंकि हममें से अधिकांश व्यक्तियों के साथ वास्तविक कठिनाई ठीक से प्रारम्भ कर देने की ही है। केवल बाह्य जीवन-विधि या कुछ शारीरिक अथवा मानसिक क्रियाओं को अपनाकर ही हम यह सोच लेते हैं कि प्रारम्भ हो गया परन्तु यदि सच्ची आन्तरिक प्रेरणा या लगन नहीं है तो बाह्य क्रियाएँ सामान्यतः दैनिक-चर्या मात्र बन कर रह जाती हैं। हम उस दैनिक-चर्या को इस आशा से करते रहते हैं कि हम अपने लक्ष्य की ओर प्रगति कर रहे हैं। सच्चा प्रारम्भ तो तब होता है जब सच्ची लगन हो। केवल सच्ची लगन में ही वह गतिशीलता और वेग होता है जो वास्तविक प्रगति को निरापद बना देता है।

जिस जगत् में हम रहते हैं और जिससे हम परिचित हैं अब हम उसके स्वरूप का विचार करेंगे। इस जगत् के विषय में हम अनेक प्रकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से विचार कर सकते हैं। पहले हम भौतिक जीवन को ही लेते हैं। हम यह विचार तीन विभिन्न प्रकारों से कर सकते हैं : (१) विशाल विश्व में हमारी पृथ्वी के स्थान की अत्यन्त नगण्यता, (२) काल की गतिमान् प्रचण्ड धारा का स्वरूप जो अपने मार्ग में आने वाले प्रत्येक पदार्थ का निष्ठुरता से विनाश कर रही है और (३) भौतिक जगत् में हम जिन विषय-वस्तुओं के बीच रहते और घूमते हैं उनका भ्रामक स्वरूप। यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार का अध्ययन किसी दार्शनिक परिकल्पना या तर्क पर नहीं बल्कि विज्ञान के ऐसे ठोस तथ्यों पर आधारित है जिनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का अध्ययन सावधानी और ईमानदारी से प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही करना होगा। परन्तु यह उचित ही होगा यदि इसकी विधि को समझने के लिए कुछ वैज्ञानिक बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाए।

भौतिक जगत् के बारे में खगोल-वेत्ताओं द्वारा एकत्रित किए गए बहुत से रोचक तथ्यों को यदि कोई व्यक्ति सरसरी तौर पर भी देखे तो इस अनन्त विश्व में हमारी पृथ्वी की अत्यन्त ही नगण्य-सी स्थिति है तथा इस पृथ्वी पर शरीरधारी मनुष्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के नगण्य स्थान से वह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। हिसाब लगाकर यह देखा गया है कि भौतिक दिक् रूपी महासागर में अपने परिक्रमा-पथ में घूमती हुई पृथ्वी की अपेक्षा अटलांटिक महासागर की सतह पर किसी शीशी की एक डाट भौतिक दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और भौतिक दृष्टि से इस पृथ्वी पर चलते-फिरते मानव की अपेक्षा पहाड़ी पर रेंगते एक छोटे-से कीड़े का महत्त्व कहीं अधिक है। इन बातों की याद दिलाने पर बहुत से लोग कहेंगे "हाँ, हम यह सब जानते हैं परन्तु इससे क्या होता है?" यही तो सबसे बड़ी कठिनाई है। हम इन भयावह तथ्यों को केवल तथ्यों के रूप में देखते हैं। हम उनके महत्व को बिल्कुल भी नहीं समझते। अटलांटिक महासागर में तैरते लकड़ी के एक टुकड़े पर यदि हम चीटियों की एक बस्ती को देखें, उनके जीवन में प्रवेश कर सकें और उन्हें अनेक प्रकार की योजना बनाते और उनके लिए गम्भीरता से प्रयत्न करते देखें तो हम हँसेंगे कि वे अपनी अनिश्चित और महत्त्वहीन स्थिति को समझने में असमर्थ हैं। परन्तु भौतिक दृष्टि से तो हम स्वयं उनसे भी बुरी स्थिति में हैं और हमें उसका बिल्कुल भी भान नहीं है। हमें उस भ्रान्ति का बोध ही नहीं है जिसके कारण हम अपना सामान्य जीवन सन्तुष्ट होकर-

Dr. Urmila Sharma Collection; Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बिताते रहते हैं। एक भौतिक ईकाई के रूप में हम अपनी भयावह स्थिति के विषय में सोचने की परवाह तक नहीं करते।

अब हम इसी समस्या को स्थान की दृष्टि से नहीं, काल की दृष्टि से देखें। क्या हम नहीं जानते कि काल का प्रचण्ड प्रवाह हमारे जीवन के पीछे निष्ठुरता से बढ़ता चला आ रहा है ? सब कुछ काल-कवलित होता जा रहा है ? मानव मात्र ही नहीं, संस्कृतियाँ और यहाँ तक कि सौरमण्डल निरन्तर काल के प्रवाह में विलुप्त होते जा रहे हैं। इसके बढ़ते वेग को कोई नहीं रोक सकता। विश्व के जीवन की तुलना में ऐसा प्रतीत होता है मानो शताब्दियाँ एक क्षण के समान विस्मृति की गर्भ में लुप्त हो गई हों। इसमें सन्देह नहीं कि अनन्त भविष्य हमारे सामने है। परन्तु अतीत और भविष्य को पृथक् करनेवाला वर्तमान बनते ही उसकी भी वही नियति होने वाली है। क्या हम अपनें जीवन से संबंधित इस भयावह सत्य से परिचित हैं। वैचारिक दृष्टि से तो हम सचमुच परिचित हैं परन्तु क्या हम इसके वास्तविक महत्त्व को जानते हैं ? बिल्कुल नहीं। यदि हम उसे जानते होते तो हम इस तथ्य की ओर इतने उदासीन न बने रहते। सांसारिक व्यक्ति के रूप में जीवन जी कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते। हम माया के उस आवरण को विदीर्ण करने का प्रयत्न तो करते जो हमारे मन को भ्रान्तिमय बना देता है और केवल सांसारिक जीवन जी कर ही हमें सन्तुष्ट बनाये रखता है। यदि हमें वास्तव में बोध होता तो हमारी समस्त तुच्छ आकांक्षाएँ और वृथाभिमानी वासनाएँ तुरन्त समाप्त हो जातीं। हम यदि इस बात को जानते तो हम अपने आपको और अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को जितना महत्व देते हैं उतना कभी न दे पाते।

अब हम इसी समस्या को एक अन्य दृष्टिकोण से देखें। पदार्थ की संरचना के बारे में विज्ञान ने जो खोज की है यदि हम उसका अध्ययन करें तो अपने भौतिक जगत् से संबंधित मूल भ्रान्ति हमें तत्क्षण स्पष्ट हो जाएगी। अपने चारों और जिन पदार्थों को हम ठोस, मूर्त मानते हैं वे केवल अणु और परमाणुओं से बने हैं और उनके बीच में कम्पनों की क्रीड़ा निरन्तर होती रहती है। हमारे अपने शरीर में भी अणु और परमाणु ही ज्ञानेन्द्रियों का रूप ले लेते हैं। ये अणु और परमाणु क्या हैं ? एक प्रकार से सारा स्थान रिक्त है। उसमें कुछ बिन्दु स्थिर हैं या अविश्वसनीय और कल्पनातीत गति से गतिमान् हैं। यह निष्कर्ष निकाला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया है कि यदि एक मनुष्य के स्थूल शरीर में से समस्त खाली स्थान को निकाल कर उसे संघटित किया जाए तो वह धूल का इतना छोटा कण हो जाएगा कि उस कण को देखने के लिए आवर्धक शीशे की आवश्यकता होगी और फिर एक क्षण के लिए सोचिए कि स्थान की परिधि में यह गतिमान विन्दु ही हमें कितने वास्तविक प्रतीत होते हैं। यदि यह माया या भ्रान्ति नहीं है तो कोई भी यह जानना चाहेगा कि यह है क्या? जिन महान् रहस्यों से हम घिरे हैं उनसे बिल्कुल अनभिज्ञ रह कर भी जब लोग जीवन की इन वास्तविकताओं के विषय में इस प्रकार बातें करते हैं मानो वे केवल दार्शनिक धारणाएँ हों, तो इस प्रश्न के पूछने पर कि संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है एक भारतीय ऋषि का उत्तर सहज ही स्मरण हो आता है। उनका निश्चयात्मक उत्तर था कि सबसे आश्चर्य की बात यह है कि लोग सब जगह और निरन्तर अपने आस-पास दूसरों को मरते देखते हैं परन्तु वे इस बात की चिन्ता ही नहीं करते कि मृत्यु कभी भी स्वयं उनके स्थूल शरीर को भी अपना ग्रास बना सकती है। उन्होंने इस उत्तर में उस रहस्य के केवल एक पक्ष का उल्लेख ही नहीं किया अपितु वास्तव में सम्पूर्ण जीवन के रहस्य की ओर तथा उस भ्रान्ति का संकेत कर दिया जिसके कारण जीवन वास्तव में जैसा है हम उससे बिल्कुल भिन्न स्वरूप में ही उसे देखते हैं। मैं समझता हूँ; मैंने वैज्ञानिक ढंग से विचार करने की विधि के बारे में काफी उल्लेख कर दिया है। अब हम एक दूसरी विधि पर विचार कर सकते हैं। इसका सीधा संबंध हमारे अनुभवों से है। जीवन और संसार के स्वरूप पर विचार करने के लिए प्राचीन मनीषियों ने यही विधि अपनाई थी।

उन्होंने साधारण मानव-जीवन को तटस्थ होकर देखा और पाया कि जैसा यह ऊपर से दिखता है वास्तव में वैसा है नहीं। एक युवा व्यक्ति जवानी की उमंगों के साथ जीवन में प्रवेश करता है। उसे जीवन फूलों की एक सेज प्रतीत होता है। जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती है उसका यह उत्साह समाप्त हो जाता है और वह यह अनुभव करने लगता है कि जीवन सुखद और दुखद अनुभवों का मिश्रण है। सुखद अनुभवों की प्राप्ति के लिए वह अपने जीवन के अन्त तक कष्टप्रद अनुभवों को सहन करता रहता है। इस प्रकार प्रत्येक जन्म में सब प्रकार के कर्मों का निर्माण करता हुआ वह जन्म-मरण के चक्र से बँधा रहता है परन्तु मानव-जीवन की यह धारणा जीवन के सारहीन दृष्टि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोण पर आधारित है। सच्चा विवेक जाग्रत होने पर यदि जीवन को बुद्धि के प्रकाश में देखा जाय तो उसका बिल्कुल ही नया स्वरूप दिखाई देगा। इस स्पष्ट दर्शन पर आधारित निष्कर्ष पातञ्जलि योगसूत्र में बहुत ही सुन्दर ढंग से दिया है (द्वितीय भाग, सूत्र १५) "परिवर्तन, चिन्ता, और संस्कारों से उत्पन्न दुःखों के तथा तीनों गुणों और मन की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी जन के लिए सब दुःख-रूप ही है"।[1]

योगसूत्र के द्वितीय भाग में प्रतिपादित क्लेश सिद्धान्त का यह प्रमुख सूत्र है। इस सूत्र की यहाँ व्याख्या करना आवश्यक नहीं है। परन्तु मेरे विचार से हमें इस सूत्र का स्वयं अच्छी तरह अध्ययन करके अपना निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। हम इस कथन को केवल इसलिए स्वीकार न कर लें क्योंकि यह प्रामाणिक माने जाने वाले एक प्राचीन ग्रन्थ में लिखा है। हमें इन विचारों पर मनन करना चाहिए और निर्भयता के साथ इनके सच्चे महत्त्व को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

क्या पतञ्जलि ही एक ऐसे प्राचीन महर्षि हैं जिनका सामान्य मानव-जीवन के प्रति दृष्टिकोण दिखने में निराशावादी है? नहीं ऐसी बात नहीं है। जो भी महान् शिक्षक मनुष्यों को निम्न जीवन के भ्रामक बन्धनों और सीमाओं से मुक्त कराने और आत्म-तत्व की ओर उन्मुख कराने आया उसने इसी बात से प्रारम्भ किया। उदाहरण के लिए भगवान् बुद्ध के जीवन और उनकी शिक्षाओं को स्पष्ट करने वाले ग्रन्थ "लाइट आफ एशिया" के निम्न उद्धरण को ही ले लीजिए:—

"प्रथम सत्य है दुःख, मत रहना धोखे में
वरेण्य नहीं यह जीवन दुख की लम्बी गाथा
रह जाते उसके कष्ट मात्र, और सुख हैं
पक्षी समान आते और उड़ जाते
कष्ट जन्म के, कष्ट असहाय दिनों के
कष्ट युवा काल के और मानव जीवन के
कष्ट फिर ढलते जीवन के और मृत्युपाश के
भरा इन्हीं से तेरा करुण जीवन-काल !"

---

१. परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२:१५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान् बुद्ध की सारी शिक्षा इसी विचार से ओत-प्रोत है कि जिस जीवन से हम सभी परिचित है वह जैसा ऊपर से दिखता हैं वैसा है नहीं। यह भ्रामक है, नाशवान् है और दुःखों से भरा है। इसलिए हमें उनके अष्टांग मार्ग में बताई विधि से उसके परे जाने का प्रयत्न करना चाहिए।

अज्ञान की जिस अवस्था में हम रहते हैं उसका बहुत ही सुन्दर निरूपण 'नीरव नाद' (वायस ऑफ दी साईलेंस) में किया गया है जैसा कि नीचे के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा :—

"हे श्रान्त पथिक, तीन अवस्थाओं को पार करने पर तेरे परिश्रम की परिसमाप्ति होती है।"

"पहली अवस्था का नाम अज्ञान, अविद्या है।
इसी में तू जन्म लेता, जीता और मरता है।"

"यदि तू पहली अवस्था को निर्विघ्न पार करना चाहता है तो तेरा मन वहाँ जलती वासना की अग्नियों को जीवन का सूर्य-प्रकाश न समझ बैठे।"

"ज्ञानी लोग इन्द्रियों के सुखभोग में नहीं फँसते।"

"ज्ञानी लोग माया के मधुर संगीत की ओर ध्यान नहीं देते।"

"रात्रिदीप की उज्ज्वल दीपशिखा की ओर आकर्षित पतंगे का उसके चिपचिपे तेल में नष्ट होना सुनिश्चित है। जो प्रमत्त जीव माया के इस दैत्य पर विजय पाने में असफल रहते हैं, वे फिर माया के दास होकर पृथ्वी पर जन्म लेते हैं।"

"असंख्यों जीवों पर ध्यान से दृष्टि डालो। देखो, मानव जीवन-रूपी तूफानी समुद्र में वे कैसे चक्कर काट रहे हैं और कितने क्लान्त, रक्त-स्रवित और क्षत-विक्षत। एक के बाद एक वे उदात्त लहरों पर गिरते जाते हैं। प्रबल वायु के झँकोरों और तूफानों के थपेड़ों से वे भँवर में पड़ जाते हैं और पहले ही महान् चक्रवात में डूबकर लुप्त हो जाते हैं।"

भगवद्गीता हमारे जीवन के भ्रामक और नश्वर स्वरूप को स्पष्ट करने वाले श्लोकों से भरी पड़ी है। ज्ञान और भक्ति के द्वारा ही हम उससे मुक्त हो सकते हैं। निम्नलिखित श्लोक हमारी वासनाओं और अविवेक से उत्पन्न भ्रम का वर्णन करते हैं :—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"जिस प्रकार धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है वैसे ही काम या वासना के द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है।" (३-३८)

"और हे अर्जुन, ज्ञानियों का नित्य वैरी काम, जो अग्नि के समान कभी भी पूर्ण नहीं होता, इस ज्ञान को ढके रहता है।" (३-३९)

"इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वास-स्थान कहे जाते हैं। इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही यह काम ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।" (३-४०)

उपरोक्त कुछ उद्धरण प्रत्येक साधक के सामने आने वाली प्रारम्भिक समस्या पर कुछ प्रकाश डालते हैं। यह समस्या अपने सामान्य जीवन के सच्चे स्वरूप का बोध प्राप्त करने की है। इस बोध से ही वह प्रेरक शक्ति उत्पन्न होती है जो इन अवांछनीय परिस्थितियों में से निकलने में ही नहीं बल्कि गम्भीरता से सही साधन अपनाने में उसकी सहायता करती है। संसार के धर्म-ग्रन्थों से या प्राणिमात्र के महान् शिक्षकों की शिक्षाओं से ऐसे सैकड़ों उद्धरण दिए जा सकते हैं परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं है। केवल इन विचारों को जान लेना पर्याप्त नहीं है। ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी इनसे सामान्यतः भलीभाँति परिचित हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि हमारे सामान्य जीवन से संबंधित सही तथ्यों का हमें वास्तविक बोध हो जाए। यह बोध सामान्य ज्ञान या विश्वास से मूलतः भिन्न है। यह एक प्रकार की "जागरूकता" है, विचार नहीं। यह विचार या समझ का परिणाम नहीं है, बल्कि बुद्धि के प्रकाश अर्थात् विवेक द्वारा मन का प्रकाशित हो जाना है। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या यह जागरूकता ऊपर वर्णित जीवन के भ्रामक पक्ष पर गहराई से विचार करने से प्राप्त हो सकती है? अनिवार्यतः ऐसा ही हो, आवश्यक नहीं है। परन्तु गम्भीरता से, निरन्तर और गहराई से इस प्रकार विचार करने से उच्च मन के क्षेत्र में गतिशीलता आती है। हमारी अन्तःप्रज्ञाशक्ति उद्दीप्त होती है। इसके परिणाम-स्वरूप बुद्धि का प्रकाश धीरे-धीरे मन में प्रविष्ट होकर उसको आलोकित कर सकता है। सच्ची और तीव्र प्रार्थना भी इस प्रक्रिया में बहुत सहायक हो सकती है। गहराई से विचार करने के साथ-साथ प्रार्थना भी की जा सकती है। गम्भीरता से विचार और तीव्र भावना का सम्मिश्रण हमारी बुद्धि को प्रेरित करने का बड़ा प्रभावशाली साधन है, क्योंकि विचार और भावना बुद्धि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के दो पक्ष हैं। किसी मंत्र का उपयोग भी एक अन्य साधन है। उदाहरण के लिए हिन्दू गायत्री मंत्र का उपयोग कर सकते हैं जोकि बुद्धि की क्षमता को तीव्र करता है। परन्तु यह सच है कि वांछित फल की प्राप्ति के लिए, नियमपालन मात्र के लिए मंत्र का यन्त्रवत् जप नहीं बल्कि मन और भावनाओं की उपयुक्त स्थिति में जप करना आवश्यक है।

बुद्धि के प्रकाश से मन का प्रकाशित होना मन की अवस्था पर निर्भर करता हैं अर्थात् वह कितना पवित्र, शान्त और समरस है। मन की सामान्य अवस्था भी इस समस्या का एक आवश्यक अंग है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जीवन को अलग-अलग टुकड़ों में बाँटा नहीं जा सकता। आत्मानुसंधान की समस्या टुकड़ों में नहीं सुलझाई जा सकती परन्तु हम कुछ सरल सी बातों से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे अपने प्रयत्न-क्षेत्र को निश्चित ही बढ़ा सकते हैं।

चाहे जो साधन अपनाए जाएँ, अपने जीवन के असत् स्वरूप का सच्चा बोध प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस बोध से एक प्रकार की शून्यता या रिक्तता उत्पन्न हो सकती है। यदि समस्त रुचिकर सांसारिक कार्य हमसे छीन लिए जाएँ तो हो सकता है ऐसा लगे कि जीवन जीने योग्य ही नहीं है और हमें शून्य में निराधार छोड़ दिया गया है। परन्तु यह केवल एक अस्थायी अवस्था होती है और बुद्धि का प्रकाश स्पष्ट और तीव्र होते ही समाप्त हो जाती है। हमें जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। आत्मानुसंधान की इस प्रक्रिया के प्रारम्भ में ये कितनी ही अप्रिय या भयावह क्यों न लगें हमें अपने मन को इनसे भागने नहीं देना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बुद्धि के प्रकाश में हम अपने सामान्य जीवन के भ्रामक स्वरूप को तो देखते ही हैं, इस भ्रामक जीवन के पीछे छिपे अपने सच्चे जीवन का भी कुछ "आभास" हमें होने लगता है। अतः यह अप्रिय अवस्था धीरे-धीरे समाप्त होगी ही और उसके स्थान पर हमें अपने अन्दर एक विचित्र प्रकार की शक्ति, शान्ति और आनन्द की अनुभूति होगी, यद्यपि जिस परिवेश में हम रहते, चलते-फिरते और कार्य करते हैं उसके भ्रामक और नश्वर स्वरूप का हमें भान भी रहेगा।

अपने सामान्य जीवन के इस भ्रामक और असत् स्वरूप का स्पष्ट बोध एक निरर्थक प्रयत्न होता यदि इस जीवन से मुक्ति सम्भव न होती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस दशा में हमारे लिए सबसे अच्छा उपाय तो यह होता कि हम इन सब बातों को भूल जाते और शुतुर्मुर्ग की तरह अपना सिर सामान्य सुखों और सांसारिक कार्यों में छिपाये रहते। जो आत्मा के अन्तर जीवन में विश्वास नहीं करते वे यही करने का प्रयत्न करते हैं और उन्हें ऐसा करना ही पड़ता है तथा तार्किक दृष्टि से वे बिल्कुल सही भी हैं। जीवन के छोटे-छोटे प्रयत्नों और सुखों से हमें व्यर्थ ही वंचित रखना अनुचित ही होगा, यदि जीवन में इनसे और अधिक सुन्दर हमें कुछ प्राप्त होने को ही नहीं है। परन्तु सौभाग्य से जिस जीवन से हम परिचित हैं वही एक मात्र जीवन नहीं है। यह जीवात्मा का सच्चा जीवन नहीं है। कहीं अधिक महान् और अत्यन्त ही वास्तविक जीवन हमारी प्रतीक्षा में है। देर-सबेर उसे प्राप्त करना हमारी नियति है। वह हमारे अपने अन्तर में, हमारे जीवन के केन्द्र में, हमारे मन की परतों के पीछे, हमारे वर्तमान भ्रामक जीवन के नीचे छिपा है। जो आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उनके लिए इससे अधिक तर्कयुक्त क्या हो सकता है कि वे उन आवरणों को उतार फेंकने का यत्न करें जो इस अन्तर सत्य को छिपाए हुए है। इससे बड़ी मूर्खता और क्या होगी कि हम इस प्रकाश को तो ढका रहने दें और अन्धकार में रहें, अज्ञान और कष्ट में जीएँ जब ज्ञान और आनन्द का सागर वस्तुतः हमारे चारों ओर लहराता हो।

अगले अध्याय में हम अपने अन्दर छिपे आन्तरिक और सत् जगत् में मानसिक दृष्टि से झाँकने का प्रयत्न करेंगे। इस जगत् में प्रवेश करने का आमंत्रण हमें सभी महान् आध्यात्मिक गुरुओं ने दिया है। उस झलक से प्राप्त प्रेरणा हमें उस सत् जगत् में सच्ची लगन के साथ प्रवेश करने का प्रयत्न करने में और भी अधिक प्रोत्साहित कर सकती है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १८

आत्मानुसंधान-प्रतीक्षारत सत् जगत्

पिछले अध्याय में हमने अपने अन्दर सच्ची आध्यात्मिक उत्कंठा जाग्रत करने की समस्या पर विचार किया था। उसके बिना आत्मानुसंधान के मार्ग पर हम चल ही नहीं सकते। इस समस्या पर विचार करने की दो विधियाँ बताई गई थीं। अपने जीवन पर तथा जिस जगत् से हम परिचित हैं और जिसमें रहते हैं उस पर गहराई और गम्भीरता से विचार करने पर पहली विधि निर्भर करती है। यह विचार यह पता लगाने के लिए किया जाता है कि निरुद्देश्य भटकते रहने या प्रभावहीन और अनमने प्रयत्न—जो मन या शरीर की दिनचर्या मात्र रह जाएँ—करने के बजाय क्या यह आवश्यक है कि अपने अन्तर-जीवन में परिवर्तन लाने के लिए सुनिश्चित प्रयत्न किए जाएँ। दूसरी विधि उस अन्य जगत् के गम्भीर मानसिक विश्लेषण पर निर्भर रहती है जिसमें प्रवेश करने की हमें आकांक्षा और आशा है। इस सबका उद्देश्य इतना ही है कि, यदि सम्भव हो तो, हम जान सकें कि इस जगत् से ही सन्तुष्टि और सन्तोष पा लेने के कारण हम किस चीज से वंचित हो रहे हैं।

पहली विधि का अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर ही चुके हैं। सम्भवतः हमने थोड़ा-बहुत यह समझ ही लिया है कि हमारा यह जगत् जैसा ऊपर से दिखता है वास्तव में वैसा है नहीं। हमारे सन्तोष का कारण यह है कि हमें वास्तव में उसके सच्चे स्वरूप का बोध ही नहीं है। अब हम दूसरी विधि पर विचार करेंगे और जिस दूसरे जगत् में हम प्रवेश कर सकते हैं उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न करेंगे। हम एक स्वरूप देख चुके हैं। अब हम दूसरे स्वरूप को देखने का प्रयास करें। हम यहाँ वास्तविक बोध की बात नहीं कर रहे हैं। वह तो बहुत बाद में होता है। यहाँ हम सामान्य तौर पर यह समझ लेना चाहते हैं कि यहाँ इस जगत् के पूर्ण और सुखी जीवन की उच्चतम कल्पना से उस दूसरे जगत् का जीवन कहीं अधिक समृद्ध, वास्तविक और सजीव है। हम पिछले कुछ अध्यायों में अपने अन्दर छिपे आत्मिक और दिव्य लोकों के स्वरूप का वर्णन कर चुके हैं। ये ही उस सत् जगत् के अंग हैं जिनमें प्रवेश करने के लिए सभी महान् आध्यात्मिक गुरु हमें आमंत्रित करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आजकल भौतिकता की ओर व्यापक प्रवृत्ति होने पर भी हमारे अपने अन्दर ऐसे सत् जगत् के अस्तित्व के, और उसमें प्रवेश करने की सम्भावना के प्रमाण इतने प्रवल हैं कि यदि कोई भी निष्पक्ष होकर उन पर विचार करे तो उसके अस्तित्व का तो उसे विश्वास होगा ही, साथ ही उसे काफी प्रेरणा भी प्राप्त होगी। ऐसा विश्वास हो जाना तो सरल है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है, हमें इस प्रकार के विचार से उस सत् जगत् के स्वरूप का कुछ अनुमान हो सकेगा। यही तो समस्या है। जो इस जगत् में प्रवेश कर चुके हैं वे भी केवल इसी जगत् से परिचित लोगों को यह नहीं बता सकते कि वह सत् जगत् वास्तव में कैसा है। वे बस इतना ही कर सकते हैं कि इस बात की पुष्टि कर दें कि इस जगत् का अस्तित्व है और प्रत्येक व्यक्ति इसमें प्रवेश कर सकता है। वे इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते। जो लोग इस सत् जगत् से परिचित हैं उनकी यह असमर्थता स्वाभाविक है। उसका कारण यह है कि यह जगत् मन के क्षेत्र से परे है और इसमें प्रवेश करने के लिए मन से परे जाना ही होगा। यदि प्रयत्न किया भी जाए तो प्रत्येक विवरण अस्पष्ट, असत्य, प्रतीकात्मक अथवा नकारात्मक ही होगा। अविश्वासी लोग अपनी संशयात्मक स्थिति से चिपके रहने के लिए और निरुत्साही लोग इस जगत् की भ्रान्तियों एवं आकर्षणों से मुक्त होने के लिए कुछ भी न करने के लिए इस बात को एक बहाना बना सकते हैं। यही कारण है कि इस सत् जगत् का अस्तित्व और स्वरूप सदैव एक रहस्य ही बना रहेगा। इस जगत् में प्रवेश करने के लिए जो योग्य और तत्पर हैं केवल वे ही इन अस्पष्ट से वर्णनों में निर्वासन से अपने असली घर को लौटने के ईश्वरीय आह्वान को समझ सकेंगे।

उस सत् जगत् के स्वरूप के विषय में पर्याप्त जानकारी तो नहीं दी जा सकती। फिर भी आध्यात्मिक गुरुओं की शिक्षाओं से लिए गये कुछ निम्न उद्धरणों से यह असंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जायगा कि इस सत् जगत् का अस्तित्व है। आवश्यक क्षमता प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति का इसमें प्रवेश करना सम्भव है।

"फूल के खिलने का क्षण बड़े महत्त्व का होता है। उस क्षण ग्रहण-शक्ति जाग्रत होती है और उसके साथ प्राप्त होता है विश्वास, बोध और निश्चय"।

"हे शिष्य, यह जान लो कि जो इस नीरवता को पार कर चुके हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और जिन्होंने उसकी शान्ति का अनुभव किया है और उसकी शक्ति को धारण किया है वे चाहते हैं कि तुम भी उसे पार करो।"

मार्ग प्रकाशिनी (लाइट ऑन दी पाथ)

"मेरा विश्वास करो। सिद्ध पुरुष के जीवन में एक ऐसा क्षण आता है जब उसके द्वारा सहन की गई कठिनाइयों का हजार गुना पुरस्कार उसे मिल जाता है। और अधिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसे विभिन्न वस्तुओं की बारीकी और धीमी गति से अन्वेषण और तुलना करने की आवश्यकता नहीं रहती, उसे प्रत्येक सत्य का तत्क्षण और पूर्ण अन्तर-बोध होता है।····सिद्ध पुरुष सभी आधारभूत सत्यों के स्रोत में स्थित रहकर देखता, अनुभव करता और जीता है। वह स्रोत समस्त चराचर का व्यापक आधार शिव, सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता और पुनरुद्धारक है।"

(ए० पी० सिनेट को महात्माओं के पत्र)

"परम सत्य के बोध से उत्पन्न उच्चतम ज्ञान संसार-समुद्र से तारने वाला है। सभी विषयों का एक साथ भूत, भविष्य और वर्तमान का समग्र ज्ञान कराने वाला है। संसार-क्रम से परे का भी ज्ञान उससे हो जाता है। यह ज्ञान की अन्तिम अवस्था है।"

(योग-सूत्र ३–५५)

हम संसार के धर्म-ग्रंथों से या संतों, ज्ञानियों और ऋषियों की वाणी से हजारों उद्धरण ले सकते हैं। सभी यह तो संकेत करते ही हैं कि इस असत् जगत् के पीछे एक सत् जगत् छिपा है। वे इस बात की पुष्टि करते हैं कि वह सत् जगत् आनन्द और इन्द्रियातीत ज्ञान से परिपूर्ण है। साधक को चाहिए कि अन्तर-जीवन की इन सचाइयों के संबंध में इन संकेतों का अध्ययन करे, उन पर गहराई से मनन करे और यथा-सम्भव इस प्रकार अपनी बुद्धि को जाग्रत करे।

संतों और ऋषियों के इन प्रमाणों के अतिरिक्त यदि निष्पक्ष मन से अध्ययन किया जाए तो स्वयं विज्ञान हमारे अन्दर एक अन्य सत् जगत् के अस्तित्व का संकेत करता है। पिछले अध्याय में स्थूल जगत् और उसके स्वरूप पर विचार करते समय हमने देखा था कि अत्यन्त तीव्र गति से घूमने वाले अनन्त बिन्दु हमारे मन के सामने एक अद्भुत जगत् प्रस्तुत करते हैं जो हमें अपने चारों ओर रूप, रंग और अतुल सौन्दर्य के जगत् के रूप में दिखाई देता है। स्पष्टतः यह सोचना मूर्खता होगी कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनन्त गतिमान् बिन्दु अपने आप एक ऐसे जगत् की उत्पत्ति कर सकते हैं। वे केवल एक ऐसे जगत् का बोध प्राप्त करने के लिए प्रेरणा दे सकते हैं। इसीलिए इन गतिमान् बिन्दुओं से भिन्न, एक कहीं अधिक सत् जगत् का अस्तित्व पहले से ही हमारे अन्दर होना चाहिए। यही बात समय के द्वारा उत्पन्न भ्रान्ति के बारे में है। विश्व और हमारे अन्दर एक सत् जगत् होना ही चाहिए जो देश और काल की सीमाओं में व्यक्त होता है। इस विशाल दृश्य जगत् में बुद्धि और योजना दिखाई देती है। जड़ बिन्दुओं की गतिशीलता मात्र से ऐसा जगत् बिना आधार के अपने आप कैसे उत्पन्न हो सकता है? परन्तु यही तो वैज्ञानिक भौतिकवाद की विसंगति है। जीवन की मूल समस्याओं और दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति के कारणों पर गहराई से विचार किए बिना ही वह अपने ज्ञान और शक्ति के विचारहीन प्रयत्नों को तर्कसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक भौतिकवाद किसी भी सीमा तक जा सकता है, कुछ भी मान सकता है परन्तु एक सम्भावित परिकल्पना के रूप में भी इस पर विचार करने को तैयार नहीं है कि इस विश्व के मूल में एक परम-सत्ता का अस्तित्व भी छिपा है।

कोरी दार्शनिक परिकल्पना पर नहीं, बल्कि सिद्ध पुरुषों के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित गुह्य-सिद्धान्त ही सही स्थिति स्पष्ट करता है। वही पदार्थ या जड़ और मन दोनों जगतों के अस्तित्व में सामंजस्य स्थापित करता है। वह असंदिग्ध रूप से यह घोषित करता है कि दोनों जगत् एक सत् जगत् की अभिव्यक्तियाँ हैं तथा उसी में स्थित हैं। वही सत् जगत् अनेक में विभक्त हो जाने के कारण द्रष्टादृश्य-सम्बन्ध पर आधारित प्रपंच उत्पन्न करता है। वह उद्घोष करता है कि दृश्य जगत् के परे जाना और उस सत् जगत् को जानना सम्भव है। यह दृश्य जगत् उसी सत् जगत् की छाया मात्र है।

जब हम सिनेमा में परदे पर छाया देखते हैं तो हमें उस छायाचित्र में रस आता है। इसका कारण यह है कि हम जानते हैं कि इन छायाओं को उत्पन्न करने वाले वास्तविक पुरुष, स्त्री और बच्चे हैं। हम यह भी जानते हैं कि जो नाटक हम देख रहे हैं वह केवल कलाकारों का बनाया खेल मात्र नहीं है बल्कि मानव जीवन में पाई जाने वाली वास्तविकताओं का चित्रण है। परदे पर आने-जाने वाली केवल छायाओं के कारण नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बल्कि हमारे वास्तविक जीवन से सम्बन्धित बातों के कारण ही हम किसी चल-चित्र में इतना अधिक रस ले पाते हैं।

इससे हमें इस बात का संकेत मिलता है कि जिस असत् और नश्वर जगत् में हम रहते और घूमते-फिरते हैं उसमें हम इतनी रुचि क्यों लेते हैं। इस दृश्य जगत् में हमारी रुचि इस कारण है कि ये दृश्य हमारे अन्तर की अदृश्य वास्तविकताओं की छायाएँ हैं। इसी बात से इन छायाओं के वास्तविक होने का भान होता है। हम उन्हें तब तक सत्य ही मानते रहते हैं जब तक कि हम यह पता न लगा लें कि ये तो केवल छायाएँ थीं। भ्रान्ति का जगत् सत् जगत् की छाया है। जब हम आत्मानुसंधान के मार्ग पर बढ़ते हैं तो हमें बस यही प्रयत्न करना है कि हम छाया को छोड़कर उस सत्य को पकड़ लें जो हमारी चेतना में यह छाया उत्पन्न करता है। यदि हम अनजाने में किसी छाया के पीछे दौड़ें और अचानक जान लें कि वह तो केवल छाया है तो इसमें परेशान होने की क्या बात है ? विवेक जाग्रत होने पर शून्यता और रिक्तता की यह भावना कभी-कभी हम पर हावी हो जाती है। वह भी उस भ्रान्ति का ही एक अंग है और कुछ समय बाद समाप्त हो जायगी। अपने परितोष में विघ्न उत्पन्न होने पर तो हमें प्रसन्न होना चाहिए। हमें तो उस अवसर के लिए अनुगृहीत होना चाहिए जिसके कारण हम छाया से अपनी आँखें हटा कर उस छाया को उत्पन्न करने वाली सत्ता की ओर देखते हैं। जब कोई बालक पृथ्वी पर हवाई जहाज़ की छाया देखता है तो वह तुरन्त आकाश में उस सच्चे हवाई जहाज को देखने के लिए अपनी आँखें ऊपर उठाता है जिसकी छाया पृथ्वी पर पड़ रही थी। अतः यदि हमें अपने आस-पास का जीवन एक अवास्तविक घटना-क्रम के रूप में दिखाई दे तो हमें अपने अन्दर उस सत्य को देखने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे यह सब कुछ उत्पन्न हो रहा है। हमारी चेतना के केन्द्र से ही ये सब छायाएँ बाहर व्यक्त हो रही हैं।

धर्म-ग्रंथों में या सन्तों और गुह्य-विदों की वाणी में निरूपित इस सत्य के स्वरूप पर गहराई से मनन करने पर सम्भवतः हमें अपने अन्तर में जाने की प्रेरणा मिले और अपने मन की गहराइयों में हम वह खोज प्रारम्भ कर दें। परन्तु सामान्यतः उससे पर्याप्त प्रेरणा नहीं मिलती क्योंकि यह कार्य अधिकांशतः मनो-लोक पर ही होता है। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि अपने अन्दर स्थित दिव्य जीवन के प्रति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हममें इतना प्रबल आकर्षण उत्पन्न हो जो हमें उसकी ओर खीचें और आवश्यक क्रिया-शक्ति प्रदान करें। उसी की तो हममें प्रायः कमी रहती है। वह आकर्षण या खींचने वाली शक्ति और कुछ नहीं, ईश्वर के प्रति प्रेम या भक्ति है। अतः यदि हम अपने अन्दर एक प्रवल आध्यात्मिक उत्कंठा जाग्रत करना चाहते हैं तो इसका वास्तव में अर्थ यह है कि जिसे हम पाना चाहते हैं उसके प्रति हमारे अन्दर पहले प्रेम उत्पन्न हो। यह प्रेम और गहन विचार मिलकर हमारे अन्दर बुद्धि को प्रेरित करेंगे। बुद्धि जाग्रत होकर जब मन में प्रवेश करेगी तो हमारी सारी समस्याएँ ही हल नहीं हो जाएँगी, हमारा आन्तर-जीवन भी निरन्तर विकसित होने लगेगा।

यह बताने की तो सम्भवतः आवश्यकता ही नहीं है कि ईश्वर के एक अंश का अन्य अंशों के प्रति या जिस पूर्ण-तत्व से उन सब अंशों की उत्पत्ति हुई है उसके प्रति आकर्षण ही प्रेम है। इस आकर्षण का अनुभव तब होता है जब ये अंश मन और पदार्थ के अलग-अलग कोषों के आवरण में आबद्ध हो जाते हैं। अभिव्यक्ति में जो शक्ति इन अंशों का पृथक् अस्तित्व बनाये रखती है यह उसकी बिल्कुल विपरीत शक्ति है। अतः प्रेम का स्वरूप ही यह है कि वह हमें अभिव्यक्ति से बाहर निकालने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार हम अपनी समग्रावस्था प्राप्त कर लेते हैं। उस अवस्था में उस परिपूर्ण सत्ता से तथा उस सत्ता के अन्य अंशों से हमें अपनी एकता का भान होता है। अंशों के इस प्रकार निकट आने के साथ-साथ सदैव एक सुख, प्रसन्नता या परमसुख की अनुभूति होती है। ये विभिन्न शब्द विभिन्न स्तरों पर एक ही स्थिति का संकेत करते हैं। एकता की अनुभूति जितनी गहरी होगी अनुभव भी उतना उत्कृष्ट होगा।

एक प्रश्न पूछा जा सकता है। समग्र चेतना का पूर्ण बोध प्राप्त कर लेने पर और अंश का उस पूर्ण से ऐक्य हो जाने पर प्रेम और उससे उत्पन्न आनन्द का क्या होता है? स्पष्टतः दो भिन्न व्यक्तियों के बीच ही प्रेम सम्भव है। ऐक्य हो जाने पर उनके बीच सम्बन्ध को प्रेम नहीं कहा जा सकता। तब प्रेम किसमें परिवर्तित हो जाता है? एक ओर तो वह एकता के शुद्ध-बोध में परिवर्तित हो जाता है और दूसरी ओर उस अवस्था में जो निम्न लोकों में परमसुख, प्रसन्नता या सुख के रूप में व्यक्त होती है। हम इसे आनन्द की स्थिति कहते हैं। जिस लोक पर विलगता नहीं, एकत्व होता है वहाँ आनन्द ही परमसुख, प्रसन्नता और सुख का स्रोत और प्रतिरूप होता है। आनन्द दिव्य चेतना की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्चतम अवस्था का ही एक स्वरूप है। परमसुख, प्रसन्नता या सुख उसके विकृत रूप कहे जा सकते हैं।

प्रेम के इस प्रश्न को यहाँ इसलिए लिया गया ताकि आध्यात्मिक जीवन में प्रेम के स्थान के संबंध में जो शंकाएँ कभी-कभी कुछ लोगों के मन में होती हैं वे दूर हो जाएँ। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि प्रेम के नितान्त अभाव में भी आत्मज्ञान के मार्ग पर चल पाना सम्भव है। वे उन संतों के उदाहरण दे सकते हैं जिनके जीवन में भावनात्मक प्रेम व्यक्त ही नहीं हुआ परन्तु फिर भी उनमें अत्यधिक सौम्यता और शान्ति थी। क्या इसका यह अर्थ है कि उसके विकास में प्रेम का कोई स्थान ही नहीं था? ऐसा कदापि नहीं है। सम्भवतः भावनात्मक प्रेम उनके जीवन में न हो परन्तु प्रेम भावनात्मक ही हो, यह आवश्यक नहीं है। इसका स्वरूप अभिव्यक्ति के माध्यम पर निर्भर करता है। यदि यह वासना-कोष के माध्यम से व्यक्त होता है तो यह उस प्रबल भावना का रूप ले लेता है जिसे हम प्रायः प्रेम कहते हैं। यदि यह केवल मन के माध्यम से व्यक्त होता है तो इसमें भावनात्मक अनुभूति का अभाव हो सकता है। परन्तु तब यह सत्य की खोज के लिए प्रबल जिज्ञासा का स्वरूप ले सकता है और तीव्र विवेक के बल पर उसी स्थिति को प्राप्त कर सकता है। यह मार्ग ज्ञानयोग का है। इसके अतिरिक्त यदि इसकी अभिव्यक्ति मानव-स्वभाव के तीसरे पक्ष—संकल्प-शक्ति—के माध्यम से हो तो अपनी संकल्प-शक्ति मात्र के बल पर वह अपने तथा अपनी खोज के लक्ष्य के बीच उत्पन्न सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेगा। वह विभिन्न स्तरों पर मन के परे जाकर ऐक्य स्थापित कर लेगा। विवेकशील साधक इन तीनों अवस्थाओं में वही आकर्षण और ऐक्य स्थापित करने के सिद्धान्त को क्रियाशील पाएगा परन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम के अनुसार उसका स्वरूप भिन्न हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी व्यक्ति में यह अभि-व्यक्ति सदैव एक विशिष्ट माध्यम से ही हो। उस व्यक्ति की विकास की अवस्था के अनुरूप अभिव्यक्ति के माध्यम में कभी-कभी उसी जीवन में परन्तु सामान्यतः विभिन्न जीवनों में—परिवर्तन आ सकता है और आता है।

इसी प्रकार का परिवर्तन तब भी हो सकता है जब, माध्यम में नहीं, स्तर में परिवर्तन हो जाए। गहन स्तर अर्थात् बुद्धि लोक पर पहुँच कर तो भावनात्मक प्रेम का भी स्वरूप बदल जाता है। तब वह प्रेम अधिक गम्भीर, सूक्ष्म और कम उत्तेजनापूर्ण तथा कम प्रदर्शनात्मक होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसलिए जिन भक्तों या सन्तों में भक्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भावनाओं का प्रबल उद्वेग दिखाई देता है वे प्रेम के परिपक्व हो जाने पर शान्त और संयत हो जाते हैं। उनके प्रेम की तीव्रता घटती नहीं, अत्यधिक बढ़ जाती है परन्तु अब उसका प्रवाह गहराई में होता है और इसीलिए वह अधिक नियंत्रित और कम प्रदर्शनात्मक होता है। यही बात तब होती है जब प्रेम समग्र चेतना के और भी उच्च स्तर पर पहुँचता है। उसका तब जो स्वरूप होता हैं उसे हम कदाचित् ही समझ सकें। उसका संकेत हम आनन्द, शक्ति, आदि जैसे शब्दों से करते हैं। स चेतना या सत् की इस अवस्था में हमारे स्वरूप के सभी पक्ष मिलकर एक हो जाते हैं। इसीलिए निम्न स्तरों पर प्रेम के इतने विभिन्न स्वरूप उस अवस्था में मिलकर एक हो जाते हैं। व्यक्तिगत विशिष्टता के कारण सम्भवतः थोड़ा-सा प्रभाव शेष भले ही रह जाए।

अतः हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि प्रेम केवल भावनात्मक अनुभूति के रूप में ही व्यक्त हो सकता है यद्यपि विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में सामान्यतः उसका यही स्वरूप होता है। परन्तु प्रेम कोई भी स्वरूप ले ले, साधक और साध्य को अनिवार्यतः निकट ला देना इसका प्रमुख लक्षण है। इस प्रकार यह आवश्यक क्रिया-शक्ति या प्रेरणा प्रदान करता है। इसे ही मुमुक्षत्व कहा जाता है। इस प्रकार आत्मानुसंधान की प्रक्रिया में हमने प्रेम की आवश्यकता और उसके स्थान को समझने का प्रयास किया। इसके स्वरूप और इसको विकसित करने के साधनों का विचार हम अध्याय २० और २१ में करेंगे।

अब हम एक अन्य कठिनाई पर विचार करेंगे। आन्तरिक विकास के मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक विश्वास और प्रेरणा प्राप्त कर लेने पर यह कठिनाई अधिकांश साधकों को होती है। यह कठिनाई अपने स्वभाव और विकास की अवस्था के अनुरूप सर्वाधिक उपयुक्त मार्ग चुनने की है। वास्तव में यह कठिनाई इस विश्वास के कारण होती है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही मार्ग है और प्रारम्भ से अन्त तक उसे उसी पर चलना होगा। उसे ज्ञान, भक्ति या कर्म में से किसी एक पर या उसके गुरु द्वारा बताये मार्ग पर चलना चाहिए। यह समझ पाना कठिन है कि यह गलत धारणा कैसे प्रचलित हुई जबकि बहुत ही स्पष्ट कथन इसके विपरीत बात बताते हैं। उदाहरण के लिए "मार्ग प्रकाशिनी" (लाइट ऑन दी पाथ) के ये दो कथन ले लीजिए—

"प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतः स्वयं अपना मार्ग, सत्य और जीवन है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"उसे किसी एक मार्ग में मत ढूँढ़ो। प्रत्येक स्वभाव के लिए एक मार्ग रहता है जो सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। परन्तु वह मार्ग केवल भक्ति से प्राप्त नहीं होता, न केवल धार्मिक चिंतन से, न उत्साह-पूर्ण प्रगति से, न त्याग-पूर्ण परिश्रम से, न ध्यानपूर्वक जीवन के निरीक्षण से, कोई भी एक साधन शिष्य को एक पग से अधिक आगे नहीं ले जा सकता। सीढ़ी को पूर्ण करने के लिए सभी चरण आवश्यक होते हैं।"

इससे और अधिक असंदिग्ध कथन, और वह भी एक सिद्ध पुरुष का, हमें प्राप्त नहीं हो सकता था।

इस प्रश्न पर ऐसे स्पष्ट संकेतों के अतिरिक्त मनुष्य के स्वभाव, उसकी उत्पत्ति, विकास की विधि और उसकी अन्तिम नियति के कारण किसी एक विशिष्ट मार्ग पर चलकर बहुमुखी पूर्णता प्राप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है मनुष्य के उच्च और निम्न स्वभाव के कई पक्ष हैं। विकास के किसी एक विशिष्ट साधन को अपनाकर बहुमुखी पूर्णता कैसे प्राप्त हो सकती है? प्रेम या ज्ञान या आत्मबल या अत्यधिक कार्यक्षमता के बिना क्या एक पूर्ण-पुरुष की कल्पना की जा सकती है? और क्या विभिन्न प्रकार से विभिन्न परिस्थितियों में और विभिन्न समय में विभिन्न प्रकार के साधन और विधियाँ अपनाए बिना उसके स्वभाव के विभिन्न पक्ष पूर्णतः विकसित हो सकते हैं? यदि नहीं, तो यह स्पष्ट है कि अपने विकास-क्रम में उसे समय-समय पर विभिन्न साधन अपनाने होंगे। यह स्वाभाविक है कि कभी वह एक साधन पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दे, क्योंकि कुछ समय तक उस साधन पर सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करने पर कोई विशिष्ट गुण विकसित हो सकता है। दूसरे, प्राप्त वातावरण और परिस्थितियाँ सामान्यतः उसके स्वभाव के एक विशिष्ट पक्ष के विकास के लिए ही उपयुक्त होती हैं। एक जीवन में अथवा उसके एक भाग में अपने स्वभाव के एक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करने की इस आवश्यकता के कारण ही ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे स्वभावतः हमारे लिए कोई एक विशिष्ट मार्ग ही सर्वथा उपयुक्त है। परन्तु हमारा वातावरण बदल सकता है या हमारी आन्तरिक आवश्यकताएँ बदल सकती हैं। तब कोई दूसरा मार्ग या विकास की अन्य दिशा वाञ्छनीय ही नहीं, अनिवार्य हो सकती है।

इसलिए किसी एक विशेष मार्ग पर चल कर अपने स्वभाव के एक विशिष्ट पथ पर ध्यान केन्द्रित करने को हमारे विकास की एक अवस्था समझना चाहिए, न कि अपनी एक व्यक्तिगत विशिष्टता। अतः हमें अपने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आन्तरिक विकास की आवश्यकताओं के अनुसार किसी दूसरे मार्ग पर चलने के लिए तैयार रहना चाहिए। जब हम किसी एक विशिष्ट पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे हों तो भी हमें दूसरे पक्षों की जान-बूझकर उपेक्षा करने की भूल नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सभी पक्षों का पूर्ण विकास होना आवश्यक है। जीवन को अलग-अलग खण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता। किसी एक पक्ष का अत्यधिक विकास बिना अन्य पक्षों के साथ-साथ विकास के सम्भव नहीं है। ऐसा प्रयत्न करने पर तो हम असंतुलित और एकांगी हो जाएँगे। हमारी कार्यक्षमता बहुत कम हो जाएगी। बहुमुखी पूर्णत्व और सन्तुलित विकास ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए भले ही कुछ समय तक किसी एक पक्ष के विकास पर हमें असाधारण ध्यान देना पड़े।

मानवीय चेतना का विकास और मानव का दिव्य परिपूर्णता तक पहुँचना इतनी गूढ़ व्यक्तिगत प्रक्रिया है कि उसके लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करना अनुचित-सा लगता है। प्रत्येक जीवात्मा अपने अन्तर में बाहर की ओर जीवन के नियम के अनुसार व्यक्त होता है। कोई भी यह नहीं बता सकता कि उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होगी और अगली अवस्था में वह किस परिस्थिति में होकर गुजरेगा। कोई विधि निश्चित कर देना या किसी एक निश्चित ढंग से उसे व्यक्त होने के लिए बाध्य करना ऐसा ही है जैसे गुलाब की एक कली को खिलते और पुष्प बनते देखते हैं तो क्या उसका कोई मार्ग निश्चित होता है? क्या हम कह सकते हैं कि गुलाब का फूल खिलने के लिए एक निश्चित मार्ग पर चल रहा है? एक प्रकार से तो ऐसा ही होता है क्योंकि अन्दर और बाहर से कार्य करने वाली शक्तियों के प्रभाव से वह एक के बाद एक समान परिवर्तन-क्रमों में होकर गुजरता है। परन्तु फिर भी यह ऐसा निश्चित मार्ग नहीं जिस तक उसकी क्रिया सीमित हो जाए। यह तो अन्तर से प्रारम्भ होकर बाहर की ओर होने वाले परिवर्तनों की एक श्रृंखला है। गुलाब के फूल के इन परिवर्तनों का स्वरूप और क्रम बहुत कुछ निश्चित-सा रहता है क्योंकि उसे एक मूलाकृति के अनुरूप खिलना होता है। परन्तु मनुष्य की बात भिन्न है। वह किसी मूलाकृति के अनुसार विकसित नहीं होता। इसीलिए सभी मनुष्य एक ही प्रकार से विकसित नहीं होते और परिवर्तनों के पूर्व निश्चित क्रमों का अनुसरण नहीं करते। यदि ऐसा होता तो वास्तव में मनुष्य को इच्छानुसार स्वयं को मुक्त करने की स्वतन्त्रता ही न होती। प्रत्येक व्यक्ति को सातवें कल्प तक रुकना ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पड़ता जैसा कि हममें से बहुतों ने निश्चय कर रखा है। प्रत्येक जीवात्मा एक विशिष्ट इकाई है और आत्मा में नित्य विद्यमान अपने विशिष्ट पूर्णत्व को ही उसे व्यक्त करना है। इस दृश्य-जगत् में पूर्णत्व कैसे व्यक्त होगा यह पहले से निश्चित नहीं है। इस प्रश्न पर यहाँ और विचार करना आवश्यक नहीं है क्योंकि योग विज्ञान (साइंस ऑफ योग) में चौथे भाग के १२वें श्लोक की टीका में इस पर विस्तार से व्याख्या की गई है।

अतः यह कहा जा सकता है कि वास्तव में हमें सदा के लिए कोई एक मार्ग नहीं चुनना है। हमें तो अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं के अनुसार किसी एक विशिष्ट मार्ग पर कुछ समय तक ही चलना है। यह जानना कि हमारी आवश्यकता क्या है और हमें किस मार्ग पर चलना है, एक ऐसा प्रश्न है जो हमारे सामने तीसरी कठिनाई उपस्थित करता है। साधक मार्ग पर चलने के लिए समुचित निर्देशन प्राप्त करने की कठिनाई का अनुभव भी करते हैं। इस प्रश्न की चर्चा २६ में अध्याय में की गई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : १९

ज्ञान, प्रज्ञान और अनुभूति की अवस्थाएँ

आत्मा की सम्पूर्ण संरचना का अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि आत्मिक लोकों में वह अविनाशी जीवात्मा के रूप में और निम्नतम तीन लोकों में नश्वर देहात्मा के रूप में व्यक्त होता है। अनुभव प्राप्त करने तथा जीवात्मा की मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करने के लिए देहात्मा एक अस्थायी अभिव्यक्ति है। प्रत्येक जन्म में अपने जीवन का सार जीवात्मा को सौंप कर यह देहात्मा पूर्णतः समाप्त हो जाता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि देहात्मा विकसित होता है यद्यपि विकास-प्रक्रिया में यह भी अधिक समृद्ध, जटिल और सक्षम होता जाता है। इसको जीवात्मा का केवल एक अस्थायी यंत्र माना जा सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। प्रत्येक जन्म के बाद जीवात्मा का अस्तित्व बना रहता है। वही अपनी मानसिक और आध्यात्मिक क्षमताओं में वृद्धि करके धीरे-धीरे विकसित होता है और आत्मा के स्थायी यंत्र के रूप में कार्य करता है।

हम जानते हैं कि जीवात्मा तीन तत्वों के माध्यम से व्यक्त होता है। इन्हें हम आत्मा, बुद्धि और मनस् कहते हैं। इनकी विशेष अभिव्यक्ति क्रमशः आत्मिक, बुद्धिक और उच्च मनोलोकों में होती है। अपने सम्बन्धित कोषों के माध्यम से इन तीनों तत्वों का विकास ही वास्तव में मानवीय विकास है और यह विकास ही वास्तव में साधक का लक्ष्य भी है। देहात्मा के तीन कोषों का विकास तो उच्च विकास में केवल सहायता करता है। आत्मानुसंधान के इस कार्य में तो हम मुख्यतः उच्च कोषों और तत्वों से ही संबंधित हैं परन्तु फिर भी हम निचले तीन कोषों की उपेक्षा नहीं कर सकते।

इन तीन उच्च तत्वों और कोषों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात हमें समझ लेनी चाहिए। इन तीन तत्वों और सम्बन्धित कोषों का विकास सामान्यतः नीचे से ऊपर की ओर होता है अर्थात् उच्च मन, बुद्धि और आत्मा के क्रम से। विकास के इस क्रम में व्यक्ति की मूल प्रकृति या स्वभाव भी एक कारण होता है। परन्तु हम सामान्यतः यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कह सकते हैं कि पहले उच्च मन, फिर बुद्धि और अन्त में आत्मा विकसित होता है। हमें इन तत्वों को विकसित करने का प्रयत्न यथासंभव ऊपर बताये क्रम से ही करना चाहिए।

उस परम-तत्व के स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित सैद्धान्तिक धारणाओं के अध्ययन से हम अपने प्रयत्न प्रारम्भ करें। हम अपने अन्तर में स्थित उस परम-तत्व को खोज निकालने के साधनों का भी अध्ययन करें। जीवन के छिपे सत्यों से सम्बन्धित दार्शनिक धारणाओं को समझने के प्रयत्न से हमारा उच्च मन क्रियाशील एवं विकसित होगा।

इसके पश्चात् इन धारणाओं पर आधारित आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों को हमें कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार हम अपने मानसिक ज्ञान को प्रज्ञान में परिवर्तित कर सकेंगे। साथ-साथ हमें भक्ति या प्रेम को विकसित करने का भी प्रयत्न करना चाहिए। हमें उसे अपने चरित्र का एक अभिन्न अंग बना लेना चाहिए, क्योंकि बुद्धि की क्षमता विकसित करने का तथा प्रज्ञान की प्राप्ति का यह सबसे शक्तिशाली साधन है। आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों के विषय में प्राप्त ज्ञान तथा उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में उतारने के प्रयत्न से हमारी बुद्धिक क्षमता विकसित होगी और ज्ञान में प्रज्ञान भी मिल जाएगा। आत्मानुसंधान की समस्या को विधिवत् प्रभावशाली ढंग से हल करने का यह दूसरा और आवश्यक चरण है।

तीसरे चरण में उस परम-तत्व पर पड़े भ्रम के आवरण एक-एक करके हटने लगते हैं। उच्च जीवन के सत्यों का प्रत्यक्ष बोध होने लगता है और उसकी परिणति है आत्मानुभूति। इस अवस्था की प्राप्ति से पूर्व भक्ति और आत्म-साधना द्वारा बुद्धि का पर्याप्त विकास कर लेना आवश्यक है। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि प्रारम्भ में ही हमें वह प्रकाश उपलब्ध हो जाना चाहिए, जो पथ पर सही-सही और निर्विघ्नता से और अन्त तक हमारा निर्देशन कर सके। यह प्रकाश केवल हमारी बुद्धि से ही प्राप्त हो सकता है। दूसरा कारण यह है कि हम स्वावलम्वी हो जाएँ और सुख के लिए वाह्य साधनों पर निर्भर न रहें। ईश्वर के प्रति प्रेम या भक्ति से ही हममें यह स्वावलम्वन आ सकता है। एकाकी होकर उस एक परम-तत्व की ओर बढ़ने के लिए देहात्मा को आवरणरहित करना पड़ता है। फलस्वरूप अन्तर में एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रिक्तता आ जाती है। उसे सहन कर पाना सरल नहीं होता। यदि हमारे अपने अन्दर ही आन्तरिक आनन्द का एक निर्झर बह रहा हो तब ही हम उसे सहन कर सकेंगे। इसीलिए बहुत से साधक लौटकर फिर से सांसारिक जीवन में लिप्त हो जाते हैं क्योंकि आन्तरिक अवस्थाओं में उन्हें दृढ़तापूर्वक स्थिर बनाये रखने के लिए आन्तरिक शक्ति का कोई साधन उनके पास नहीं होता। तीसरा कारण यह है कि प्रज्ञान से ही मनुष्य में वे सब गुण विकसित होते हैं जो पथ पर निर्विघ्नता और स्थिरता से चलने के लिए आवश्यक हैं, अर्थात् सही विचार, दृढ़ निर्णय और दृष्टिकोण की परिपक्वता और निम्न प्रवृत्तियों से मुक्ति। ये प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य को नीचे की ओर घसीटती हैं और कभी-कभी अनुभव, ज्ञान और शक्ति के इस नए क्षेत्र में प्रवेश करने पर उसका जीवन ही बरबाद कर देती हैं।

इसीलिए तो प्रज्ञान अनिवार्य है। दूसरे चरण में इसे यथा-सम्भव अच्छी तरह विकसित कर ही लेना चाहिए। यहाँ यह कहा जा सकता है कि पर्याप्त मात्रा में सच्चा प्रज्ञान तो आवश्यक है ही। साथ ही इसकी प्राप्ति का अर्थ है आत्मानुसंधान की समस्या हल करने में काफी उन्नत अवस्था की प्राप्ति। इसका कारण यह है कि एक तो इसे प्राप्त करने में काफी कड़े और लम्बे समय तक प्रयत्न की आवश्यकता होती है। संभवतः अधिकांश साधक एक जीवन में इतना ही प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं। दूसरे, प्रज्ञान के फल भी कोई सामान्य नहीं होते। दुर्भाग्यवश, प्रज्ञान के बारे में हमारे विचार सही नहीं हैं और प्रचलित धारणाओं से प्रभावित हैं। प्रायः हम सोचते हैं कि यह निर्णय की परिपक्वता और लम्बे और विविध अनुभव से प्राप्त एक क्षमता मात्र है जो जीवन को सुव्यवस्थित बनाती है। परन्तु गुह्य-विद्या में जिसे प्रज्ञान कहते हैं वह बिल्कुल ही भिन्न क्षमता है। यह एक मनःस्थिति है। बुद्धि कही जाने वाली आत्मिक क्षमता से मन के पूर्णतः प्रकाशित होने पर ही यह स्थिति प्राप्त होती है। कोई भी समझ नहीं सकता उस शक्ति को जो समझ के परे है, उस अन्तर्दृष्टि को जो जीवन की भ्रान्तियों का भेदन कर सके, उस निश्चयात्मक ज्ञान को जो अन्तर से मन में प्रवाहित होने लगता है, समस्त जीवन के प्रति उस सदय सहानुभूति को, अन्य मनुष्यों से हमारी एकता की उस अद्भुत भावना को, आनन्द के उस निर्झर को जो हमारे अन्दर अकारण प्रवाहित होता रहता है, सुरक्षा की उस भावना को जो हम तब अनुभव करते हैं जब हमें यह भान होता है कि हम उस ईश्वर में ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीते, चलते, फिरते हैं और उसी में हमारा आस्तित्व है, वह विश्वास जो हल्का-सा भी यह बोध होने पर प्राप्त होता है कि वही ईश्वर प्रेम और शक्ति के साथ सम्पूर्ण व्यवस्था कर रहा है, दूसरों के साथ वह आन्तरिक समरसता जो बाह्य विरोध होने पर भी हमें अनुभव होती है। कोई भी इन बातों को तब तक नहीं समझ सकता जब तक कि बुद्धि के प्रकाश के द्वारा मन के आलोकित होने का उसे अनुभव न हो गया हो और प्रज्ञान को विकसित करने के लिए हमें जो प्रयत्न और त्याग करने पड़ते हैं, उनके बदले में ये लाभ सामान्य नहीं हैं। वास्तव में तो इनसे इतनी सन्तुष्टि प्राप्त होती है कि बहुत से साधक इसी अवस्था में रहने में काफी सन्तुष्ट हो जाएँगे और आगे बढ़ने का प्रयत्न ही नहीं करेंगे। वे प्रबुद्ध आध्यात्मिक जीवन के अपने आदर्श के काफी निकट पहुँच जाते हैं। परन्तु यह लक्ष्य नहीं है। यह तो हमारी यात्रा का केवल एक चरण है। यही वह आधार है जिस पर प्रबुद्ध आध्यात्मिक जीवन के भवन का निर्माण करना है। मानवीय विकास का लक्ष्य तो आत्मज्ञानी और जीवन्मुक्त होना है।

अब हमें अगले और अन्तिम चरण पर विचार करना है। इसमें प्रज्ञान आत्मानुभूति में परिणत हो जाता है। तब हमें उस परम-सत्य का बुद्धि के द्वारा 'आभास' मात्र ही नहीं होता, हम उस सत्य को अपनी आत्मा के माध्यम से प्रत्यक्ष जानते हैं। हमारी चेतना उस परम-तत्व से मिलकर तद्रूप हो जाती है। इस अनुभूति को "तद्रूप होकर जानना" कहा जा सकता है। यही सच्चे योग का क्षेत्र है। भक्ति का अध्ययन करते समय हम योग के एक पक्ष का अध्ययन करेंगे। हम देखेंगे कि भक्ति की उच्चतम अवस्थाओं में भक्त की चेतना उसके इष्ट देवता या आराध्य देव की चेतना से अधिकाधिक एक होती जाती है। इसीलिए भक्ति-मार्ग को भक्ति-योग कहा जाता है। फिर हम राज-योग का अध्ययन करेंगे। इसका वर्णन पातञ्जलि-योग-सूत्र में किया गया है। यह योग संकल्प-शक्ति पर आधारित है। इसमें आत्मिक संकल्प-शक्ति का प्रयोग करके मन पवित्र किया जाता है। फिर समाधि में मन की वृत्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है। इस प्रकार योगी की चेतना मन के विभिन्न स्तरों के परे जाने लगती है और अन्ततः आत्मिक लोक की सीमा को भी पार कर लेती है। चेतना तब मन के क्षेत्र से निकल कर नित्य सत्य आत्मा या पुरुष की चेतना से मिलकर एक हो जाती है। यही इस प्रक्रिया को नीचे अर्थात् देहात्मा की दृष्टि से देखना है। यदि हम ऊपर से, अर्थात् आत्मा की दृष्टि से, इस बात को देखें तो हम यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कह सकते हैं कि आत्मा अपने आपको एक-एक करके मन के निम्न स्तरों से अलग करता जाता है जब तक कि उसकी चेतना आत्मिक कोष से भी मुक्त नहीं हो जाती। तब वह पूर्णतः मुक्त होकर, आत्म-बोध प्राप्त करके अपने दिव्य स्वरूप में स्थित हो जाता है, परन्तु निम्न लोकों के सभी कोष उसके नियन्त्रण में होते हैं। यही है जीवनमुक्ति, निर्वाण अथवा कोई अन्य नाम जो चेतना की इस उच्च अवस्था को दिया जाए। मानवीय विकास पूर्ण होने पर योगी इसी अवस्था को प्राप्त करता है।

इस तीसरे चरण में आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए राज-योग साधन अपनाया जाता है। इसमें अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आत्मा की संकल्प शक्ति का प्रयोग किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे दूसरे चरण में प्रज्ञान की प्राप्ति का साधन प्रेम है। जीवात्मा में क्रियाशील यह सर्वोच्च तत्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के ये तीनों तत्व एक-एक करके तीन चरणों में विकसित होते हैं—ज्ञान पहले चरण में, प्रेम दूसरे चरण में और आत्मिक संकल्प-शक्ति तीसरे चरण में। ज्ञान में प्रेम के सम्मिश्रण से प्रज्ञान विकसित होता है। आत्मिक संकल्प-शक्ति जब प्रज्ञान द्वारा निर्देशित होती है तो आत्मानुभूति प्राप्त होती है। तीनों तत्वों, कार्यों और विकास विधियों के सम्बन्ध निम्न प्रकार से स्पष्ट किए जा सकते हैं।

तत्व	मन.	बुद्धि	आत्मा
कोष विकास का फल विकास-विधि	कारण शरीर ज्ञान अध्ययन, मनन और ध्यान	बुद्धि कोष प्रज्ञान चरित्र निर्माण, प्रेम	आत्मिक कोष आत्मानुभूति राजयोग

अपने आध्यामिक विकास में भक्तियोग और राजयोग का स्थान समझ लेने के बाद अब हम योग के इन महत्त्वपूर्ण साधनों का संक्षेप में और मोटे तौर पर विचार कर सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : २०

भक्ति का स्वरूप

नारद भक्ति-सूत्र ८४ सूत्रों की एक छोटी सी पुस्तक है। इसमें भक्ति के विभिन्न पक्षों की व्याख्या है। इसमें भक्ति की विधिवत् और गहराई से व्याख्या तो नहीं की गई है, फिर भी यह पुस्तक भक्ति के बहुत से पक्षों को स्पष्ट करती है। सामान्यतः इसे भक्तियोग का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसलिए भक्ति के स्वरूप और उसे विकसित करने के साधनों का वर्णन करते समय हम इस ग्रन्थ के कुछ सूत्रों पर विचार कर सकते हैं ताकि भक्ति-योग के दर्शन और साधनों का हमें सामान्य ज्ञान हो सके।

१. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। (५१)

परमात्मा के प्रति प्रेम (अर्थात् भक्ति) के स्वरूप का वर्णन असम्भव है।

२. मूकास्वादनवत्। (५२)

गूँगे के स्वाद की तरह।

सामान्यतः इन सूत्रों का यह अर्थ लगाया जाता है कि ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम या परम आनन्द के उस अनुभव का स्वरूप शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। निस्संदेह यह सच भी है परन्तु यह केवल साधारण अर्थ है। किसी प्रकार के अनुभव को शब्दों द्वारा ऐसे व्यक्ति को बताया ही नहीं जा सकता जिसे उस प्रकार का अनुभव हुआ ही न हो। हम सबको जीवन में एक से ही अनुभव हुए हैं इसीलिए हम दूसरों से उनका वर्णन कर सकते हैं।

फिर, सच्चा अर्थ क्या है? आइए इस पर विचार करें। विकास-क्रम में हमारा सम्पर्क विभिन्न लोगों से बार-बार होता है। उनसे हमारे संबंध विभिन्न प्रकार के होते हैं। बारबार के इन सम्पर्कों से विभिन्न प्रकार के प्रेम उत्पन्न होते हैं, जैसे माँ का बालक के प्रति, पुत्री का पिता के प्रति, पति का पत्नी के प्रति, मित्र का मित्र के प्रति। जैसे-जैसे हमारा भावनात्मक विकास होता है; प्रेम के प्रकार और उसी के अनुरूप प्रेम को अनुभव करने की हमारी क्षमता अधिकाधिक बढ़ती जाती है। हमारे विकास के साथ-साथ हमारा प्रेम-प्रतिबिम्ब अधिक पूर्ण और स्पष्ट होता जाता है। परन्तु यह प्रतिबिम्ब है किसका? यह तो उसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का प्रतिबिम्ब है जिससे हर वस्तु, हर क्षमता, हर शक्ति प्राप्त होती है। प्रेम के इस प्रकाशयुक्त प्रतिबिम्ब में सभी प्रकार के विशिष्ट प्रेम सम्मिलित हैं। विशिष्टीकरण की प्रक्रिया द्वारा दिव्य प्रेम के श्वेत प्रकाश से, अन्य सभी चीजों के समान, ये प्रेम भी उत्पन्न होते हैं। इस विशिष्टीकरण से हमें अपने भावनात्मक स्वभाव को अधिक आसानी से विकसित करने में सहायता मिलती है क्योंकि एक समय में एक सीमित और विशिष्ट प्रकार के प्रेम को ग्रहण और विकसित करना अधिक आसान होता है, जैसे मन को पाँच ज्ञानेन्द्रियों में बाँट देने से हम मन को अधिक आसानी से विकसित कर सकते हैं। परन्तु श्वेत प्रकाश विभिन्न रंगों से भिन्न ही है। एक व्यक्ति जो केवल अभिव्यक्ति या रंगों के क्षेत्र में रहता है वह अभिव्यक्ति के क्षेत्र से निकल कर परम-सत्य के प्रकाश में पहुँचने पर ही समझ सकता है कि सत्य का श्वेत प्रकाश कैसा होता है। इसी प्रकार मानवीय सम्बन्धों में सभी प्रकार के सम्भव प्रेम का अनुभव करने वाला व्यक्ति सभी प्रेमों के मूल उस दिव्य-प्रेम को तब तक समझ ही नहीं सकता जब तक कि वह उस दिव्य प्रेम का ही अनुभव न कर ले। इसलिए विभिन्न प्रकार के विशिष्ट प्रेमों को जानते हुए भी हम उस दिव्य-प्रेम को नहीं जानते। इस दिव्य प्रेम का अनुभव करने वाला व्यक्ति इस प्रेम के स्वरूप को किसी अन्य व्यक्ति को बता ही नहीं सकता। जिस तीव्र और पवित्र प्रेम के अनुभव करने की हममें क्षमता है, और जिसका हमने अनुभव किया है उससे उस दिव्य-प्रेम के गुणात्मक स्वरूप का केवल अस्पष्ट-सा भान ही हमें हो सकता है। उस दिव्य प्रेम को जानने के लिए तो हमें वह प्रेम अपने हृदय में उत्पन्न करके उसका अनुभव स्वयं करना होगा।

३. सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा। (२)

उसके (ईश्वर के) प्रति अनन्य प्रेम ही उसका (भक्ति का) स्वरूप है।

४. शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च। (६०)

(भक्ति से) परम शक्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है।

५. अमृतस्वरूपा च। (३)

और (यह) अमृतस्वरूपा भी है।

इनमें से पहला सूत्र भक्ति के सामान्य स्वरूप का वर्णना करता है और बताता है कि ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है। प्रारम्भ में तो यह अनिवार्य ही है कि यह प्रेम उन विभिन्न प्रकार के किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेम के समान हो जिससे हम परिचित हैं और जिसका हम अनुभव कर सकते हैं। इसीलिए भारत में भक्त ईश्वर के प्रति कोई भी भाव अपना लेता है और उससे संबंधित प्रकार के प्रेम को प्रगाढ़ करने का प्रयत्न करता है। वह ईश्वर को मित्र, गुरु, पिता या माता या प्रिय मान सकता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में यह बिल्कुल भी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उस भाव का स्वरूप क्या हो। क्योंकि वास्तव में आध्यात्मिक प्रयास के हर क्षेत्र की भाँति इस क्षेत्र में सब कुछ तीव्रता या क्षमता पर निर्भर करता है। अत्यानन्द की अवस्था में चेतना का जो मिलन होता है—भक्त की चेतना का उसके इष्ट की चेतना से मिलन—उसकी तुलना तूफान में पृथ्वी पर बिजली के चमक जाने से की जा सकती है। परन्तु बादल और पृथ्वी के पोजिटिव और निगेटिव चार्ज का मिलन वोल्टेज में महान् अन्तर पर निर्भर करता है और जिसका पहले ही उत्पन्न हो जाना आवश्यक है ताकि वायु का अवरोध समाप्त हो जाए। कभी-कभी वोल्टेज में यह अन्तर अत्यधिक होता है और दस लाख वोल्ट तक पहुँच सकता है। यही कारण है कि बिजली गिरने का स्वरूप विनाशकारी और भयावह होता है। इसी प्रकार भक्त और भगवान् के बीच प्रेम के अत्यन्त तीव्र हो जाने पर ही चेतना का आंशिक मिलन होता है। तब भक्त को अनुभूति होती है कि दिव्य प्रेम कैसा होता है। इस अनुभूति से उसका प्रेम और गहरा हो जाता है और उस उच्च स्तर के अनुरूप उसे आनन्द की अनुभूति होती है। ऐसा बार-बार होता है। वह अधिकाधिक तीव्र और प्रगाढ़ प्रेम का अनुभव करता है और उसके अनुरूप उसे अधिक गहरे और सूक्ष्म आनन्द की अनुभूति होती है।

परमानन्द की इन अवस्थाओं में भक्त चेतना और प्रेम की जिन गहराइयों को छूता है वे राज-योग की विभिन्न समाधियों के समान होती हैं। अन्तिम अवस्थाओं के ये अनुभव प्रारम्भिक अवस्थाओं के भावनात्मक प्रेम से, वह चाहे कितना तीव्र क्यों न हो, बहुत भिन्न होता है। इन्हें सामान्यतः भक्ति साहित्य में परमानन्द और ज्ञान-योग की भाषा में शान्ति कहा गया है। इस अवस्था में प्रेम तीव्र और व्यापक तो होता ही है, उसका प्रवाह भी बहुत गहरा होता है। इसीलिए तब पूर्ण शान्ति, स्थिरता और समता होती है, प्रारम्भिक अवस्थाओं की सी उद्विग्नता और अशान्ति नहीं।

इस विषय से संबंधित एक प्रश्न पर विचार किया जा सकता है जो कभी-कभी बहुत से साधकों को परेशान करता है। अभी यह कहा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया था कि भक्त ईश्वर के प्रति कोई भी भाव अपनाकर उस प्रकार का प्रेम विकसित कर सकता है। इस बात को कहने का यह दूसरा तरीका है कि वह ईश्वर की पूजा चाहे जिस रूप में कर सकता है। बहुत से लोग व्यर्थ ही परेशान होते हैं कि वे अपनी भक्ति विकसित करने के लिए कौन सा भाव चुनें। वास्तव में भाव विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। आवश्यक यह है कि भक्त को वह आकर्षित करे और उससे केवल शुद्ध और पवित्र विचार और भावना उत्पन्न हो। यदि मन्दिर के पूजास्थल तक पहुँचने के बहुत से द्वार हों और हमारा उद्देश्य द्वार पर ही रुक जाना नहीं बल्कि देव-दर्शन करना है तो यह बिल्कुल महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम किस द्वार से प्रवेश करते हैं।

यद्यपि मैंने इस बात को कुछ सरल ढंग से प्रस्तुत किया है, परन्तु यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। हमें इसकी गहराई में जाने का और इस कथन के आन्तरिक महत्त्व को समझने का प्रयत्न करना चाहिए, अर्थात् किस भाव के प्रति हमारी भक्ति हो यह बात बहुत महत्त्व की नहीं है।

इस बात को समझने के लिए हमें यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि प्रेम मन की एक अवस्था है और ईश्वर या आराध्य देव का स्वरूप मन में एक कल्पित आकृति मात्र है। अब भक्त के मन और आराध्य देव के मिलन के लिए वह कल्पित आकृति नहीं बल्कि मन की वह अवस्था महत्त्वपूर्ण है। यह अवस्था उस कल्पित आकृति से बिल्कुल भिन्न है और उसके स्वरूप से प्रभावित नहीं होती। यह महत्त्व की बात है ही नहीं कि वह स्वरूप या आकृति ईसा या कृष्ण या राम या शिव या दुर्गा या बुद्ध या गुरुदेव की है। महत्त्वपूर्ण तो भक्ति की तीव्रता, मन का समर्पण और उसकी निर्मलता है। इन्हीं से मन आराध्य देव से मिलने योग्य बनता है और तभी आराध्य देव की कृपा और आशीर्वाद भक्त को प्राप्त होता है।

भक्त की चेतना का एकाकार उस कल्पित आकृति से नहीं बल्कि जिसकी वह आकृति है उसकी चेतना से होता है। यह मिलन नाम रूप वाले मूर्त मन के क्षेत्र में नहीं होता बल्कि बुद्धि लोक पर चेतना के निम्नतम स्तर पर होता है। इस मिलन में मानसिक आकृति का विलय हो जाता है। ध्यान में या अन्य प्रकार से यह आकृति केवल चेतना को एक स्थान पर केन्द्रित करने का कार्य करती है। इसके माध्यम से अभीप्सा उधर की ओर जाती है और कृपा, आशीर्वाद या शक्तियाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नीचे की ओर प्रवाहित होती हैं। यह तो एक द्वार के समान है जिसके द्वारा सम्पर्क सम्भव हो पाता है, परन्तु जिसकी भक्त को तलाश है वह तो द्वार के उस पार है। उससे मिलने के लिए भक्त को इस द्वार को पार करके ही जाना पड़ेगा। अतः यह स्पष्ट हो गया होगा कि कल्पित आकृति के स्वरूप का महत्त्व गौण है। उसका महत्त्व एवं उपयोग तो केवल इस पर निर्भर करता है कि इस और पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण यह कितनी अभीप्सा और आकर्षण उत्पन्न कर सकती है। मन की स्थिति, उसकी जागरूकता, प्रेम की तीव्रता, पवित्रता, आत्म-समर्पण ये बातें महत्त्वपूर्ण होती हैं।

इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि अपने आराध्य देव से हमारे संबंध के विषय में ही नहीं, हमारे सामान्य मानवीय संबंधों के सन्दर्भ में भी यह बात सही है। क्या आप सोचते हैं कि जब हम किसी से प्रेम करते हैं या किसी से बातें करते हैं तो हम क्या उस व्यक्ति के स्थूल शरीर या मन से ही प्रेम या सम्भाषण करते हैं ? बिल्कुल नहीं। शरीर और मन के आवरणों में से होकर एक आत्मा का दूसरी आत्मा से सम्पर्क होता है। यदि आपको इसमें शंका हो तो जिस व्यक्ति से आप भौतिक जगत् में सम्भाषण कर रहे हों तो सभी शरीरों को अनुप्राणित करने वाली आत्मा की शक्ति के बिना उसकी कल्पना करने का प्रयत्न तो कीजिए। स्थूल से लेकर आत्मिक लोक तक सम्पर्क की सम्पूर्ण संरचना या प्रणाली को आत्मा यदि छोड़ दे तो वह निष्क्रिय हो जाएगी। तब सारी संरचना कार्य करना बंद कर देगी और हमारे लिए वह बेकार हो जायेगी। मृत्यु के समय जब चेतना स्थूल शरीर को छोड़ देती है तो हम इस प्रक्रिया को थोड़ा देख सकते हैं। हमें जो शरीर प्रिय था वह फिर विभिन्न तत्त्वों का एक ढेर मात्र रह जाता है, उसमें हमारी जरा भी रुचि शेष नहीं रह जाती। इस कोष-समूह के पीछे आत्मा ज्ञाता ही नहीं, हमारा प्रेम-पात्र और हमें प्रेम करने वाला भी है।

इसी विचार को बड़े ही सुन्दर ढंग से उपनिषदों में व्यक्त किया गया है। उसका अभिप्राय है : पत्नी के कारण पत्नी प्रिय नहीं है बल्कि आत्मा के कारण पत्नी प्रिय है। पति के कारण पति प्रिय नहीं है बल्कि आत्मा के कारण पति प्रिय है। पुत्र के कारण पुत्र प्रिय नहीं है बल्कि आत्मा के कारण पुत्र प्रिय है। इस प्रकार मंत्र में यही बात अन्य मानवीय संबंधों को लेकर दोहराई जाती है ताकि यह विचार पाठक के मन में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अच्छी तरह बैठ जाए। आप इस कथन में निहित महत्त्व को समझ सकते हैं। हम सोचते हैं कि हमारे सभी संबंध व्यक्तिगत स्तर पर स्थापित होते हैं। परन्तु वास्तव में वे आत्मा के स्तर पर स्थापित होते हैं। बीच के शरीर तो केवल आवरण मात्र हैं, जो क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में असली भाग लेने वालों को छिपाये रहते हैं।

इस बात से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति में हमारा आराध्य हमारे मन की काल्पनिक आकृति नहीं होती बल्कि उसके पीछे छिपा सर्वव्यापी जीवन और दिव्य चेतना ही वास्तव में हमारा आराध्य होता है और सभी प्रकार की आकृतियों के लिए वह एक ही होता है। इसलिए भगवद्-गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि भक्त चाहे जिस मार्ग से आए अथवा चाहे जिस रूप में उनकी पूजा करे वे प्रत्येक भक्त को अपना लेते हैं।

परन्तु जब तक हम नाम-रूप के क्षेत्र में हैं, तब तक उन विशिष्ट नामों और रूपों से अन्तर में उत्पन्न होने वाले उस आकर्षण का लाभ हम क्यों न लें जिससे हमारी भक्ति दृढ़ होती है। फिर भी कुछ लोगों के समान अपनी भक्ति-भावना समर्पित करने के लिए किसी स्वरूप का चयन करने में हमें परेशान नहीं होना चाहिए। सहस्र रूप में जो स्वरूप हमें आकर्षित करे और हमारी भक्ति जाग्रत करे वही हमारे लिए उप-युक्त है।

अब हम सूत्र ५ को ले लेते हैं। उसके अनुसार भक्ति अमृत-स्वरूपा है। यह कथन कुछ रहस्यपूर्ण है और उसे समझने की आवश्यकता है। अमृत अमरत्व या नित्य जीवन का प्रतीक है, जैसा कि उसके अर्थ से प्रकट होता है। अमृत अर्थात् मृत्यु से परे। अतः यदि कोई एक बार भी अमृत पान कर लेता है तो वह अमर हो जाता है, मानों वह मृत्यु की सीमा से परे चला गया हो। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसा कोई पेय या जीवन-रसायन नहीं है जिसे पीकर मनुष्य अमर हो जाए। अमृत स्पष्टतः चेतना की उस अवस्था का प्रतीक है जो अभिव्यक्ति से परे है। उस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य जीवन-मरण की भ्रान्ति से छूट जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है। एक बार वह अवस्था प्राप्त कर लेने पर उसे अनिवार्यतः फिर से जन्म लेना नहीं पड़ता। जीवन-मरण के क्षेत्र में संघर्षरत अपने भाइयों की सहायता करने के लिए वह भले ही जन्म ले ले।

कोषों से चेतना का तादात्म्य ही जन्म-मरण के भय का मूल कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। एक बार आत्मा या शुद्ध चेतना के क्षेत्र में पहुँच जाने पर व्यक्ति को यह भान हो जाता है कि वह शुद्ध चेतना है अथवा दिव्य चेतना से उसका ऐक्य है। तब कोषों से तादात्म्य उत्पन्न करने वाली भ्रान्ति का सदा के लिए नाश हो जाता है। फिर यही नहीं कि उसे मृत्यु और जन्म का भय ही नहीं रहता वरन् निम्न लोकों में अनिवार्यतः उसके जन्म लेने की भी आवश्यकता नहीं रहती। यही सच्ची जीवन्मुक्ति या अमरत्व है।

जब भक्त की चेतना अधिकाधिक आनन्द में डूबने लगती है और अन्ततः दिव्य चेतना से एक होकर उसमें सदा के लिए स्थित हो जाती है तो अमरत्व की यह अवस्था प्राप्त होती है। क्योंकि वह चेतना शाश्वत है और अमरत्व प्रदान करती है इसीलिए भक्ति की उस उच्चतम अवस्था को अमृत कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि चेतना की वही स्थिति ज्ञान-मार्ग या राज-योग से भी प्राप्त हो सकती है।

अमरत्व प्राप्त करने के लिए हमारे मनीषियों या ऋषियों ने यही मार्ग अपनाया। परन्तु उन साधनों पर जरा विचार कीजिए जो हमने—उनकी 'बुद्धिमान्' सन्तान ने—आजकल अमरत्व प्राप्त करने के लिए अपनाया है। यदि हम काफी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं तो अपने शरीर का नाम बनाए रखने के लिए हम किसी संस्था से सम्बद्ध होने का अथक प्रयास करते हैं और यदि वह सम्भव नहीं होता तो कोई सड़क या गली भी काफी है। हम यह नहीं सोचते कि कुछ समय तक सड़क का नाम तो रहेगा परन्तु जब हम ही नहीं रहे तो हमारे साथ उसे सम्बद्ध कौन करेगा। यदि हम ही अगले जन्म में आएँ तो हमें ही मालूम नहीं होगा कि वह संस्था हमारे पिछले जन्म के नाम पर है। हम पुस्तकें लिखते हैं। हम राजनीतिक नेता के रूप में अपना नाम इतिहास में छोड़ जाने का प्रयत्न करते हैं। हम बहुत से काम और कभी-कभी अवांछनीय भी, इस क्रूर भ्रान्ति में और झूठी आशा से करते हैं कि हम अमर हो जाएँगे। हम यह नहीं समझते कि इन सब दशाओं में केवल नाम या रूप अधिक से अधिक कुछ शताब्दियों तक चल सकता है, हम नहीं। समय की प्रचण्ड धारा अबाध गति से बढ़ रही है और प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम ही नहीं बल्कि उसके मार्ग में आने वाली सभ्यताओं, ग्रहों, सौर मण्डलों और विश्वों तक को नष्ट करती जाती है। कैसी भ्रान्ति है यह !

६. सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्। (७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह (भक्ति) स्वार्थपूर्ण कामनाओं से युक्त नहीं होती क्योंकि उसका तो स्वरूप ही सब कामनाओं का विरोध करना है।

यह तो स्पष्ट ही है कि यह सूत्र भक्ति की निम्न अवस्थाओं की ओर संकेत नहीं करता जहाँ उसमें व्यक्तिगत कामना का मिश्रण होता है। यह सूत्र तो उसके उच्चतम स्वरूप की बात करता है जो पूर्णतः निःस्वार्थ होता है और भक्त ईश्वर को निष्काम भाव से प्रेम करता है। यह सूत्र बताता है कि भक्ति का उच्चतम स्वरूप व्यक्तिगत, स्वार्थपूर्ण कामनाओं से प्रेरित नहीं होता। उसका प्रमाण ही यह है कि भक्ति से ऐसी सभी कामनाओं का अन्त हो जाता हैं तो फिर ऐसी भक्ति की प्रेरक-शक्ति क्या होती है ? वह शक्ति विशुद्ध प्रेम है। वह प्रेम चेतना के एक विच्छिन्न अंश को उस परिपूर्ण स्वरूप की ओर आकर्षित करता है जिसका वह अंश है ताकि फिर से दोनों एक हो जाएँ।

प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह हमें सामान्य कामनाओं और आसक्तियों से सहजता और सरलता से मुक्त कर देता है। निम्न स्तरीय प्रेम की अभिव्यक्ति तक में हमें यह विशेषता थोड़ी-बहुत देखने को मिलती है। उदाहरण के लिए, जब एक पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करने लगता है तो कुछ समय के लिए प्रेमिका की सुविधा और प्रसन्नता ही प्रेमी के लिए महत्त्वपूर्ण हो जाती है और वह अपनी अधिकांश निम्न इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। यह सच है कि ये इच्छाएँ पूर्णतः समाप्त नहीं हो जातीं परन्तु जब तक प्रेम की वह उच्च अवस्था रहती है उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। यही बात एक माँ के साथ होती है। अपने बालक के प्रेम के कारण वह अपने आराम और हितों की बिल्कुल चिन्ता नहीं करती और बहुत-सी निम्न प्रकार की इच्छाएँ जो पहले उसके मन पर हावी रहती थीं उनसे वह मुक्त हो जाती है।

यह पूछा जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति प्रेम करता है तो उसमें ऐसा परिवर्तन कैसे हो जाता है कि उसकी इच्छाएँ सहज ही क्षीण हो जाती हैं ? यह बात समझने के लिए हमें यह याद रखना होगा कि आनन्द हमारा अन्तरतम वास्तविक स्वरूप है। हम उसके बिना रह नहीं सकते। हमें वह किसी भी प्रकार से प्राप्त होना ही चाहिए। यदि हमें वह अपने अन्तर से प्राप्त नहीं होता तो हम उसे बाहर से सामान्य कामनाओं की सन्तुष्टि से प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं। जब भी किसी कामना की पूर्ति होती है, वह थोड़े समय के लिए अस्थायी रूप से मन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को शान्त कर देती है। ऐसे शान्त और संयत मन में हमारे अन्दर से आनन्द के कुछ कण आ जाते हैं। यही कारण है कि किसी कामना की पूर्ति पर हम कुछ क्षण के लिए सन्तुष्टि, सुख या प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। परन्तु वह अधिक देर नहीं टिक पाता। मन का सन्तुलन शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। कामना फिर जाग्रत हो जाती है और कुछ अन्य विषय-वस्तुओं में सुख या सन्तुष्टि खोजने के लिए हमें बाध्य करती है और इस प्रकार बाह्य जगत् की विषय-वस्तुओं के पीछे हमारी दौड़ जारी है यद्यपि सुख और आनन्द का स्रोत हमारे अपने अन्दर है।

जब हम प्रेम करते हैं तो अंशतः और कुछ समय के लिए अपने अंदर के आनन्द-स्रोत से हमारा सम्पर्क हो जाता है क्योंकि, प्रेम और आनन्द एक सिक्के के दो पहलू के सभान अभिन्न हैं। आनन्द के स्रोत से सीधा यद्यपि आंशिक सम्पर्क हो जाने के कारण साधारण सुख या प्रसन्नता प्रदान करने वाले बाह्य पदार्थों पर हमारी निर्भरता थोड़ी कम हो जाती है। उस समय हम अंशतः आत्म-सन्तुष्ट और आत्म-परिपूर्ण हो जाते हैं, यद्यपि हमारा प्रेम-पात्र हमारे बाहर ही होता है। सामान्य प्रेम में यह उच्चावस्था बहुत समय तक नहीं रह पाती और हम फिर से बाह्य पदार्थों और क्रियाओं में सुख की खोज करने लगते हैं। हमारी आत्म-परिपूर्णता समाप्त हो जाती है। परन्तु जब हमारे अन्दर सच्चा दिव्य प्रेम उत्पन्न हो जाता है और हमारे हृदय में प्रेम स्थिरता और वेग से प्रवाहित होने लगता है तो हम उसी प्रेम और आनन्द के स्रोत में स्थायी रूप से स्थित हो जाते हैं और पूर्णतः आत्म-परिपूर्ण हो जाते हैं। आनन्द की धारा हमारे हृदय में सदैव प्रवाहित होती रहती है और बाह्य जगत् से हमें कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती यद्यपि हम अपने भाइयों की सहायता के लिए और ईश्वर द्वारा सौंपे गये कार्य करते रहते हैं। हम स्वयं ईश्वर के समान हो जाते हैं। वह ईश्वर इस जगत् में है, इसमें कार्य करता है परन्तु फिर भी वह इस पर आश्रित नहीं हैं। वह ईश्वर ही प्रेम और आनन्द का सागर है। हमें अपना समस्त आनन्द उसी से प्राप्त होता है। अतः हम देख सकते हैं कि प्रेम की अभिव्यक्ति से समस्त इच्छाओं का सहज और शीघ्र अन्त किस प्रकार हो जाता है। मन को निर्मल, शान्त और आत्म-परिपूर्ण बनाने का यह सबसे सरल और सुखद साधन है। यह हमारी दो प्रकार से सहायता करता है। यह दिव्य जीवन और चेतना के केन्द्र की ओर व्यक्ति का आकर्षण प्रबल करता है और साथ-साथ बाह्य वस्तुओं की ओर उसके आकर्षण को कम करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। (५४)

यह प्रेम गुण रहित है, कामना रहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेद रहित है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

उच्च स्थिति में पहुँच कर भक्त अपने हृदय में भगवान् के प्रति जिस प्रेम का अनुभव करता है यह सूत्र उसी प्रेम का वर्णन करता है। 'गुण-रहित' का अर्थ है कि उसका प्रेम प्रकृति के तीनों गुणों से परे होता है। बाद के एक सूत्र में (सूत्र ५६) हम निम्न प्रकार की भक्ति का विचार करेंगे। हम देखेंगे कि निम्न प्रकार की भक्ति सात्त्विक, राजसिक या तामसिक होती है और वह किसी उद्देश्य को लेकर की जाती है। ऐसी भक्ति केवल भगवत्प्रीतार्थ नहीं की जाती और इसीलिए इसे निम्न श्रेणी का कहा जाता है। उच्चतम श्रेणी की भक्ति, जिसका संकेत इस सूत्र में किया गया है, गुणों से परे होती है और गुणों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली सीमाओं से मुक्त होती है।

कामनारहित का अर्थ है कि इस भक्ति में निम्न स्वार्थपूर्ण कामनाएँ नहीं होतीं, यह विशुद्ध प्रेम से प्रेरित होती है। यह प्रेम वह आकर्षण है जो अंश का पूर्ण के प्रति होता है। क्योंकि इसकी व्याख्या पिछले सूत्र में की जा चुकी है। इसलिए इसके और विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

'प्रतिक्षण' वर्धमानम् का अर्थ है कि यह प्रेम निरन्तर बढ़ता रहता है। दिव्य जीवन और चेतना के संबंध में कोई अन्तिम सीमा है ही नहीं। गहराइयों में भी अनन्त गहराइयाँ छिपी हैं। "एक-एक करके आवरण हटता जाएगा परन्तु फिर भी आवरण के पीछे और आवरण रहेगा ही।" प्रत्येक बार आवरण के हटने पर भक्त को अपने भगवान् से और भी अधिक तादात्म्य का अनुभव होता है। उसका प्रेम और प्रगाढ़ हो जाता है। यह बड़ा ही सुन्दर चक्र है। हम भगवान् को जितना अधिक प्रेम करते हैं उतना ही अधिक हम उसे जान लेते हैं और जितना अधिक हम उसे जान लेते हैं उतना ही अधिक प्रेम करने लगते हैं।

'अविच्छिन्नं' का अर्थ है कि उसका प्रवाह अबाध गति से होता रहता है। हमें याद रखना चाहिए कि हम भक्ति की उच्चतम अवस्था की बात कर रहे हैं जिसमें भक्त की चेतना स्थायीरूप से भगवान् की चेतना से युक्त होती है और इसीलिए प्रेम का प्रवाह निरन्तर होता रहता है। प्रार-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म्भिक अवस्थाओं में भक्त अपने भगवान् की एक झलक ही पाता है और आनन्दातिरेक में उसका प्रेम बढ़ जाता है। परन्तु उस सम्पर्क के टूट जाने पर उसे अपार कष्ट होता है। विरह-व्यथा की तीव्रता के कारण उसका फिर मिलन होता है। इस प्रव [illegible] प्रारम्भिक अवस्थाओं में और वास्तव में तो काफी उच्च अवस्था तक, भक्त के जीवन में ये उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। परन्तु एक समय या अवस्था ऐसी आती है जब उसका वियोग हो ही नहीं सकता। वह अपने प्रियतम की चेतना से हर क्षण युक्त रहता है। ऐसी स्थिति में प्रेम का निरन्तर प्रवाह होते रहना स्वाभाविक ही है।

'सूक्ष्मतरम्' का अर्थ है सूक्ष्म या गहरा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भक्ति की उच्च अवस्थाओं में प्रेम अत्यन्त प्रगाढ़ होता है और इसीलिए प्रारम्भिक अवस्थाओं की भाँति उसकी अभिव्यक्ति बाह्य उग्र प्रदर्शन या सन्तुलन खो बैठने के रूप में नहीं होती। कम गहरी नदी बहुत शोर करती है और सहज ही उसमें बाढ़ आ जाती है परन्तु जो नदी बहुत गहरी होती है वह शोर नहीं करती और न इतनी जल्दी उसमें बाढ़ आती है। अतः हमें किसी व्यक्ति के प्रेम को उसके बाह्य लक्षणों या प्रदर्शन से नहीं आँकना चाहिए।

और अन्तिम अंश 'अनुभवरूपम्' का अर्थ है कि इस गहरे प्रेम का अनुभव ही किया जा सकता है। यह कोई भावना या विचार नहीं है। यह उच्च मन या बुद्धि की अनुभूति भी नहीं है। यह तो बोध है—व्यक्ति की अन्तश्चेतना में दिव्य-जीवन और चेतना का बोध। यह बोध दो के एक-दूसरे में विलय हो जाने के फलस्वरूप होता है।

परन्तु चेतना के इस विलय में द्वैत या पृथक्त्व का भाव फिर भी बना रहता है ताकि भक्त प्रेम का आनन्द ले सके। यह स्पष्ट है कि जब दो का पूर्ण विलय हो जाता है और चेतना पूर्णतः एक हो जाती है तो सामान्य अर्थों में प्रेम का अस्तित्व ही नहीं रहता क्योंकि प्रेम तो प्रेमी और प्रेमास्पद के सम्बन्ध का परिणाम है। परन्तु जब प्रेमी और प्रेमास्पद का परस्पर विलय होकर वे चेतना की एक इकाई बन गये तो प्रेम समाप्त हो जाता है, केवल आनन्द शेष रह सकता है। इसीलिए वैष्णव सम्प्रदायों में भक्त भगवान् से पूर्णतः एक होना नहीं चाहते। वे अपने भगवान् से निरन्तर यही प्रार्थना करते रहते हैं कि वे इतने अलग अवश्य बने रहें कि वे दिव्य प्रेम का आनन्द ले सकें। यही तो उनके जीवन की साध होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८. गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा । (५६)

गौणी या स्वार्थपूर्ण कामनाओं से युक्त भक्ति गुण-भेद के अनुसार तीन प्रकार की होती है—आर्त (दुखी), जिज्ञासु (ज्ञान की खोज करने वाला) और अर्थार्थी (धन या अन्य सांसारिक पदार्थों की कामना करने वाला)

९. भक्ता एकान्तिनो मुख्याः । (६७)
एकान्त या अनन्य भक्त ही श्रेष्ठ होते हैं।

ये दोनों सूत्र दो श्रेणियों के भक्तों का अन्तर स्पष्ट करते हैं। पहली श्रेणी के भक्त भगवान् की भक्ति किसी उद्देश्य को लेकर करते हैं। उनकी भक्ति स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत कामनाओं से विभिन्न अंशों में दूषित हो जाती है। वे भगवान् से उनकी प्रीतिमात्र के लिए नहीं बल्कि भगवान् की कृपा से कुछ व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए प्रेम करते हैं। दूसरी श्रेणी के भक्तों का कोई स्वार्थपूर्ण उद्देश्य होता ही नहीं वे भगवान् से प्रेम करते हैं और प्रेम किए बिना वे रह ही नहीं सकते। वही उनके जीवन का जीवन है, उनकी चेतना का केन्द्र है। वह उन्हें अनिवार्यतः अकारण और तीव्रता से अपनी ओर खींचता है और वे अपने आप को पूर्णतः उसको समर्पित कर देने के अतिरिक्त कुछ कर ही नहीं सकते। उसको प्रेम करके आनन्द प्राप्त करने के अतिरिक्त उनका कोई और उद्देश्य ही नहीं होता। उसे पाने और उससे एक हो जाने के अतिरिक्त उनकी और कोई चाह होती ही नहीं। क्या एक माँ जो अपने प्रथम पुत्र को प्यार करती है और उसके लिए हर त्याग को तैयार रहती है, बता सकती है कि वह उसे प्यार क्यों करती है ? क्या किसी अन्य व्यक्ति के प्यार में बुरी तरह आसक्त और अपने सुख और अपनी इच्छाओं की ओर से उदासीन प्रेमी वह बता सकता है कि वह अपने प्रेमास्पद को प्यार क्यों करता है ? फिर भी हमें यह याद रखना चाहिए कि मानवीय संबंधों में ये प्रेम केवल प्रतिबिम्बों के प्रतिबिम्ब हैं। बहुत हद तक ये पिछले जीवनों के संबंधों पर आधारित होते हैं। इन संबंधों के पीछे भी एक आत्मिक बन्धन होता है। वही उस परिपूर्ण के एक अंश को दूसरे अंश से जोड़ता है। आत्माओं के बीच भी एक संबंध होता है। निम्न लोकों के जीवन में यही संबंध उन्हें एक दूसरे के निकट लाता है। उनकी यह आशा और तैयारी होती है कि सुदूर भविष्य में उन्हें विशाल अभिनयों में एक साथ प्रेमपूर्वक भाग लेना होगा। यदि प्रतिबिम्बों के प्रतिबिम्ब कुछ समय के लिए सामान्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनुष्यों में इतनी उच्च त्याग-भावना उत्पन्न कर सकते हैं तो क्या आप उस आत्म-त्याग और भक्ति के स्वरूप और उसकी तीव्रता की कल्पना कर सकते हैं जिसकी अनुभूति एक भक्त को उस समय होती है जब वह जीवन की सामान्य भ्रान्तियों और सीमाओं से ऊपर उठ जाता है और अपने प्रभु के चरणों में अपने आपको और अपने प्रेम को पूरी तरह समर्पित कर देता है। उपरोक्त सूत्रों में से दूसरे सूत्र में ऐसे ही भक्तों की ओर संकेत है।

इन दो सूत्रों में से पहले सूत्र में निम्न श्रेणी के भक्तों की ओर संकेत किया गया है। उनकी भावना पूर्णतः निःस्वार्थ नहीं होती। यह सूत्र भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे हम भक्तों का सन्तोषजनक ढंग से तो वर्गीकरण कर ही सकते हैं, यह हमारा ध्यान भक्ति की निम्न श्रेणियों की ओर भी आकर्षित करता है। इससे निम्न श्रेणी की भक्ति के सम्बन्ध में बहुत से प्रश्न उत्पन्न होते हैं। हमें उनको समझने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि निरन्तर उच्चतर स्थिति प्राप्त करने के लिए सीढ़ी के पत्थरों के रूप में हम इनका प्रयोग कर सकें। हमारा लक्ष्य तो उन स्थितियों के परे जाकर दूसरे सूत्र में बताई भक्ति की अवस्था को प्राप्त करना है।

इन प्रश्नों पर विचार करने से पहले हम दूसरे प्रकार के भक्तों की तीन श्रेणियों को पहले समझ लें। इस सूत्र में इन श्रेणियों का केवल संकेत मात्र है। इन्हें अच्छी तरह समझने के लिए हम भगवद्गीता के सातवें अध्याय के १६,१७ और १८ श्लोक को देखें। १६वें श्लोक में भक्तों के निम्न प्रकार बताए गये हैं: (१) वे जो कष्ट और दुःख में हैं और उनकी पराकाष्ठा होने पर सहायता के लिए वे भगवान् का आश्रय लेते हैं, (२) वे जो निम्न या उच्च ज्ञान के लिए भगवान् को पाना चाहते हैं, (३) वे जो इस संसार में अपनी सुख-सुविधा हेतु विभिन्न विषय-वस्तुओं की प्राप्ति के लिए भगवान् का स्मरण करते हैं। और (४) वे बुद्धिमान् जन जो किसी अन्य भावना से नहीं, केवल भगवान् को पाने के लिए ही उसका स्मरण करते हैं। यह विभाजन गुणों के हिन्दू सिद्धान्त पर आधारित है और उसकी यहाँ व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति इसके विस्तार में जाना चाहे वह भगवद्गीता के १४वें अध्याय को पढ़ सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तों के इस विभाजन से हमारा विशेष संबंध नहीं है। हमें तो यह अध्ययन करना है कि भक्त के जीवन में निम्न श्रेणियों की भक्ति का क्या स्थान है। हममें से प्रत्येक को निम्नतम अवस्था से प्रारम्भ करना है और विभिन्न अवस्थाओं को पार करके दूसरे सूत्र में बताई अवस्था तक पहुँचना है। हमें काफी समय तक 'गौणी' भक्ति की निम्न अवस्था में रहना होगा। इसलिए हमें इसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। अपनी भक्ति की तीव्रता बढ़ाने में तथा स्वार्थपरता के दोष से उसे मुक्त करने में हमें इसका उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए। आप देखेंगे कि सातवें अध्याय के १८वें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण निम्न श्रेणी के तीन प्रकार के भक्तों को उपेक्षित नहीं समझते। वे उन्हें उदारमना कहते हैं। परन्तु अनन्य भाव में उनकी भक्ति करने वाले चौथे प्रकार के ज्ञानी भक्त तो उन्हें स्वाभाविक ही परम-प्रिय हैं। वे यह नहीं कहते कि वे उनकी पुकार नहीं सुनेंगे जो ज्ञान के लिए अथवा कष्ट में सहायता के लिए अथवा केवल स्वार्थ-भावना से उनको भजते हैं। उनकी इस उदारता, हृदय की विशालता और प्रेम को तो देखिये। वे कष्ट से पीड़ित की ही पुकार नहीं सुनते बल्कि इस संसार के सुखों के लिए भले ही वे भ्रामक क्यों न हों—व्यक्ति की इच्छा भी पूरी करते हैं। उनके इस प्रकार के प्रत्युत्तर को मैं उच्चतम और वास्तव में ईश्वरीय स्वभाव के अनुरूप मानता हूँ। हम जैसे व्यक्ति भी—जो माया और स्वार्थ में भ्रमित हैं—दूसरों के कष्ट और दुखों से द्रवित होकर कुछ हद तक उनकी सहायता करने को तैयार हो सकते हैं परन्तु केवल ईश्वर और ईश्वर तुल्य व्यक्ति ही प्रत्येक सच्ची पुकार को सुन सकते हैं, चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो। कोई भी व्यक्ति उनके विशाल और प्रेमपूर्ण आलिंगन से वंचित नहीं रह सकता। छोटा बच्चा यदि खिलौना या चाकलेट माँगता है तो जैसे माँ उसे मना नहीं कर सकती उसी प्रकार यदि कम विकसित जीवात्माएँ अपनी सन्तुष्टि और विकास के लिए इस संसार की वस्तुएँ माँगती हैं तो भगवान् भी उन्हें मना नहीं कर सकते। इसलिए हम सचेत रहें और अपने धर्माभिमान में उन जीवात्माओं को घृणा की दृष्टि से न देखें जो अभी बालवत् हैं और जिन्हें अपने विकास के लिए संसार के सामान्य सुखों की आवश्यकता है। यदि हम सहायता के लिए उनकी माँग को पूरी न भी कर सकें तो हम सही दृष्टिकोण तो अपना ही सकते हैं और इस कारण से किसी भी प्रकार उन्हें तुच्छ तो न समझें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्या हमें इसमें शंका है कि भगवान् हर व्यक्ति की प्रत्येक इच्छित वस्तु की माँग पूरी करते हैं ? क्या हमें नहीं मालूम कि मानवीय कार्य-कलापों में एक नियम कार्य करता है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को देर-सबेर, उसको हर इच्छित वस्तु प्राप्त होती है। यह तो सम्भव नहीं होता कि जो कुछ वह चाहता है वह उसे तुरन्त ही मिल जाए परन्तु यदि वह उसकी कामना करता रहे और उसके लिए आवश्यक प्रयत्न करे तो अन्ततः वह उसे मिल सकती है। हम उस परम महान् के बालक हैं। इसलिए भ्रान्तिपूर्ण अवस्था में भी यदि हमारा संकल्प कामना के रूप में व्यक्त होता है तो उसका आदर होना चाहिए और इसीलिए आगे चलकर उसकी पूर्ति होती ही है। हम गलत चीजों की कामना करके उसके अनुरूप कष्ट पा सकते हैं परन्तु वह महत्वपूर्ण नहीं है। यह हमारी शिक्षा का एक अंग है और धीरे-धीरे हम सही चीजों की कामना करने लगते हैं और अन्ततः उस प्रभु के अतिरिक्त कुछ चाहते ही नहीं। सच्चे सुख का वास्तविक और एकमात्र स्रोत वह भगवान् ही है, भले ही अपनी भूल से हम उसे अन्य विषय-वस्तुओं में ढूंढ़ते रहें।

परन्तु हम अपने विषय पर आ जायँ और यह प्रश्न पूछें, किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भगवान् को भजने और प्रेम करने वाले भक्तों के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है उसके अनु-सार इन दो सूत्रों का वास्तविक महत्त्व क्या है ? मेरे विचार से इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि हमें जो कुछ भी चाहिए, चाहे प्रारम्भ में हमारी कामनाएँ स्वार्थपूर्ण ही क्यों न हों, उनके लिए हमें भगवान् का ही सहारा लेना चाहिए, क्योंकि भगवान् की ओर उन्मुख होते ही हम उस दिशा में पहला कदम उठाते हैं। यदि हम उनसे अपनी सामान्य कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करें तो भी कोई हानि नहीं है। हम उनसे कुछ करने की प्रार्थना करते हैं, केवल इसी बात का अर्थ है कि हमने उन पर विश्वास करना और निर्भर रहना प्रारम्भ कर दिया। विश्वास और निर्भरता की इस भावना में ही उनके प्रति प्रेम विकसित करने का महान् रहस्य छिपा है। हम उन पर जितना अधिक विश्वास करते और निर्भर रहते हैं उनके प्रति हमारा प्रेम उतना ही अधिक बढ़ता है, उतनी ही अधिक सामान्य चीजों के लिए हमारी कामना धीरे-धीरे और निश्चित रूप से प्रभु के प्रेम में परिवर्तित होने लगती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है जो हमारी इच्छाएँ पूरी करता है। इस सारी प्रक्रिया में एक दिव्य कीमियागरी है। भक्ति विकसित करने के साधनों पर विचार करते समय हम इस प्रश्न की अधिक विस्तार से व्याख्या करेंगे। इन साधनों में १० वें सूत्र में बताई गई 'अनन्यता' अर्थात् केवल उसी पर आश्रित रहने का स्थान प्रमुख है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : २१

भक्ति के साधन

'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति बढ़ाने के साधन क्रम से नहीं दिए गये हैं। ये ग्रंथ के विभिन्न भागों में इधर-उधर मिलते हैं। इसलिए हम इस विषय से संबंधित महत्त्वपूर्ण सूत्रों को लेकर उनकी व्याख्या करेंगे। उसके पश्चात् ही हम अन्य पक्षों का विचार करेंगे।

१०. तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च। (९)

उस भगवान् के प्रति अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता।

११. अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता। (१०)

उसके प्रति अनन्यता का अर्थ है, दूसरे आश्रयों का त्याग।

१२. लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता। (११)

उसके (भगवान् के) प्रतिकूल विषय में उदासीनता का अर्थ है सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक दायित्वों के अनुकूल सही-सही आचरण करना।

उपरोक्त तीन सूत्रों (९,१०,११) का यह समूह भक्ति-मार्ग पर चलने के लिए दो मूल आवश्यकताओं की ओर संकेत करता है। हम इन्हीं से प्रारम्भ करेंगे। १० वें सूत्र में ये दो मूल आवश्यकताएँ बताई गई हैं। बाद के दो सूत्रों में इन आवश्यकताओं के सामान्य स्वरूप का वर्णन है। ये दो आवश्यकताएँ हैं अनन्यता और तद्विरोधिषूदासीनता। पहले हम अनन्यता पर विचार करें।

अनन्यता का अर्थ है, सम्पूर्ण हृदय से भगवान् की भक्ति और अन्य सभी आश्रयों का त्याग। यह तो इस शब्द का वह अर्थ है जो सामान्य व्यक्ति समझते हैं। परन्तु जो अपने विचारों के अनुरूप आचरण भी करना चाहते हैं उन्हें अनन्यता शब्द के महत्त्व को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इस शब्द के शाब्दिक अर्थ तथा भक्तों और संतों में प्रचलित परम्पराओं और साधनों के अनुसार मेरी समझ से इस शब्द का महत्त्व इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "प्रत्येक बात के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिए भगवान् पर पूर्ण निर्भरता"। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक जिज्ञासु इस पवित्र आदर्श से सहमत होगा और यथासम्भव इसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करेगा। परन्तु सारी समस्या के मूल में हैं ये दो शब्द : "पूर्ण" और "प्रत्येक बात"। जब सुविधाजनक हो तब भगवान् पर निर्भर रहना आसान है। परन्तु पूर्णतः और हर बात के लिए भगवान् पर निर्भर रहने का मनोभाव और स्वभाव बना लेना अत्यन्त कठिन है, और यही कारण है कि भक्ति उत्पन्न करने का यह सबसे सशक्त साधन अधिकांश भक्तों के लिए निष्फल सिद्ध होता है। वे सोचते तो यह हैं कि वे भगवान् पर निर्भर हैं परन्तु उनके जीवन और मन में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता। जब सुविधाजनक हो तब तो आप भगवान् पर निर्भर करें और अधिकांश समय अपने ऊपर या औरों पर निर्भर रहें तो यह वास्तव में भगवान् पर निर्भर रहना नहीं है। यह तो उपयुक्तता मात्र है कि जब सुविधा हुई भगवान् पर निर्भर रह लिए जैसे किसी अन्य पर निर्भर रहते, परन्तु इससे बात बन नहीं सकती।

यह भी सच है कि केवल संकल्प मात्र से ही अचानक अनन्यता उत्पन्न हो जाना सम्भव नहीं है। यह तो विकास की धीमी प्रक्रिया है और इसमें सुचक्र कार्य करता है। जितना अधिक आप भगवान् पर विश्वास करेंगे और उस पर निर्भर रहेंगे उतनी ही अधिक तत्परता और पूर्णता से वह आपके विश्वास का प्रत्युत्तर देगा और आपकी सभी वास्तविक आवश्यकताओं को पूरी करेगा। जब आप देखेंगे कि सचमुच आपकी सच्ची आवश्यकताएँ पूरी हो रही हैं, और कभी-कभी तो आश्चर्यजनक ढंग से, तो आपका विश्वास और भरोसा उसकी उदारता और प्रेमपूर्ण चिन्ता पर तेजी से बढ़ जाएगा। तब आपके हृदय के अन्तरतम से सच्ची भक्ति उमड़ पड़ेगी। ऐसी भक्ति आनन्द और श्रद्धा मात्र से प्रवाहित होती रहती है। उसमें कुछ पाने की आशा ही नहीं होती। उसमें तो एक मात्र कामना यही होती है कि वह भगवान् के उस प्रेम और करुणा का पात्र बना रहे। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि यह एक धीमी प्रक्रिया है। वह कितनी धीमी या तेज होगी यह हम पर निर्भर करता है न कि भगवान् पर। वह तो सब कुछ और यहाँ तक कि अपने आपको दे डालने की प्रतीक्षा में है। परन्तु हममें ही उसे ग्रहण कर पाने की क्षमता नहीं है। मानव स्वभाव तो जैसा है, वैसा रहेगा ही। परन्तु हमें इस प्रयत्न में धैर्यपूर्वक लगे रहना चाहिए। पूर्ण निर्भरता का आदर्श हमें सदैव अपने सामने रखना चाहिए, चाहे हम हर बार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सफल न हो पाएँ। हमें कड़ी परीक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए। उस परीक्षा में यह देखा जाता है कि हमारा विश्वास वास्तव में सच्चा है या नहीं, या हमारी निर्भरता केवल बनावटी तो नहीं है जो हमारी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर समाप्त हो जाये या निराशा और रोष तक में बदल जाये क्योंकि भगवान् तो वही करते हैं जो वास्तव में हमारे हित में होता है, न कि जो हम अज्ञानवश अपने लिए अच्छा समझें।

हम यहाँ केवल मामान्य सिद्धान्त की बात कर रहे हैं। किसी व्यक्ति के जीवन में अनन्यता कैसे आये यह एक व्यक्तिगत समस्या है और प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही उसे सुलझाना होगा। सच्चा आध्यत्मिक जीवन सामान्य धार्मिक जीवन से भिन्न होता है। उसमें ऐसे कड़े और बँधे-बधाएँ नियम हो ही नहीं सकते जिन पर वांछित फल प्राप्ति के लिए यंत्रवत् और बिना सोचे समझे चला जा सके। इस कार्य में तो हमें अपना पूरा मन लगा देना होगा, बराबर सावधान रहना होगा, विभिन्न प्रकार के प्रयोग करने होंगे और असफलताओं के लिए तैयार रहना होगा। तभी हम अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकेंगे। परन्तु यदि हम सचाई से प्रयत्न करते रहें तो अन्ततः सफलता मिलना अवश्यम्भावी है। क्योंकि हम अटल नियमों के जगत् में रहते हैं। ये नियम उतने ही विश्वसनीय हैं जितने भौतिक जगत् के नियम। और महत्त्वपूर्ण तो यह बात है कि जिसकी हम खोज में है वह प्रयत्न करने में हमारी सहायता कर रहा है और उस मिलन के लिए हमसे भी अधिक उत्सुक है। परन्तु सचाई और पूर्ण विश्वास अनिवार्य है। अपने स्वभाव के अनुसार अनमने मन से या लापरवाही से यह प्रयत्न करने से कोई लाभ नहीं है। शंका आध्यात्मिक प्रगति की महान् शत्रु है। यह सारे प्रयत्नों को विफल कर देती है और हमारे आध्यात्मिक जीवन के भवन की नींव को ही खोखली कर देती है। आवश्यक जानकारी प्राप्त करने की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तो शंका उपयोगी और आवश्यक शस्त्र का कार्य करती है। परन्तु हमें इन सब बातों पर विचार-मनन और परीक्षण करने के पश्चात् निश्चित निष्कर्ष पर या जिसे पिछले अध्याय में निश्चय कहा गया है. उस पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि इस दिशा में हमारे प्रयत्न सफल होते हैं और यदि हम सचमुच इस मार्ग में प्रवेश करना चाहते हैं तो हमें बुद्धि का प्रकाश प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। हमें अपने मन को निर्मल बनाना चाहिए। क्योंकि सच्ची

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धा निम्न मन का बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशित हो जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसी प्रकाश से निश्चिन्तता और विश्वास प्राप्त होता है क्योंकि वही अन्तर जीवन की वास्तविकताओं को हमारे मन में आंशिक रूप से प्रतिबिम्बित करता है। यदि हमने मार्ग में प्रवेश करने का निश्चय कर लिया है तो हमें शंका को अपने मन से पूर्णतया निकाल देना चाहिए। हम इस गलत धारणा को मन में आश्रय न दें कि शंका हमारे लिए उपयुक्त है और विद्वत्ता का प्रतीक है। यह विद्वत्ता का प्रतीक नहीं है। यह इस बात का प्रतीक है कि हमारा मन बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशित नहीं हुआ है और इसीलिए वह अनेक विचारों और कार्य-विधियों के बीच सदा अस्थिर बना रहता है। वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि सही और उचित क्या है ? यदि हम यह नहीं मानते और विश्वास करते है कि आध्यात्मिक जीवन में हमारी प्रगति के लिए शंका आवश्यक है तो मुझे खेद के साथ कहना पड़ेगा कि इस दिव्य प्रयास के क्षेत्र में अभी कुछ समय तक तो हमारे लिए कोई स्थान नहीं है। हमारा स्थान आधुनिक युग के उन तथाकथित विद्वान् व्यक्तियों में है जो यह सोचते हैं कि वे सभ्यता के अग्रगामी हैं क्योंकि वे किसी चीज में विश्वास नहीं करते और हर चीज में शंका करना अपना अधिकार समझते हैं।

देखिए भगवद्गीता में श्रीकृष्ण शंकाशील तथा सच्ची श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति के बारे में क्या कहते हैं :—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ (४-४०)

अज्ञानी, श्रद्धारहित और संशययुक्त मनुष्य विनाश को प्राप्त होता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (४-३९)

श्रद्धावान्, साधनयुक्त और जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।

मैं समझता हूँ कि ये कथन बिल्कुल स्पष्ट हैं और जो स्वभाव से शंकालु हैं उनकी यह शंका कि उच्च जीवन से संबंधित बातों में शंका उपयुक्त और आवश्यक है, सदा के लिए समाप्त हो जानी चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ लोगों में शंका करने की आदत विशेषतः बहुत अधिक होती है। परन्तु थोड़ी बहुत शंका तो हम सभी के मन में होती है। अधिकांशतः हमें भान भी नहीं होता। ये शंकाएँ ही तो हमें अपने महान् गुरुओं की शिक्षाओं का निष्ठा और पूरे मन से पालन करने में तथा अपने आध्यात्मिक स्वरूप को विकसित करने के लिए उपयुक्त साधनों को अपनाने में बाधक बनती हैं। हम इन बातों को मन में स्वीकार कर लेते हैं, सम्पूर्ण हृदय से नहीं। हमारे अवरोध मानसिक होते हैं और उनका हमें भान ही नहीं होता। यह बात कि हम उन साधनों को गम्भीरता से अपनाने को तैयार ही नहीं होते यह प्रकट करती है कि कहीं न कहीं शंकाएँ छिपी हैं।

जिन साधनों को अपनाकर अन्य लोग सफल हो चुके हैं ऐसे अनुभूत साधनों को अपनाने का प्रयत्न तक न करने से हम जीवन के कितने ही महान् वरदानों से वंचित रह जाते हैं। इस संबंध में मुझे दो अंग्रेजों के बारे में एक कहानी याद आ रही है जो मैंने कहीं पढ़ी थी। इनमें से एक की मान्यता थी कि लोग अधिकांशतः शंकालु होते हैं। दूसरा व्यक्ति इस बात को नहीं मानता था। इन दोनों में एक सौ गिन्नियों की शर्त लगी। जिसको पूर्ण विश्वास था कि सामान्य व्यक्ति में शंका करने की प्रवृत्ति है उसने कहा : "मैं टेम्स के पुल पर एक प्लेट में असली सोने के सौ सिक्के लेकर १५ मिनट तक खड़ा रहूँगा और जो भी चाहे उसे एक शिलिंग में एक सिक्का बेचने का प्रयत्न करूँगा। यदि उतने समय में एक भी सिक्का बिक जाए तो तुम जीते। यदि एक भी न बिके तो तुम हारे।" निश्चय के अनुसार वह पुल पर खड़ा हो गया। लोग आए, प्रसन्न हुए परन्तु सोचा कि वे इतने तो बुद्धिमान हैं ही कि इस धोखे में न आएँ। उन्होंने सोचा, कहीं न कहीं कुछ चालाकी होनी ही चाहिए और सैकड़ों ही लोग उस मार्ग से गुजरे परन्तु एक भी सिक्का नहीं बिका, यद्यपि उनके सामने प्रस्ताव वास्तविक था।

हममें से अधिकांश उस पुल पर गुजरने वाले लोगों के समान हैं। मानव जाति के महान् गुरु, सन्त और महात्मा इस पथ पर चल कर लक्ष्य तक पहुँच गये हैं और वे पूरी गम्भीरता से आध्यात्मिक जीवन के बहुमूल्य सत्य हमारे सामने रखते हैं परन्तु हम उन्हें गम्भीरता से स्वीकार ही नहीं करते। वे हमें बताते हैं कि महान् सत्य हमारे हृदयों के अन्दर छिपा है। यदि आवश्यक प्रयत्न करें और सुनिश्चित शाश्वत जीवन के लिए वर्तमान शान्तिपूर्ण सुखों को त्यागने के लिए तैयार हों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो हमें उस सत्य की अनुभूति हो सकती है। हम तो केवल मुँह से उन्हें श्रद्धा अर्पित करते हैं परन्तु करते कुछ नहीं हैं और यदि कुछ करते भी हैं तो बड़े अनमने होकर। कारण ? कहीं न कहीं शंकाएँ हमारे मन में छिपी हुई हैं। वास्तव में हममें से बहुत-से तो सम्भवतः इस भव्य नियति के लिए तैयार ही नहीं हैं। परन्तु तैयार न होना भी शंका के माध्यम से ही व्यक्त होता है। शंका के अतिरिक्त कोई और चीज ऐसी नहीं है जो प्रभावशाली ढंग से सत्य की सुरक्षा करती है और उसे सामान्यतः लोगों की पहुँच के बाहर बना देती है। इसी कारण एक गुरुदेव ने कहा है कि गुह्य-ज्ञान और शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने का सर्वोत्तम सुरक्षण उन लोगों की शंकाएँ हैं जो उनका दुरुपयोग कर सकते हैं। इसलिए वे उत्सुक भी नहीं हैं कि संसार में हर कोई इन गुह्य-सत्यों को स्वीकार करे।

अनन्यता उन बहुमूल्य सत्यों में से एक है जिनमें भक्ति उत्पन्न करने की अपार क्षमताएँ हैं परन्तु कितने लोग हैं जो गम्भीरता से उसका समुचित अभ्यास करेंगे।

अब हम दूसरी आवश्यकता को लेते हैं। इसका संकेत तीसरे सूत्र में किया गया है। यह सूत्र जिस रूप में दिया गया है उससे ऐसा लगता है जैसे यह केवल हिन्दुओं के ही लिए है जो कि अपने धार्मिक जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों पर वेदों को प्रमाण मानते हैं। ऐसी मान्यता है कि ये वेद दैवी प्रकटीकरण पर आधारित हैं और ये परम्परा-निष्ठ हिन्दुओं के धर्मग्रन्थ हैं। इनके विभिन्न भागों में मानवीय विकास की उच्चतम से लेकर निम्नतम अवस्थाओं के लिए उपयुक्त शिक्षाएँ उपलब्ध हैं। इनमें उनके लिए अनुष्ठान दिए हुए हैं जो इस संसार या स्वर्ग लोक के सुखों की कामना करते हैं। इनमें उपनिषदों का ज्ञान भी उन लोगों के लिए है जिन्हें इस जगत् तथा स्वर्ग लोक के भ्रान्तिपूर्ण स्वरूप का बोध हो गया है और जो अपने अन्तर में छिपे सनातन सत्य की खोज करने के कठिन कार्य को करने के लिए तत्पर हैं। प्रत्येक व्यक्ति उस मार्ग को चुनने के लिए स्वतन्त्र है जो उसे उचित प्रतीत हो, भले ही परम्परा-निष्ठता विभिन्न प्रकार के बन्धन लादती हो, परन्तु आजकल कोई भी उन्हें गम्भीरता से स्वीकार नहीं करता।

यदि आप सावधानी से और हिन्दू विचार और परम्परा के बाह्य आवरण को हटाकर इस सूत्र का अध्ययन करें तो आप देखेंगे कि यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्यनिष्ठ जीवन बिताने का आदेश देता है, न उससे कुछ अधिक और न कुछ कम। यहाँ सत्यनिष्ठ शब्द को व्यापक और तर्कग्राह्य अर्थों में समझना चाहिए। सत्यनिष्ठ शब्द सत्य से वना है। सत्यनिष्ठता का अर्थ है दृढ़ता और निष्ठा के साथ ऐसा जीवन जीना जो उ ग मान्यता के अनुकूल हो जिसे हम अपने हृदय के अन्तरतम में सत्य मानते हों, न कि वह जिसे हम अपनी वासनाओं के आवरणों में से देखते हों। यह भी सम्भव है कि इसका कुछ सम्वन्ध हिन्दू धर्म और दर्शन में प्रयुक्त संस्कृत के रहस्यपूर्ण शब्द 'ऋत' से हो। उस दर्शन के अनुसार इस विश्व का आधार एक गतिशील नीतिसंगत व्यवस्था है और उसी के अनुसार देश और काल की सीमाओं भें इस विश्व की अभिव्यक्ति होती है। 'ऋत' दिव्य अभिव्यक्ति का एक अप्रकट नियम है। दिव्य कल्पना और दिव्य संकल्प ही इस नियम के आधार हैं। काल और देश की सीमाओं में, व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही दृष्टियों से, किसी भी समय प्रत्येक कार्य या गति की सहज सत्यता इस दिव्य नियम से निर्धारित होती है। यदि कोई चीज ऋत के अनुकूल है तो वह सही है, अन्यथा वह गलत है।

हम सत्यनिष्ठता के दार्शनिक पक्ष की और व्याख्या नहीं करेंगे। परन्तु पूर्णत्व और मुक्ति मार्ग के पथिक के लिए यह एक आवश्यक गुण है। अतः हम इसके व्यावहारिक पक्ष का विचार करेंगे।

यदि हम अपने जीवन और व्यवहार को सत्यनिष्ठता के सिद्धान्त के अनुसार संचालित करने का निश्चय कर भी लें तो हम यह निर्णय कैसे करें कि किन्हीं परिस्थितियों में सही क्या है ? ऐसे कोई निश्चित नियम नहीं हैं जो इस विषय में हमारा मार्ग दर्शन कर सकें। सही क्या है। यह केवल बुद्धि के प्रकाश की सहायता से ही जाना जा सकता है। आत्मिक चेतना का ऋत से सम्पर्क रहता है और बुद्धि ही उस चेतना को मन में प्रतिविम्बित करती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बुद्धि के प्रकाश में सत्य को देख पाने की क्षमता तब ही प्राप्त हो सकती है जब निष्ठा से और किसी भी मूल्य पर सही व्यवहार करने की सहज आदत वन जाए, चाहे उसमें हमें कितनी ही असुविधा या हानि क्यों न हो। यहाँ फिर एक सुचक्र कार्य करता है। जो हमें सत्य दिखता है उसके अनुरूप हम जितना अधिक अपना जीवन बिताएँगे उतना ही अधिक सही-सही और आसानी से हम यह देख सकेंगे कि सत्य क्या है। जितना अधिक हम बुद्धि के प्रकाश में सत्य को देख पायेंगे उतना ही अधिक उसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवहार में लाना सरल हो जाएगा। यही एक मात्र विधि है जिससे सच्ची सत्यनिष्ठता प्राप्त की जा सकती है और उसे अपने स्वभाव का एक अंग बनाया जा सकता है। तभी हम बिना संघर्ष, बिना हिचकिचाहट और बिना किसी प्रयत्न के सही कार्य कर सकेंगे। इसमें सन्देह नहीं, कि प्रारम्भ में हमें कुछ सुनिश्चित नियमों का पालन करना पड़ेगा। क्योंकि कुछ व्यवहार ऐसे हैं जो सभी परिस्थितियों में सदैव ही सही होंगे या गलत होंगे। इस प्रकार का नियंत्रण हमारे मन को पवित्र करता है और बुद्धि के प्रकाश को थोड़ा-बहुत मन में प्रतिबिम्बित होने में सहायक होता है। परन्तु हम सदैव ही इन नियमों पर निर्भर नहीं रह सकते। बाद की तथा उच्च अवस्थाओं में तो हमें अन्ततः अपनी अन्तःप्रज्ञा पर निर्भर रहना पड़ेगा।

यहाँ यह बात समझ लेना महत्त्वपूर्ण है कि जो साधक भक्ति-मार्ग अथवा राजयोग के मार्ग से अपने आत्मिक स्वरूप को सचमुच ही विकसित करना चाहता है उसके लिए सत्यनिष्ठ जीवन अनिवार्य है। सत्यनिष्ठ जीवन के महत्त्व के कई कारण हैं और उनकी पुनरावृत्ति उचित ही है। एक तो हमारी सुरक्षा का एक मात्र उपाय सत्यनिष्ठता ही है और विशेषतः उच्च अवस्थाओं में। इसका कारण यह है कि चेतना की उच्च अवस्था प्राप्त करने के फलस्वरूप शक्तियाँ स्वाभाविक रूप से प्रकट होने लगती हैं और व्यक्तिगत लाभ के लिए उनके दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है। दूसरे, इसी के कारण उस अतिरिक्त संघर्ष से बचा जा सकता है जो निरन्तर मन को व्यग्र बनाता है और उसको शान्त और संयत बनाना असम्भव कर देता है। तीसरे, सत्यनिष्ठता के बिना बुद्धि के प्रकाश को मन में लाना सम्भव ही नहीं है। और अन्तिम पूर्णतः सत्यनिष्ठ जीवन पर आधारित मन के माध्यम से ही दिव्य जीवन और चेतना कार्य कर सकती है। एक असत्य जीवन का पवित्र और परात्पर ईश्वर के जीवन से मिलन कैसे सम्भव है? वह हमारे हृदय में कैसे आ सकता है यदि हमने उसके स्वागत के लिए सत्यनिष्ठता से उसे पूर्णतः पवित्र नहीं बना लिया है? हम यह भी देखेंगे कि बहुत से गुह्यविदों और भक्तों का जीवन असत्य की चट्टान से टकरा कर नष्ट हो गया।

१३. यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि सन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति। (४८)

जो कर्मफल का त्याग करता है, जो समस्त कर्म भी ईश्वर को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समर्पित कर देता है (अथवा जो हर कार्य ईश्वर-इच्छा की पूर्ति के लिए करता है) और जो सब कुछ त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जाता है।

यह सूत्र भी अत्यन्त महत्त्व का है और इसे हमें अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका सम्बन्ध कर्म की समस्या से है। कर्म कैसे किये जाएँ, जो उनके फल बन्धन के कारण न बनें। जैसा श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है, कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिए भी कर्म किए बिना रह नहीं सकता। कर्म को यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में समझना चाहिए। कर्म में हमारी समस्त शारीरिक क्रियाएँ ही नहीं, हमारी कामनाएँ और विचार भी आ जाते हैं। यह भी सच है कि कर्म, प्रवृत्तियाँ या भविष्य में हमारी कामनाओं की पूर्ति की क्षमता उत्पन्न करने के कारण प्रत्येक प्रकार का कर्म हमारे बन्धन का कारण बन जाता है। इन सबसे हमारे बन्धनों का निर्माण निरन्तर होता रहता है। कर्म तो काटने ही होंगे, हमारी कामनाओं के कारण जो अनुभव आवश्यक हो गये हैं उनमें होकर गुजरना ही होगा। जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं उन्हें समाप्त करना होगा। इन अनुभवों में होकर गुजरने की प्रक्रिया में हम नये कर्म, नई प्रवृत्तियाँ और नई वासनाएँ और कामनाएँ उत्पन्न करते रहते हैं। इस प्रकार ऐसा लगता है कि यह प्रक्रिया कभी समाप्त ही नहीं होगी। एक प्रकार का दुश्चक्र बन जाता है जो हमें जन्म-मरण के चक्र से और उस चक्र से सम्बन्धित समस्त भ्रान्तियों और सीमाओं से बाँध देता है। तो क्या इस दुश्चक्र से निकलने का कोई उपाय नहीं है ? हाँ, वह है और उसका संकेत इस सूत्र में दिया गया है जिसकी व्याख्या हम कर रहे हैं। उसमें बताई विधि हमें हमारे कर्मों के बन्धनकारी प्रभाव से ही मुक्त नहीं करती वरन् हमारी भक्ति को भी विकसित करती है और हमें दिव्य जीवन का एक सचेतन यंत्र बना देता है। इसके अतिरिक्त वह हमें उन द्वन्द्वों के प्रभाव से भी मुक्त करती है जिनके कारण हमारा मन बराबर अशान्त बना रहता है। हम इन बातों को थोड़े अधिक विस्तार से देखें और इनके आन्तरिक महत्त्व को समझने का प्रयास करें। हम इस सूत्र से वास्तव में कर्म-योग की बात कर रहे हैं। वही समस्त उच्च-योग प्रविधियों के लिए तैयारी तथा अत्यावश्यक आधार है। जब तक हम इस प्रकार कर्म करना नहीं सीख लेते कि उनसे कार्य-कारण की श्रृंखला में हमें निरन्तर बाँधने वाले कर्म ही न बनें तो हम मुक्ति प्राप्त करने की आशा कैसे कर सकते हैं ? जब हम इस विधि को सीख लें और हमसे भविष्य के लिए कोई नये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्म न बनें तब ही मुक्ति की तैयारी के लिए हमारे पुराने कर्मों की समाप्ति का मार्ग खुलता है। इस कर्म-योग की व्याख्या भगवद्गीता में बहुत विस्तार से की गई है परन्तु हम यहाँ बहुत ही संक्षेप में उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

पहली बात तो यह है कि हम यह अच्छी तरह समझ लें कि इस निष्काम कर्म करने की विधि सीखने की आवश्यकता क्या है ? निष्काम कर्म का अर्थ है इस प्रकार कर्म करना कि भविष्य के लिए कोई कर्म शेष न रह जाए और वह हमें निम्न लोकों की भ्रान्तियों और सीमाओं में न बाँधे। जैसा हम सब जानते हैं, काम अर्थात् वासनाओं और कामनाओं की पूर्ति केवल तीन निम्नतर लोकों में ही हो सकती है। इनमें ही देहात्मा कार्य करता है। अतः निष्काम कर्म वह है जो ऐसी वासनाओं और कामनाओं से सम्बन्धित नहीं है। स्पष्ट है कि जब हम कोई कर्म निम्न व्यक्तिगत कामना से प्रेरित होकर करते हैं तो उस कर्म में बुराई केवल उसके उद्देश्य के कारण है। इस उद्देश्य से उत्पन्न प्रभाव ही तो भविष्य में हमारे बन्धन के कारण बनते हैं। केवल यही बात नहीं है कि उस कर्म के पीछे कोई उद्देश्य है अपितु वह उद्देश्य भी ऐसा है कि उससे उत्पन्न कर्मों का भोग निम्न लोकों में ही सम्भव है और वही बन्धन का कारण बन जाता है। निस्संदेह बिना किसी उद्देश्य के कर्म करना तो सम्भव ही नहीं है। परन्तु यह तो सम्भव है कि जिस निम्न उद्देश्य से अवांछनीय परिणाम प्राप्त होते हैं उसके स्थान पर उच्चतर उद्देश्य से कार्य करें जिससे वैसे परिणाम प्राप्त न हों। यह करना सम्भव है और निष्काम कर्म की विधि सीखने में यही किया भी जाता है। अतः निष्काम कर्म उद्देश्य-विहीन कर्म नहीं है, न वह कामनारहित कर्म है जैसा कि बहुत से लोग गलती से सोचते हैं। वह तो ऐसा कर्म है जिसमें देहात्मा की वे निम्नतर कामनाएँ हैं ही नहीं जिनकी सन्तुष्टि केवल निम्न लोकों में ही हो सकती है। प्रत्येक कर्म के पीछे एक उद्देश्य और कामना या भावना आवश्यक रूप से होनी ही चाहिए, परन्तु वह भावना आध्यात्मिक होनी चाहिए। मार्ग प्रकाशिनी (लाइट ऑन दी पाथ) में क्या लिखा है आइए उस पर विचार करें। पहले छः सूत्र है :—

१. महत्त्वाकांक्षा को समाप्त कर दो।
२. जीवन की तृष्णा को समाप्त कर दो।
३. सुख-प्राप्ति की कामना को समाप्त कर दो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४. पृथक्ता की समस्त भावना समाप्त कर दो।
५. संवेदन की इच्छा को समाप्त कर दो।
६. उन्नति की आकांक्षा को समाप्त कर दो।

और इसके बाद है छह अन्य सूत्रों का समूह :—

१. जो तुम्हारे अन्दर है केवल उसी की इच्छा करो।
२. जो तुमसे परे है केवल उसी की इच्छा करो।
३. जो अप्राप्य है केवल उसी की इच्छा करो।
४. शक्ति की उत्कट इच्छा करो।
५. शांति की तीव्र इच्छा करो।
६. सर्वोपरि आत्मिक संपत्तियों की इच्छा करो।

इच्छा का प्रथम समूह देहात्मा या निम्न 'स्व' की कामनाएँ या इच्छाएँ हैं। इच्छाओं का दूसरा समूह जीवात्मा या उच्च 'स्व' की इच्छाएँ हैं। अतः यह स्पष्ट ही है कि सभी इच्छाओं या कामनाओं को नहीं, बल्कि हमें केवल निम्न इच्छाओं को ही निकाल देना या समाप्त करना है। आप शक्ति और सम्पन्नता तक की कामना कर सकते हैं परन्तु ये जीवात्मा या उच्च 'स्व' से सम्बन्धित होनी चाहिए।

अब हम पूछ सकते हैं कि सामान्यतः हमारे कार्यों के पीछे जो निम्न व्यक्तिगत कामनाएँ होती हैं उनके स्थान पर कौन-सा उद्देश्य या भावना आनी चाहिए जिससे भविष्य में अवांछनीय कर्म उत्पन्न करने की उनकी शक्ति ही समाप्त हो जाए। भक्ति-मार्ग पर चलने वालों के लिए इस प्रश्न का उत्तर भगवद्गीता में बिल्कुल स्पष्ट है। सभी कर्म ईश्वर को समर्पित कर दो। दूसरे शब्दों में, समस्त कर्म उसकी सेवा के लिए या उसे समर्पित करने के लिए ही करो। उद्देश्य या भावना के इस परिवर्तन से कार्य की निम्न व्यक्तिगत कर्म उत्पन्न करने की क्षमता समाप्त हो जाती है। परन्तु बस इतना ही नहीं होता। इसका एक शक्तिशाली प्रभाव और भी होता है। वह भक्त को अपने प्रियतम से मिलन के लक्ष्य की ओर बढ़ने में बड़ा सहायक होता है। अपने सारे कर्मों को भगवान् के चरणों में समर्पित करने के प्रभाव पर विचार तो कीजिए। यदि आप उसे एक पुष्प अर्पित करते हैं या उसकी वन्दना करते हैं तो सचमुच आपका हृदय तुरन्त भावना से भर जाता है और आप के भाव के अनुसार थोड़ी या अधिक भक्ति आपके हृदय में उमड़ने लगती है। परन्तु दिन भर अपने समस्त कर्मों के समर्पण से आराधना की एक अखण्ड

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थिति निर्मित हो सकती है। इसके प्रत्युत्तर में उसकी कृपा प्राप्त होगी ही और वह आपकी भक्ति में अत्यन्त तीव्रता से वृद्धि कर देगी। बहुत से लोग सोचते हैं कि व्यक्तिगत भावना निकल जाने पर निष्काम कर्म केवल सूखा और नीरस कर्तव्यपालन मात्र ही रह जाएगा और इसीलिए वे उससे कतराते हैं। वे यह नहीं समझते कि सच्चे भक्त के लिए यह अपने प्रभु के चरणों में अपने जीवन का आनन्दपूर्ण समर्पण है। यदि हमारे हृदय में सच्चा प्रेम है तो यही प्रेम का नित्य पर्व है। वह हमारे जीवन से समस्त उदासीनता, निराशा और खिन्नता समाप्त कर देता है और इसी से तो अधिकांश लोग पीड़ित हैं। यदि हम यह अनुभव करें कि हम यह कर्म उस प्रभु के लिए कर रहे हैं तो हम नीरस से नीरस और अत्यन्त अरुचिकर कार्य भी बड़े उल्लसित हृदय से कर सकेंगे।

और यदि यह प्रक्रिया जारी रहती है और आप निष्काम कर्म करने में प्रवीण हो जाते हैं तो फिर आप देखेंगे कि आपके अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म परिवर्तन हो रहा है। आपको लगेगा कि आप उसके जीवन और प्रेम के अधिकाधिक यंत्र बनते जा रहे हैं। आप पायेंगे कि आपके माध्यम से, आपके प्रयत्न बिना ही, उसकी शक्ति, उसका प्रेम उसकी सहायता उन तक पहुँच रही है जिनके बीच और जिनके लिए आप कार्य करते हैं। आप तो केवल नलिका मात्र बन जाते हैं परन्तु उस नलिका से उसी का जीवन और प्रेम प्रवाहित होता रहता है। और तब और भी उच्चतर अवस्था में आपको एक अनुभव होगा। आपको लगेगा कि यही आपके हृदय में विराजमान है और आपके समस्त कार्यों का निर्देशन कर रहा है। यह तो वह सदा से ही करता आ रहा है परन्तु अपने अहं में तथा कर्तापन के झूठे अभिमान के कारण आपने उसका अनुभव ही नहीं किया और उसके मार्ग में ही सभी प्रकार की बाधाएँ उपस्थित कीं और उसकी शक्ति और प्रेम के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। परन्तु अब आप जान गये हैं। आपने अब उस निर्देशन और आन्तरिक प्रवाह के प्रति पूर्ण समर्पण कर दिया है। वह आपके अन्तर में शासन करता है और आप उसके यंत्र बनने में आनन्दित होते हैं। यही कर्म योग की पूर्णावस्था है।

१४. तन्तु-विषय-त्यागात् सङ्गत्यागाच्च। (३५)

वह (भक्ति) विषय त्याग और संग त्याग से बढ़ती है।

यह सूत्र संसार के सभी विषयों के प्रति आसक्ति से मन को मुक्त करने की आवश्यकता की ओर संकेत करता है। यह स्थिति बहुत से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधकों को चिन्तित और उद्विग्न बना देती है। इसका वे यह अर्थ समझते हैं कि उन्हें अपनी वे वस्तुएँ त्यागनी होंगी जिन्हें वे अपने आराम और सुख के लिए आवश्यक समझते हैं। यह तो निस्सन्देह सच है कि आन्तरिक आसक्ति की डोर से हजारों विषय-वस्तुओं में फँसा मन आत्म-खोज के दिव्य प्रयास के लिए उपयुक्त ही नहीं है। वे विषय-वस्तुएँ निरन्तर और बलपूर्वक मन को नीचे की ओर खींचेंगी और उसे निम्न जगत् में ही फँसाये रखेंगी, भले ही हमारी उत्कट आकांक्षा और इच्छा अपने आप को इन बन्धनों से मुक्त कर लेने की क्यों न हो।

परन्तु हमारे मन में यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हम क्या करना चाहते हैं। हमें अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधन भी अपनाने चाहिए। क्या निम्न जगत् में मन की आसक्ति उन वस्तुओं की संख्या पर निर्भर करती है जो उसके आस-पास हैं या जिनसे उसका लगाव है? क्या सौ वस्तुएँ रखने वाला व्यक्ति दस चीज रखने-वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आसक्त है? और क्या एक भिखारी जिसके पास कुछ नहीं है विरक्त है? निश्चय ही ऐसी बात नहीं है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस जगत् से हमारा लगाव या आसक्ति वस्तुओं की संख्या पर निर्भर नहीं करती बल्कि हमारे दृष्टि-कोण और हमारी विवेक-शक्ति पर निर्भर करती है। वह इस जगत् को कितना सही परिप्रेक्ष्य में और बिना भ्रान्ति के देख पाती है। कामना ही हमारी सम्पत्ति और क्रियाओं के चारों ओर भ्रान्ति का निर्माण कर डालती है। इस सारी समस्या में मनःस्थिति ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है, वातावरण और उसमें उपलब्ध वस्तुएँ नहीं। यह सच है कि यदि हममें पर्याप्त विवेक जाग्रत हो गया है तो हम सभी प्रकार की अनावश्यक वस्तुएँ एकत्रित नहीं करेंगे। उसमें तो व्यर्थ ही समय और शक्ति का अपव्यय होता है—पहले उनको प्राप्त करने में और फिर उनकी रक्षा करने में। परन्तु कभी-कभी कर्म हमें ऐसी परिस्थितियों में डाल देता है जहाँ ये वस्तुएँ हमें सहज ही उपलब्ध हो जाती हैं और कभी-कभी तो हमारे बिना चाहे हुए भी अथवा हमारे कार्य के लिए बहुत-सी वस्तुएँ आवश्यक हो सकती हैं जो दूसरों को अनावश्यक प्रतीत हों। ऐसा सोचना कि अपने आपको इन वस्तुओं से वंचित कर देने मात्र से हमारी आसक्ति कम हो जाएगी व्यर्थ की आशा है। यदि हमारे हृदय में प्रेम नहीं है और हमारी विवेक-शक्ति जाग्रत नहीं हुई है तो फकीर का जीवन अपनाने से हमें कोई लाभ नहीं होगा। आगे-पीछे, हमारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कामनाएँ हमें उस जगत् में लौटने को बाध्य कर देंगी जिसको हम समझते हैं कि हमने त्याग दिया है। मैंने लोगों को हिमालय की कन्दराओं में जाते और वर्षों तक रहते और फिर पहले जितने ही दीन और दुःखी लौटते देखा है। असल बात यह है कि ये बाह्य वस्तुएँ बिल्कुल भी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण तो है हमारे हृदय का प्रेम। महत्त्वपूर्ण है वह विवेक जिससे हम जीवन की भ्रान्तियों को स्पष्ट देख सकें और परिणामतः उन भ्रान्तियों पर विजय पाने का निश्चय कर सकें। यदि हमारा मन विवेक के प्रकाश से जगमगा रहा है और हमारा हृदय दिव्य प्रेम से भरा है तो यह बिल्कुल भी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम कैसे रहते हैं और इस भौतिक जगत् में हमारे पास क्या है। हम तो अपने आप को प्रभु का प्रबन्धक मात्र समझेंगे और यदि परिस्थितियों के कारण यह आवश्यक या वांछनीय हो तो हम सब कुछ त्यागने को तत्पर रहेंगे।

अतः इस सम्बन्ध में मूल समस्या सही दृष्टिकोण अपनाने की और आन्तरिक विरक्ति उत्पन्न करने की है। यह विरक्ति तीव्र विवेक और जीवन की उस आन्तरिक सम्पन्नता पर निर्भर करती है जिसे अपनी परिपूर्ति के लिए बाहर से कुछ नहीं चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि हमें अपने आपको भार-मुक्त करने तथा सही दृष्टिकोण प्राप्त करने के लिए कुछ वस्तुओं का त्याग नहीं करना चाहिए। यदि इससे सहायता मिलती हो तो हम ऐसा अवश्य करें। परन्तु हमें अपना ध्यान आन्तरिक दृष्टि-कोण और मनःस्थिति पर केन्द्रित कर देना चाहिए। हमें अपने वातावरण और सांसारिक जीवन-विधियों में बाह्य परिवर्तनों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। हमें अपने चारों ओर देखने भर की और उन लोगों के जीवन से शिक्षा लेने की आवश्यकता है जो इन बाह्य बातों में विश्वास करते हैं और अवसर निकल जाने पर यह अनुभव करते हैं कि इन बातों का तनिक भी महत्त्व नहीं है। वास्तव में ये बाह्य बातें कभी-कभी सुरक्षा या अहंकार तक की झूठी भावना उत्पन्न कर देती हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से हमें सुला देती हैं।

इस सम्बन्ध में जो हमारे निकट और प्रिय हैं उनके प्रति प्रेम के प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है। यह प्रेम यदि विवेकपूर्ण नहीं है तो बन्धन का कारण भी हो सकता है। वास्तव में, इस प्रकार का प्रेम सामान्यतः कहीं अधिक प्रबल आसक्ति का कारण होता है और हमें जड़ वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक दृढ़ता से निम्न लोगों से बाँध सकता है। ऐसे प्रेम का हम क्या करें जिसे अपनी विकास-प्रक्रिया में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमने विभिन्न जीवात्माओं के साथ अनेक बार के सम्पर्कों से विकसित किया है ? क्या हम ऐसे प्रेम को कुचल डालें, जैसा कि बहुत से झूठे वेदान्ती कहते हैं ?

यह एक कठिन समस्या है। अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों में प्रेम के अंकुरों को कैसे सुरक्षित रखें और उन्नत करें और फिर भी उन्हें बन्धन न बनने दें। इन व्यक्तिगत्त प्रेम के माध्यमों से ही हमारी प्रेम करने की शक्ति विकसित हुई है। उन्हें समाप्त कर देना वास्तव में एक उल्टा कदम होगा और हमें कम संवेदनशील बना देगा और मुक्ति-पथ पर चलने की हमारी क्षमता कम कर देगा। फिर भी भारत में बहुत से लोग अपने गुरुओं की प्रेरणा और निर्देशन में यही करने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार अपने आपको कठोर हृदय और पीड़ित मानव के चीत्कार और मानवीय स्नेह की माँग के प्रति उदासीन बना लेते हैं।

स्पष्ट है कि समस्या के प्रति यह नितान्त ही त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण है। इसका समाधान भी विवेक-शक्ति द्वारा ही सम्भव है। हमें प्रेम तो करना चाहिए परन्तु बुद्धिमत्तापूर्वक। साधारण मानवीय प्रेम अपने आपमें बुरा नहीं है। परन्तु बुराई देह-भाव से इतना अधिक आसक्त होने में है कि वह हमारे मन की स्वतन्त्रता को और हमारे निर्णयों को प्रभावित करने लगे। अतः जिन व्यक्तियों से हम प्रेम करते हैं उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण इस प्रकार हो कि हमारा प्रेम तो यथावत् बना रहे परन्तु वह हमारा बन्धन न बन जाए। यह दुष्कर अवश्य है, ठीक वैसे ही जैसे वे सभी व्यवस्थाएँ कठिन होती हैं जिनमें हमारी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है। विरक्ति उत्पन्न करने में ऐसे सभी प्रेम को समाप्त कर देना और अपने आप को कठोर और संवेदनाविहीन बना लेना अत्यन्त सरल है। परन्तु ऐसा करना वास्तव में स्नान जल के साथ बच्चे को भी फेंक देने के समान होगा। इसमें धीरे-धीरे सही मार्ग से विचलित हो जाने की भी आशंका बनी रहती है।

वास्तव में इस समस्या का कोई प्रभावशाली और स्थायी हल है ही नहीं सिवाय इसके कि दिव्य जीवन से अपनी एकता का ऐसा बोध विकसित किया जाए कि हम हर वस्तु में ईश्वर को और ईश्वर में हर वस्तु को देख सकें। क्योंकि, जब इस बोध के फलस्वरूप हमारे हृदय में महान् प्रेम उत्पन्न होता है तो समस्त छोटे-छोटे प्रेम अपना उचित स्थान ग्रहण कर लेते हैं और तब उन्हें इस महान् प्रेम की पृष्ठभूमि में देखा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और अनुभव किया जाता है। एक बार एक शिष्य ने भगवान् बुद्ध से पूछा कि क्या तथागत अभी भी अपने पुत्र से प्रेम करते हैं। भगवान् बुद्ध का उत्तर सकारात्मक था। शिष्य को थोड़ा परेशान-सा देख कर उन्होंने कहा : "महान् प्रेम में क्षुद्र प्रेम समाया हुआ है।" यह है बुद्धिमत्तापूर्वक प्रेम करने का रहस्य—इन समस्त तुच्छ प्रेमों को यहाँ तक कि व्यक्तिगत प्रेम को, उस सर्वव्यापक प्रेम के प्रतिबिम्ब के रूप में देख पाने की क्षमता, जो सभी प्राणियों को एक सूत्र में बाँधे हुए है। अतः हमें इस व्यक्तिगत प्रेम के लिए परेशान नहीं होना चाहिए। अपितु अपनी समस्त शक्ति उस महान् प्रेम को विकसित करने में लगा दें। यदि हम ऐसा कर पाने में थोड़ा भी सफल हो सके तो हमारे व्यक्तिगत प्रेम की समस्या अपने आप और सहज ही सुलझ जाएगी।

'नारद भक्ति-सूत्र' में बहुत से सूत्र हैं जिनमें कुछ मानसिक और नैतिक गुण दिए हुए हैं जिन्हें भक्ति मार्ग के साधक को विकसित करना चाहिए। इस प्रश्न की चर्चा दूसरे खण्ड में हो ही चुकी है, अतः हमें अब इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : २२

समाधि-योग की आवश्यक प्रविधि

पातञ्जलि का 'योग सूत्र' १९६ सूत्रों का ग्रन्थ है। यह चार भागों (पदों) में विभक्त है। प्रथम भाग में योग का सामान्य स्वरूप और उसकी विधि दी गई है। योग की एक आवश्यक प्रविधि समाधि है। इसीलिए इसका उल्लेख प्रथम भाग में किया गया है यद्यपि इसे समझना थोड़ा कठिन है। दूसरे भाग में मानवीय सीमाओं, भ्रान्तियों और परिणामतः दुःखों की तथा क्लेशों के दर्शन की चर्चा की गई है। यह दर्शन जीवात्मा को इन क्लेशों से मुक्त होने की सामान्य विधि बताता है। योगी-जीवन के लिए प्रारम्भिक तैयारी का भी इसमें उल्लेख है। पातञ्जलि योग के आठ अङ्गों में से प्रथम पाँच का वर्णन इसी भाग में किया गया है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण भाग में इस योग का मूल दर्शन और प्रारम्भिक अभ्यास दिए गए हैं। अपने मन को सचमुच और प्रभावशाली ढंग से नियंत्रित करने से पहले साधक को इन अभ्यासों में पारंगत हो जाना चाहिए। इस प्रकार एक नये साधक के लिए यह भाग अत्यधिक महत्व का है। तीसरे भाग में केवल उन मानसिक अभ्यासों का वर्णन है जिनकी परिसमाप्ति समाधि में अथवा समाधि के सफल अभ्यास से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों में होती है। इन उपलब्धियों में सिद्धियाँ ही नहीं बल्कि सीमाओं और भ्रान्तियों से चेतना की अन्ततः मुक्ति भी सम्मिलित है। तभी तो फिर कैवल्य प्राप्त होता है। अन्तिम भाग में योग के सामान्य दर्शन और मनोविज्ञान की तथा कैवल्य तक ले जाने वाली अन्तिम स्थितियों का वर्णन है। अतः यह स्पष्ट हो गया होगा कि इस ग्रंथ का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और राज-योग की विधि से आत्मानुसन्धान और आत्मानुभूति की सभी समस्याओं की इसमें व्याख्या है। प्रतिपादित विषय की व्याख्या सूत्रों में की गई है। इसलिए सच्चा ज्ञान तो प्रत्येक को अपने मन में सावधानी से विचार और मनन करके धीरे-धीरे ही प्राप्त करना होगा। परन्तु साधक के लिए यह विषय इतना रोचक और महत्त्वपूर्ण है कि वह परिश्रम सर्वथा उपयुक्त ही है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजयोग-विद्या मानवीय विकास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की आत्मनिर्देशित अन्तिम अवस्थाओं से सम्बन्धित है। मुक्ति या समस्त मानवीय सीमाओं और भ्रान्तियों के परे जाने में ही इसकी परिपूर्णता है। अतः इस विद्या का सैद्धान्तिक अध्ययन और व्यावहारिक अनुप्रयोग सरल होगा, यह आशा नहीं करनी चाहिए। परन्तु जिनका विवेक अंशतः भी जाग्रत हो गया है उनके लिए यह, इसी जीवन के लिए नहीं अपितु सदा-सदा के लिए, सीमाओं और कष्टों से मुक्त होने के प्रभावशाली और अनुभूत साधन प्रस्तुत करती है। यदि साधक सम्पूर्ण प्रविधि के अनुसार तुरन्त अभ्यास प्रारम्भ न भी कर सके तो भी उसे कम से कम इसके सैद्धान्तिक पक्षों का अच्छी तरह अध्ययन कर लेना चाहिए क्योंकि प्रारम्भ से अन्त तक उसकी साधना-क्षेत्र के सभी पक्षों का सामान्य ज्ञान उसे इसी प्रकार मिल सकता है। फिर जैसे-जैसे उसकी इस विषय में रुचि बढ़े और उसकी क्षमता विकसित हो उसे अपने अभ्यास क्षेत्र को धीरे-धीरे विस्तृत करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह हमारे सच्चे गृह तक ले जाने वाला राजमार्ग है। इसे हमें सिद्धान्ततः तो जानना ही चाहिए, चाहे मार्ग में बिलम्ब करने की हमारी प्रवृत्ति ही क्यों न हो। हमें तो अभी बहुत लम्बा मार्ग तय करना है।

इस पुस्तक में हमारा उद्देश्य इस विषय का सामान्य ज्ञान ही उपलब्ध कराना है। इसलिए हम कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र लेकर उनकी व्याख्या करेंगे जिससे राज-योग के आवश्यक पक्षों के विषय में हमारे विचार स्पष्ट हो सकें।

हम अपनी व्याख्या प्रथम भाग के सुपरिचित सूत्र से प्रारम्भ कर सकते हैं। यह योग प्रविधि को चार शब्दों में परिभाषित करता है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (१–२)

चित्त वृत्तियों का निरोध (सर्वथा रुक जाना) योग है।

भाष्य में इस सूत्र के चार शब्दों का अर्थ समझाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु केवल शब्दों का अर्थ जानकर कोई भी व्यक्ति सूत्र के वास्तविक महत्त्व को नहीं समझ सकता। इस सूत्र का क्या अर्थ है यह समझने के लिए उसे पूरी पुस्तक को अच्छी तरह समझना होगा। इस सूत्र को समझने का वास्तव में अर्थ है योग की सारी विधि को ही समझ लेना। इसलिए एक नये साधक को इस सूत्र के सामान्य अर्थ को समझ कर ही सन्तोष कर लेना चाहिए और जब तक वह पूरी पुस्तक का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्ययन न कर ले तब तक इसके गहरे महत्त्व के बारे में उसे चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

परन्तु इस सम्बन्ध में हम एक वैज्ञानिक उदाहरण पर विचार कर सकते हैं। सम्भवतः वह इस सूत्र के महत्त्व को एक लम्बी टीका की अपेक्षा अधिक स्पष्ट कर सके। मान लीजिए, आपके पास साफ पानी से भरा एक शीशे का तालाब है। पानी में एक हजार कैण्डिल शक्ति का एक जलता हुआ बल्ब लटक रहा है। जो भाग आपको दिखाई नहीं देता उस ओर एक बिजली की मोटर से चलने वाली छोटी-सी टरबाईन लगी है। वह विभिन्न गतियों से पानी का मन्थन कर सकती है। यदि पानी पूर्णतः स्थिर है तो जलते हुए बिजली के बल्ब को आप साफ-साफ देख सकते हैं परन्तु तब आपको पानी दिखाई नहीं देगा। मान लीजिए आप मोटर चला देते हैं और धीरे-धीरे बढ़ती हुई गति से पानी का मन्थन होने लगता है। पानी में इस हलचल के उत्पन्न हो जाने के फलस्वरूप क्या होगा ? जिस क्षण पानी में यह हिलन प्रारम्भ हो जाएगी बल्ब जैसा वास्तव में है वैसा दिखाई न देकर विकृत रूप में दिखाई देगा। हिलन जितनी अधिक होगी बल्ब उतना ही विकृत दिखाई देगा। साथ ही जो पानी पहले दिखाई नहीं देता था और बल्ब के प्रकाश को ग्रहण नहीं कर पाता था वह प्रकाश को ग्रहण करने लगेगा और अधि-काधिक दिखाई भी देने लगेगा। जैसे ही आप मोटर की गति बढ़ायेंगे और पानी की हिलन बढ़ेगी, पानी में आकृतियाँ बनने लगेंगी। ये आकृ-तियाँ क्रम से बड़ी तेजी के साथ बनेंगी और विलय हो जायेंगी। पानी में उत्पन्न ये क्षणिक आकृतियाँ इस कारण दिखाई देती हैं कि इन्होंने बल्ब से आने वाले कुछ प्रकाश को ग्रहण कर लिया है। ये अपने प्रकाश से नहीं बल्कि बल्ब से उधार लिए प्रकाश से प्रकाशित होती हैं। यदि मोटर की गति और बढ़ा दी जाए और पानी का विलोडन एक निश्चित सीमा तक पहुँच जाए तो ये आकृतियाँ इतनी अधिक और सघन हो जायेंगी कि बल्ब को पूरी तरह ढक लेंगी। आपको फिर बल्ब बिल्कुल भी दिखाई ही नहीं देगा। आपको केवल पानी में आकृतियाँ दिखाई देंगी जो बड़ी तीव्रता से निरन्तर बनती और बिगड़ती रहती हैं और ये उस बल्ब के प्रकाश से प्रकाशित होती रहती हैं जो स्वयं दिखाई नहीं देता। अब सारी प्रक्रिया को उलट दीजिए। मोटर की गति धीरे-धीरे घटाइए। पानी की हिलन को धीरे-धीरे कम होने दीजिए। आकृतियों की सघनता कम होने लगेगी और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे-जैसे गति कम होगी बल्ब दिखाई देने लगेगा यद्यपि वह अब भी विकृत रूप में ही दिखाई देगा। जैसे ही मोटर बन्द होगी और पानी की हिलन समाप्त होगी बल्ब अधिकाधिक दिखाई देने लगेगा। जब पानी फिर पूरी तरह स्थिर और शान्त हो जाएगा तब बल्ब विना विकृति के दिखाई देगा, आकृतियों का लोप हो जाएगा और पानी फिर दिखाई नहीं देगा। सारी प्रक्रिया उलट दी गई और हम फिर उसी प्रारम्भिक अवस्था को लौट आए।

कोई भी व्यक्ति इस उदाहरण और हमारे मन में उत्पन्न उद्वेगों और विकृतियों द्वारा आत्मतत्त्व को आवृत कर लेने की प्रक्रिया में अद्भुत समानता को सहज ही समझ सकता है। उसे उस विधि का भी संकेत मिल सकता है जिसके द्वारा उन आवरणों को हटाया जा सकता है और हमें अपने अन्दर के आत्मतत्त्व का बोध हो सकता है। परन्तु इस बात को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए कुछ बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना सम्भवतः आवश्यक है।

पहली बात तो हमें यह समझनी है कि जिन्हें चित्त-वृत्तियाँ कहा जाता है वे मन के उद्वेग, विकृतियाँ और सामान्य विकार होते हैं। ये ही हमारे आत्म-तत्त्व को आवृत कर लेते हैं और हमारे सच्चे दिव्य स्वरूप को हमसे छिपा लेते हैं। यदि किसी विधि से इन्हें दूर कर दिया जाए और मन पूर्णतः निर्मल और शान्त और विकाररहित हो जाए तो हमें उस आत्मतत्त्व का बोध हो सकता है जो हमारे चेतना-केन्द्र में पहले से ही प्रकाशित हो रहा है। योग में, मन के विभिन्न उद्वेगों और विकारों को धीरे-धीरे समाप्त किया जाता है जब तक कि वह उस तालाव के जल की तरह निर्मल, स्वच्छ और स्थिर नहीं हो जाता। वह रहता है परन्तु दिखाई नहीं देता। यही आत्मबोध की स्थिति होती है। परन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि मन के उद्वेगों और विकारों को दूर करने और आत्म-बोध-प्राप्ति की प्रक्रिया सिद्धान्त रूप में काफी सरल प्रतीत होती है तथापि वास्तव में ऐसा नहीं है। वर्तमान की प्रबल प्रवृत्तियाँ, पूर्व के संवेग, कर्मों के प्राप्त संस्कार और कोषों में आवश्यक परिवर्तन लाने में धीमापन ही कठिनाइयाँ हैं। यही कारण है कि लम्बे समय तक संयम और योगाभ्यास आवश्यक होता है। कभी-कभी अति सरल और आसान विधियों की अनुशंसा की जाती है परन्तु उनसे इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। परिणाम तो सुनिश्चित हैं, परन्तु हमें प्रयत्न और त्याग के रूप में उसका मूल्य चुकाने को तैयार रहना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरी बात हमें यह समझनी है कि मन तो परम-तत्त्व के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। वह अपनी शक्ति से प्रकाशित नहीं होता। परम-तत्त्व तो सूर्य के समान है और मन चन्द्रमा के। मानसिक आकृतियों के अपने व्यक्तिगत जगत् में रहते हुए हमें जिस वास्तविकता की भावना होती है वह उस परमतत्त्व से प्रकाश ग्रहण कर लेने के कारण ही होती है। हम वास्तव में तो मानसिक जगत् में ही रहते हैं। यदि परमतत्त्व का जीवन और प्रकाश उसे प्रकाशित और शक्ति प्रदान न करता रहे तो जगत् निष्प्राण हो जाएगा।

फिर भी, हमें यह अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि आत्मा की चेतना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ही मन के द्वारा ग्रहण की जाती है और मन के विकारों में वह अदृश्य हो जाती है। अपने लोक में तो आत्मा नित्य, चैतन्य बना रहता है, ठीक ऐसे ही जैसे जलता हुआ बिजली का बल्ब पहले की तरह ही चमकता रहता है, भले ही पानी की हिलन के कारण उसका प्रकाश थोड़ा कम हो जाए और बाहर से वह बल्ब दिखाई ही न दे।

हमारे मन के अन्दर छिपे परम-तत्त्व को आवृत और अनावृत करने के सामान्य सिद्धान्त को समझ लेने के पश्चात् अब हम इस परम-तत्व को अनावृत करने की योग की विशिष्ट विधि का अध्ययन करेंगे। इस विधि को समाधि कहा जाता है और यही योग का सार-तत्त्व है। योग के अन्य सभी अभ्यास या विधियाँ प्रारम्भिक हैं और समाधि में सहायक हैं।

समाधि ध्यान की उच्चतम अवस्था है। उसमें ध्यान के लक्ष्य का ही भान रहता है, स्वयं मन तक का नहीं। यह किसी विषय पर ध्यान की परिपूर्णता है। इसमें सत्य की प्रत्यक्ष-अनुभूति की जाती है। इससे पहले 'धारणा' और 'ध्यान' की अवस्थाएँ और होती हैं। योगी 'धारणा' या एकाग्रता से प्रारम्भ करता है। जब धारणा पूर्ण हो जाती है तो वह ध्यान में परिवर्तित हो जाती है। ध्यान पूर्ण होने पर समाधि बन जाता है। इस प्रकार एकाग्रता की बढ़ती गहराई की एक सतत प्रक्रिया के ये तीन अंग हैं जैसा कि तीसरे भाग के निम्न तीन सूत्रों में परिभाषित किया गया है :—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (३-१)

किसी भी एक देश में (शरीर के भीतर कहीं भी या बाहर) चित्त को ठहराना 'धारणा' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् । (३-२)

(जहाँ चित्त लगाया जाए) उसी में मन की वृत्ति का एकतार चलना 'ध्यान' है।

तदेवार्थमात्रानिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । (३-३)

जब (ध्यान में) केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है और मन चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वही ध्यान 'समाधि' हो जाता है।

ध्यान की इन तीन क्रमिक अवस्थाओं का अन्तर और एक से दूसरी अवस्था कैसे प्राप्त होती है इसे भाष्य का अध्ययन करके समझा जा सकता है। यहाँ हम समाधि के आवश्यक स्वरूप पर विचार कर रहे हैं और उसे समझने के लिए नीचे दिये प्रथम भाग के ४१ वें सूत्र से प्रारम्भ करना आवश्यक है।

क्षीणवृत्तेभिजातस्येव मणेर्गृहीतृग्रहणग्राह्येपु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः । (१-४१)

जिसकी समस्त बाह्य चित्तवृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे स्फटिक-मणि की भाँति निर्मल चित्त के ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य का तदाकार हो जाना ही समाधि है।

यह सूत्र थोड़ा पेचीदा है। फिर भी एक साधारण उदाहरण के द्वारा समाधि की स्थिति को बड़े प्रभावशाली ढंग से स्पष्ट करता है। ऊपर कहा गया था कि समाधि किसी विषय-वस्तु या ध्येय का वास्तविकता-बोध प्राप्त करने की विधि है। यहाँ विषय-वस्तु या ध्येय को अत्यन्त व्यापक अर्थ में किसी भी ऐसी चीज के लिए प्रयोग किया गया है जिसे मन समझ या जान सके। हम यह भी जानते हैं कि बोध का अर्थ "होकर जानना" अर्थात् जिसका बोध प्राप्त करना है उसके स्वरूप में ही परिवर्तित होकर मन द्वारा जानना। यह भी अच्छी तरह ज्ञात है कि सामान्य समझना या जानना व्यक्ति-वस्तु सम्बन्ध पर आधारित है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय (जिसका ज्ञान प्राप्त किया जाए) की त्रिपुटी होती है। इन तीनों के मिलकर एक हो जाने पर चेतना की जो एक साम्य अवस्था होती है वही बोध का आधार होती है। समाधि से सम्बन्धित ये सभी विचार ऊपर दिए सूत्र में उदाहरण द्वारा स्पष्ट किए गए हैं। अतः यह सूत्र समाधि की स्थिति को बड़ी अच्छी तरह स्पष्ट करता है और इसके सही महत्त्व को समझने के लिए इसका अच्छी तरह मनन करना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहले हमें इसमें दिए उदाहरण का अर्थ और फिर समाधि के संबंध में उसके महत्त्व को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। मान लीजिए, आपके मेज पर फैलाया हुआ एक सुन्दर चित्र है और आप उस चित्र को एक अपारदर्शी शीशे से ढक देते हैं। अपारदर्शी शीशे के नीचे का चित्र अदृश्य हो जायगा और ऊपर से देखने वाले को उसका कोई भी भाग दिखाई नहीं देगा। अब कल्पना कीजिए कि कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिससे हम उस अपारदर्शी शीशे के उस भाग को धीरे-धीरे पू ंतः पारदर्शी बना सकते हैं। अतः हम शीशे के ऊपर एक वृत्त (गोला) खींच देते हैं और उस वृत्त के भीतर के स्थान पर उस विधि का प्रयोग करते हैं। धीरे-धीरे उस अपारदर्शी शीशे के वृत्ताकार स्थान की अपारदर्शिता कम होने लगती है और अन्त में वह पूर्णतः पारदर्शी हो जाता है। इसका परिणाम क्या होगा ? शीशे के पारदर्शी भाग के नीचे चित्र का भाग साफ-साफ दिखाई देने लगेगा परन्तु शेष भाग फिर भी छिपा रहेगा। चित्र के ऊपर शीशे का वह भाग बिल्कुल पारदर्शी हो गया है और अपारदर्शी शीशे के शेष भाग की भाँति प्रकाश के आने में वह बाधक नहीं होता। शीशा तो है परन्तु अब वह चित्र के दिखाई देने वाले भाग से एक हो गया है। आप शीशे पर एक और वृत्त खींच कर उसी प्रक्रिया को दोहरा सकते हैं और चित्र का एक और भाग दिखाई देने लगेगा। हमें समझना यह है कि शीशे के जिस भाग का अवरोध और विकृति समाप्त हो जाती है वह चित्र के सम्बन्धित भाग से एक हो जाता है या उसमें मिल जाता है मानों उसने चित्र का स्वरूप ही ले लिया हो, यद्यपि वह अभी भी वही है, कहीं विलुप्त नहीं हो गया। शीशे का जो भी भाग अवरोध और विकृति से मुक्त हो जाता है वह चित्र के ऊपर रखा है उसके उतने भाग के रंग, रूप और सुन्दरता को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है और उससे एक होकर उन्हें व्यक्त करता है। आप यह भी देखेंगे कि शीशे के विभिन्न भागों को उस प्रक्रिया द्वारा साफ करके हम चित्र के विभिन्न भागों को स्पष्ट कर सकते हैं। इस प्रकार यह सारी प्रक्रिया चयनात्मक हो जाती है।

तीसरी बात समझने की यह है कि अपारदर्शी शीशे के किसी भाग की विशिष्टता उस अवरोध पर निर्भर करती है जो उसे अपारदर्शी बनाता है। उसके बिना उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। अवरोधक पदार्थ की मात्रा में भिन्नता ही अपारदर्शी शीशे के एक भाग को दूसरे भाग से भिन्न बना देती है परन्तु यदि उस प्रक्रिया से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसका अवरोध समाप्त हो जाए, वह स्वच्छ पारदर्शी शीशा बन जाए तो उसका प्रत्येक भाग एक समान होगा। अतः अलंकारिक भाषा में हम यह कह सकते हैं कि शीशे का चित्र से तदाकार होना (मिलकर एक होना) अपारदर्शी शीशे की 'विशिष्टता' या "मैं-पन" खोने पर निर्भर करता है।

जिन्होंने समाधि की प्रक्रिया का थोड़ा भी अध्ययन किया है वे देख सकेंगे कि यह उदाहरण "होकर जानने" की प्रक्रिया को अच्छी तरह स्पष्ट करता है। सबीज समाधि का (जो निर्बीज समाधि से भिन्न है) लक्ष्य परम-तत्त्व की अनुभूति नहीं है। उसका लक्ष्य तो सीमित है अर्थात् किसी विषय-वस्तु—चाहे वह कुछ भी हो—के भीतर छिपे सत्य की अनुभूति करना। यही कारण है कि संयम के अभ्यास के लिए विशिष्ट विषय-वस्तु चुन ली जाती है और सबीज समाधि में उस विषय से सम्बन्धित छिपा सत्य प्रकट होता है। सभी अभिव्यक्त विषय-वस्तुओं के सम्बन्ध में वास्तविक सत्य समष्टि चेतना या ईश्वरीय चेतना में विद्यमान रहता है और वही किसी भी अभिव्यक्त सृष्टि में अपने अनेकानेक स्वरूपों में प्रकट होता है। जब हम किसी विषय-वस्तु के पीछे छिपे सत्य को जानने के लिए उसे संयम के अभ्यास के लिए चुनते हैं तो वास्तव में हम शीशे पर चित्र का एक विशिष्ट भाग अंकित करते हैं इसी भाग को हम स्पष्ट करना चाहते हैं। उस समष्टि चेतना के इस विशिष्ट भाग या पक्ष को हम 'होकर जानना' चाहते हैं। समष्टि चेतना में सभी अभिव्यक्त विषय-वस्तुओं से सम्बन्धित सत्य है और वह सम्पूर्ण चित्र के समान है। हमारा मन पारदर्शी शीशे के सदृश है। सबीज समाधि में हम ज़िस विषय-वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं वह उस भाग के समान है जो हम शीशे पर अंकित कर लेते हैं और किसी विशिष्ट विषय-वस्तु पर संयम का अभ्यास करने की प्रक्रिया पारदर्शी शीशे के विशिष्ट भाग को कुछ क्रिया द्वारा पारदर्शी बनाने के समान है ताकि चित्र का सम्बन्धित भाग स्पष्ट हो जाए। जैसे-जैसे हमारे मन की अपारदर्शिता कम होती जाती है, हम जिस विषय-वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं उससे सम्बन्धित सत्य हमें अधिकाधिक स्पष्ट होने लगता है और समष्टि चेतना में उस विषय से सम्बन्धित वास्तविकता पूर्ण रूप से प्रकट होती है। यही 'होकर जानने का' अर्थात् मन को लगभग अस्तित्वहीन करके तथा सबीज समाधि के विषय-वस्तु से उसे तदाकार करके जानने का रहस्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी की एक और उपमा दी जा सकती है। मान लीजिए एक गोलाकार हाल है। वह चारों ओर से सुरम्य प्राकृतिक दृश्यों से घिरे पहाड़ों के बीच में स्थित है। उस हाल में चारों ओर छोटी खिड़कियाँ हैं परन्तु वे बन्द हैं। आप उसी हाल में बैठे हैं। आप एक खिड़की खोलते हैं और उस खिड़की के सामने का सुन्दर दृश्य दिखाई देने लगता है। आप उस खिड़की को बन्द करके दूसरी खिड़की खोलते हैं तो अन्य दृश्य दिखाई देने लगता है। इस प्रक्रिया को दोहरा कर और एक के बाद एक खिड़की खोल कर आप आस-पास के स्थान के विभिन्न दृश्यों की झलक ले सकते हैं। सबीज समाधि में हम अपने मन की विभिन्न खिड़कियों को समष्टि चेतना के भूखण्ड पर खोलते हैं और इस प्रकार ध्यान करने के लिए चुने विभिन्न विषय-वस्तुओं के पीछे सत्यों की झलक प्राप्त करते हैं।

अब तक हम सीमित अनुभवों की बात कर रहे हैं, चाहे उनका स्वरूप कुछ भी हो। ये अनुभव विशिष्ट विषय-वस्तुओं की वास्तविकताओं से सम्बन्धित होते हैं। परन्तु स्वयं उस परम तत्त्व का बोध प्राप्त करने के लिए क्या किया ? हमारा अन्तिम लक्ष्य तो वही है, न कि अभिव्यक्ति की विशिष्ट विषय-वस्तुओं के पीछे छिपे सत्य को जानना। वह परमतत्त्व हमारी चेतना में कैसे प्रकट होगा ? उसके लिए हमें अपने मन में और अधिक गहराई से जाना होगा। वास्तव में तो हमें मन के क्षेत्र के परे स्वयं परम-तत्त्व के क्षेत्र में ही जाना होगा।

सबीज समाधि में हम अपना व्यक्तिगत मन समष्टि चेतना से एक कर लेते हैं और इस ऐक्य से समष्टि चेतना में जो है उसे जान लेते हैं, परन्तु समष्टि चेतना वह परमतत्व नहीं है। वह तो परम दिव्य चिन्तन का परिणाम है। वह चेतना तो परम-तत्त्व के आत्म और अनात्म में विभक्त हो जाने पर प्रकट होती है, ठीक ऐसी ही जैसे कि जब कलाकार अपने मन में कल्पना करता है तब उसकी चेतना से निकल कर चित्र बनता है। अतः यह स्पष्ट है कि हमें परम-तत्त्व तक पहुँचने के लिए समष्टि चेतना के परे जाना होगा। हमें दिव्य-चिन्तन के परे जाना होगा और उस चिन्तक या आत्म-तत्त्व में तदाकार होना होगा ताकि हम उस आत्म-तत्त्व के सत्य स्वरूप को जान सकें। यही निर्बीज समाधि की प्रक्रिया है जिसका वर्णन योग-सूत्र के पहले नहीं अन्तिम भाग में किया गया है। उस भाग में एक सूत्र है जिसकी व्याख्या हम यहीं करेंगे क्योंकि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह निर्बीज समाधि के स्वरूप को तथा सबीज समाधि से उसके अन्तर को स्पष्ट करता है। सूत्र है :—

चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकाराप्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्। (४-२२)

यद्यपि चेतन शक्ति (पुरुष) क्रिया से रहित और असंग है तो भी तदाकार हो जाने पर उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है।

यह सूत्र बहुत ही ज्ञानवर्धक है। परन्तु इसे समझने के लिए हमें एक दूसरा उदाहरण लेना पड़ेगा जो इस सूत्र के आन्तरिक महत्त्व को अत्यन्त ही प्रभावी ढंग से स्पष्ट करे।

मान लीजिए एक बिजली का बल्ब जल रहा है। उसके चारों ओर शीशे के अनेक ग्लोब लगे हैं। ये ग्लोब पारभासी हैं? इसलिए बल्ब से आने वाला प्रकाश उत्तरोत्तर कम हो जाता है। अतः बाह्यतम ग्लोब बिजली के बल्ब से आने वाले प्रकाश की तुलना में प्रकाशरहित प्रतीत होता है क्योंकि अधिकांश प्रकाश बीच के ग्लोबों में ही समा गया। हम यह भी कल्पना और करें कि ग्लोब पारभासी ही नहीं है बल्कि उन पर विभिन्न प्रकार के चित्र खोदे या बनाये गये हैं और किसी भी ग्लोब में आने वाले प्रकाश में वे चित्र प्रकाशित हो जाते हैं। अब कल्पना कीजिए कि बाह्यतम ग्लोब से प्रारम्भ करके एक-एक ग्लोब को हटा लिया जाता है। जैसे-जैसे एक-एक ग्लोब हटाया जाएगा प्रकाश तेज होता जाएगा और एक नया ग्लोब, उसके विशिष्ट चित्रों सहित दिखाई देने लगेगा। प्रत्येक बार एक ग्लोब हटाने पर एक नये चित्र वाला अगला ग्लोब दिखाई देगा जो पिछले ग्लोब से अधिक प्रकाशयुक्त होगा। यदि आप इस प्रक्रिया को अन्तिम ग्लोब हटाने तक चालू रखें तो अन्त में केवल बिजली का बल्ब अपने स्वयं प्रकाश से प्रकाशित रह जायगा।

हमें समझना यह है कि जब तक ग्लोब है तब तक तो बिजली के बल्ब से आने वाला प्रकाश शेष ग्लोबों को प्रकाशित करता है यदि सारे ग्लोब हटा दिये जाएँ और कोई भी ग्लोब वहाँ शेष न रहे तो वह स्वयं बल्ब को ही प्रकाशित करता है। यही बात मन के विभिन्न स्तरों के पीछे छिपी चेतना के साथ होती है। हमारी बाह्यतम चेतना स्थूल मस्तिष्क की चेतना है। जब तक मन है वह चेतना मन को प्रकाशित करती है क्योंकि, जैसा पहले कहा जा चुका है, मन बुद्धि के प्रकाश से कार्य करता या जान पाता है। वह परम-तत्त्व की तरह स्वयं प्रकाशमय नहीं है। समाधि की विभिन्न अवस्थाओं में मन के सभी स्तरों के परे जाने पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा आत्मा के सभी कोषों को पीछे छोड़ देने पर उसकी चेतना का प्रकाश फिर किसको प्रकाशमान करे? प्रकाशमय बनाने के लिए मन ही नहीं है। अतः वह स्वयं को ही प्रकाशमय बनाता है क्योंकि वह स्वंय प्रकाशमय ही है और अपने प्रकाश के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं है। उपरोक्त सूत्र में निर्बीज समाधि की इसी प्रक्रिया की ओर संकेत है। यह समाधि हो आत्मानुभूति तक ले जाती है और योग-विद्या का लक्ष्य है।

इस सूत्र का उद्देश्य समाधि की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न लोकों में होकर चेतना के आरोहण का वर्णन करना है। इनका उल्लेख प्रथम भाग के १७वें सूत्र में किया गया है। जब चेतना व्यक्त जगत् के उच्चतम लोक—आत्मिक लोक—तक पहुँचती है तो केवल एक अवरोध या क्षीण-सा आवरण रह जाता है। यहाँ हमारी एक विच्चित्र अवस्था होती है। अन्तरिम अवस्थाओं में मन को निमग्न होने के लिए, सदैव एक और भी गहरी अवस्था सामने होती थी। परन्तु यहाँ हम उस अवरोधक सीमा को पहुँच जाते हैं जो मन के सूक्ष्मतम क्षेत्र को परम-तत्त्व के क्षेत्र से अलग करती है। अतः चेतना का और गहराई में निमग्न होने का अर्थ है, परम-तत्त्व में ही निमग्न हो जाना और जिसका अर्थ है आत्मानुभूति।

o

अब हम समाधि के एक और पक्ष को लेते हैं और यह अन्तिम है जिसकी चर्चा हम इस संक्षिप्त विवरण में कर सकते हैं। वह पक्ष है संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि में अन्तर। इसका संकेत प्रथम भाग के १७वें और १८वें सूत्रों में है :—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः। (१-१७)

संप्रज्ञात समाधि वह है जो वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से युक्त हो।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। (१-१८)

विराम, प्रत्यय (संसार के पदार्थों की ओर से उपरति) का पहला अभ्यास (अर्थात् संप्रज्ञात समाधि) भी जब बन्द हो जाता है उस समय जो संस्कार मात्र शेष रहता है वह अन्य (अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि) है।

इन दोनों सूत्रों की व्याख्या अच्छी तरह टीका में की गई है। इसलिए हम इन्हें यहाँ विस्तार से नहीं लेंगे। परन्तु हम इनके मूल भाव को समझने का प्रयत्न कर सकते हैं जिससे समाधि की स्थिति के विषय में हमारे विचार स्पष्ट हो जाएँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाधि में मन के द्वार समस्त बाह्य और आन्तरिक विक्षेपों और बाधाओं के लिए बन्द हो जाते हैं। मन ध्यान के विषय में जितना गहरा डूबता जाएगा एकाग्रता उतनी ही बढ़ती जाएगी। जिस विषय-वस्तु पर मन को केन्द्रित किया जाता है और जिसकी वास्तविकता को जानने का प्रयत्न होता है उसके अतिरिक्त मन में और कुछ रहता ही नहीं है। जिस अन्तिम सीमा तक वह जा सकता है वह वहाँ पहुँच जाता है और उसे लगता है कि वह इससे आगे और नहीं जा सकता। जिस विषय-वस्तु पर मन ध्यान करता है उसके सभी पक्ष समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति में उसे अत्यन्त ही एकाग्रता की अवस्था में रहना पड़ता है। वह न पीछे जा सकता है और न आगे। इस अवस्था और स्थिति में एकाग्रता का विषय या प्रत्यय भी त्याग दिया जाता है। मन बस एकाग्रता की अवस्था में रहता है, मानो शून्य में स्थित हो। संप्रज्ञात समाधि की तीव्र एकाग्रता से समस्त बाह्य पदार्थों से सम्पर्क समाप्त हो जाता है। अतः एक ही मार्ग शेष रहता है—अगले उच्च लोक में प्रवेश करने का। शीघ्र ही या देर से वह सभी कोषों के केन्द्र बिन्दु के माध्यम से अगले उच्च लोक में प्रवेश करता है। उसको चेतना के क्षितिज पर एक नये जगत् का उदय होता है। इस नये जगत् में उसकी एकाग्रता के विषय के-और भी गहन पक्षों के उच्चतर आयाम प्रकट होते हैं। जब तक चेतना के क्षेत्र में विषय-वस्तु या प्रत्यय रहता है उस समाधि को संप्रज्ञात समाधि या विषय-सहित सचेतन समाधि कहते हैं। जिस प्रक्रिया में विषय या प्रत्यय भी नहीं रहता और चेतना में कोई विषय ही नहीं रहता तो उसे असंप्रज्ञात समाधि या विषयरहित सचेतन समाधि कहते हैं। गहराइयों में उतरने की प्रक्रिया में यह केवल एक कदम है। इस प्रक्रिया को बार-बार विभिन्न लोकों पर दोहराना होगा जब तक कि आत्मिक लोक तक न पहुँच जाए। जैसा कि हम देख चुके हैं उसके आगे गहराइयों में उतरना हमें स्वयं उस परम-तत्त्व के क्षेत्र में पहुँचा देता है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : २३

योग के लिए तैयारी

समाधि के स्वरूप और उसमें निहित सूक्ष्म मानसिक प्रक्रियाओं के वर्णन से ऐसी धारणा बन सकती है कि योग साधारण व्यक्ति के लिए है ही नहीं। वह तो अधिक से अधिक उसका सैद्धान्तिक अध्ययन कर सकता है। अपने जीवन में उसके व्यावहारिक प्रयोग की बात तो उसे किसी अगले जन्म के लिए छोड़ देनी चाहिए। सम्भवतः तब परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल हों और उसकी मानसिक और आध्यात्मिक क्षमताएँ अच्छी तरह विकसित हो गई हों। यह धारणा, यद्यपि स्वाभाविक, परन्तु भ्रान्तिपूर्ण है। जिन्होंने योग के दर्शन का प्रतिपादन किया और उसकी विस्तृत प्रक्रिया तैयार की वे मानव-स्वभाव की कमजोरियों और सामान्य मनुष्य के जीवन की सीमाओं और भ्रान्तियों से अनभिज्ञ नहीं थे। इन सीमाओं से मनुष्य के मुक्त होने की आवश्यकता और अनिवार्यता बताकर वे उसके सामने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ऐसा साधन रख ही नहीं सकते थे जो उसकी क्षमता के बाहर प्रतीत हो। वे इसमें आने वाली कठिनाइयों को जानते थे। परन्तु वे यह भी जानते थे कि वैज्ञानिक और मानवीय उन्नति एवं विकास के नियमों के अनुसार साधना की एक क्रमिक पद्धति अपनाकर इन कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है। किसी उचित सांसारिक विषय-वस्तु की प्राप्ति तक के लिए मनुष्य को विधिवत् प्रारम्भ करके लम्बे समय तक कड़े प्रयत्न के लिए तैयार रहना पड़ता है। यदि वह महान् गणितज्ञ बनना चाहता है तो वह अंकगणित के चार नियमों से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे एक अवस्था से दूसरी तक बढ़ता हुआ गणित-शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो जाता है। वह किसी विश्वविद्यालय में अवकलन और समाकलन गणित के पाठ्यक्रम पर भाषणों में उपस्थिति से प्रारम्भ नहीं करता। वह ट्रेनिंग के लम्बे कार्यक्रम के लिए तैयार रहता है परन्तु वह यह भी जानता है कि यदि वह प्रयत्न करना न छोड़े तो उसकी अन्ततः सफलता सुनिश्चित है। परन्तु जब मानवीय प्रयत्न के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रश्न आता है—जो कि मानवीय विकास की परिपूर्णता है—तो लोग सामान्य समझ और अनुभव की इन सारी बातों को भूल जाते हैं। वे समाधि का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभ्यास करने में कठिनाई की चिन्ता करना प्रारम्भ कर देते हैं और यह जानने के इच्छुक होते हैं कि समाधि से प्राप्त होने वाली चेतना की उच्चतम स्थिति को वे कब प्राप्त कर सकेंगे। वे सोचते हैं कि उन्हें तो बस प्रारम्भ भर कर देना है और योगी-जीवन के समस्त फल शीघ्र ही उन्हें मिल जायेंगे, या मिल जाने चाहिए। इसलिए या तो वे अपना प्रयत्न प्रारम्भ ही नहीं करते अथवा यदि वे प्रारम्भ भी करते हैं तो उनको निराशा होती है और वे शीघ्र ही प्रयत्न छोड़ देते हैं। वे सोचने लगते हैं कि या तो इस बहु-चर्चित योग-विद्या में बहुत अधिक कुछ नहीं है या फिर उनमें इस कठिन कार्य को करने की क्षमता ही नहीं है। अतः हम इस दिशा में अपने प्रयत्न टालते रहते हैं और हम प्रत्येक जीवन में लगभग उसी स्थिति में रह जाते हैं। हम इस समस्या के प्रति उतना भी व्यावहारिक दृष्टिकोण नहीं अपनाते जितना कि हम अपने सांसारिक कार्यों से संबंधित इस प्रकार की समस्याओं के प्रति अपनाते हैं।

अन्य सभी विज्ञानों की भाँति, योग-विद्या में भी क्रमिक अभ्यास द्वारा पारंगत होना सम्भव है। हम ऐसे अभ्यासों से प्रारम्भ करें जो सभी कर सकें। फिर धीरे-धीरे सरल से जटिल समस्याओं और सरल अभ्यासों से कठिन अभ्यासों की ओर बढ़ें। विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न क्षमताएँ छिपी होने के कारण हमारी प्रगति अभ्यास की अवधि से नहीं, बल्कि क्षमताओं में वृद्धि और हमारे मन और दृष्टिकोण में परिवर्तनों से नियन्त्रित होती है। पहले हम कुछ ऐसे अभ्यासों और साधनों का विचार करें जो साधक को उच्च-योग के कठिन अभ्यासों के लिए तैयार कर सकें।

द्वितीय भाग के निम्नलिखित सूत्र में प्रारम्भिक साधना की रूपरेखा अत्यन्त ही संक्षेप में दी गई है। प्रत्येक साधक इससे प्रारम्भ कर सकता है। विधिवत् और निष्ठा से वह योगी-जीवन के लिए एक दृढ़ आधार निर्मित कर सकता है।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (२-१)

तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति—ये तीनों क्रिया—योग या प्रारम्भिक योग हैं।

इस सूत्र में जो तीन विभिन्न क्रियाएँ बताई गई हैं उनका उद्देश्य मानव-स्वभाव के तीनों ही आधारभूत पक्षों—इच्छा, ज्ञान और प्रेम—को विकसित करना है। जैसा कि हम पहले एक अध्याय में देख चुके हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समुचित सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तैयार करके वैचारिक ज्ञान योगी-जीवन के लिए आधार निर्मित करता है। प्रेम या भक्ति के विकास से जीवन रूपान्तरित और निर्मल होता है। उससे ज्ञान प्रज्ञान हो जाता है और फिर मन की वृत्तियों पर नियंत्रण एवं निरोध करने में आत्मिक संकल्प-शक्ति के प्रयोग से योगी प्रज्ञान से आत्मानुभूति की स्थिति में पहुँच जाता है। सारे अभ्यास और आत्म-साधना की परिसमाप्ति आत्मानुभूति और मुक्ति में ही होती है। प्रारम्भिक साधना के तीनों अंगों के महत्त्व पर यहाँ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। कुछ सामान्य बातों की ओर साधक का ध्यान अवश्य आकर्षित किया जा सकता है।

पहली बात समझने की यह है कि योगी-जीवन का सच्चा प्रारम्भ इन तीनों क्रियाओं से ही होता है। यह स्वयं साधक पर निर्भर करता है कि प्रारम्भिक अवस्था से उन्नत अवस्था में शीघ्रता से जाने के लिए वह इनका प्रयोग किस प्रकार करता है। यदि वह इन क्रियाओं से संबंधित समस्याओं को उत्साह और लगन से हल करने में लग जाता है तो वह शीघ्र ही अपने निम्न स्वभाव पर नियंत्रण प्राप्त कर सकता है, लक्ष्य के प्रति निष्ठा से वह उच्च-योग के कठिन अभ्यासों को प्रारम्भ करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रहस्यमय अभ्यास प्रतीत होते हैं परन्तु उनके सम्बन्ध में रहस्यपूर्ण कुछ भी नहीं है। जीवन की गम्भीर समस्याओं का गहराई से अध्ययन ही स्वाध्याय है। इससे हमारी पर्याप्त सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तैयार होती है। इनसे योगाभ्यास में आने वाली सभी समस्याओं का तथा उन्हें हल करने की विधियों का हमें सही और पूरा ज्ञान हो जाता है। परन्तु यह अध्ययन हमें स्वयं इस प्रकार करना चाहिए कि हम अपने अन्तर से ही ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता धीरे-धीरे विकसित कर सकें और इसके लिए बाह्य सहायता पर हमारी निर्भरता समाप्त हो जाए। यह अध्ययन भी गहराई से होना चाहिए। इसका उद्देश्य केवल किताबों आदि से पूर्व उपलब्ध सूचना का एकत्रीकरण मात्र न हो। स्वाध्याय का मुख्य उद्देश्य सच्चे ज्ञान के अपने अन्तर-पट खोलना और ऐसी क्षमता प्राप्त करना है कि आवश्यकतानुसार वह ज्ञान उपलब्ध हो सके। हम प्रायः यह भूल जाते हैं कि समष्टि-चेतना में जो ज्ञात है वह वास्तव में हमारे अपने अन्दर भी है। उस ज्ञान का कम-से-कम थोड़ा अंश तो निम्न और उच्च मन के बीच का मार्ग खुल जाने पर प्राप्त किया ही जा सकता है। मैं यहाँ उन सत्यों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के ज्ञान की बात नहीं कर रहा हूँ जो समाधि की उच्च प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होता है। मैं तो उस सामान्य ज्ञान की बात कर रहा हूँ जो कारण-शरीर में कार्यरत जीवात्मा में विद्यमान है और जिसे निम्न मन को निर्मल बनाकर तथा उच्च 'स्व' से उसकी समस्वरता स्थापित करके प्राप्त किया जा सकता है। यह ज्ञान पुस्तकों, अवलोकन आदि से प्राप्त साधारण अप्रत्यक्ष ज्ञान से कहीं उत्तम होता है क्योंकि यह उच्च स्रोत से प्राप्त होता है। यह ज्ञान उन सभी सामान्य गलतियों, अनिश्चितताओं और विकृतियों से मुक्त होता है जो मूर्त मन द्वारा बाह्य साधनों से प्राप्त अप्रत्यक्ष ज्ञान की विशेषता होती है। इसलिए वे सभी साधन, विधियाँ या अभ्यास, जैसे मनन, ध्यान, जप आदि जिनके परिणामस्वरूप निम्न और उच्च मन के बीच का मार्ग खुल जाता है, स्वाध्याय के अन्तर्गत आ जाते हैं। रुचि और क्षमता बढ़ने पर नये साधक को इनका अधिकाधिक उपयोग करना चाहिए।

तप को प्रायः संयम के अर्थ में समझा जाता है। परन्तु इससे प्रारम्भिक योग के सच्चे और महत्त्वपूर्ण स्वरूप की विशेषता के बारे में गलत धारणा उत्पन्न होती है। तपः संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है उच्च तापमान तक गर्म करना। यदि अशुद्ध सोने को खूब तपाया जाए तो धीरे-धीरे उसकी अशुद्धता जल कर समाप्त हो जाती है और केवल शुद्ध खोट-रहित धातु रह जाती है। तप में निहित मूल विचार यही है। मोटे-तौर पर इसका अर्थ है बुराइयों और दोष रूपी समस्त खोटों को निकाल कर अपने निम्न स्वभाव को निर्मल बनाने के उद्देश्य से उसे नियंत्रित करना। तभी हमारे शरीर और मन पवित्र होंगे और वे हमारे संकल्प के अनुसार तथा आत्मा के कुशल यंत्र के रूप में कार्य कर सकेंगे। अतः आत्म-संयम की प्रक्रिया द्वारा निम्न स्वभाव को उच्च में परिवर्तित करना ही तप है। विभिन्न प्रकार के संयमों का उपयोग किया जा सकता है और यदि अति आवश्यक हो तो करना भी चाहिए, परन्तु वे इस प्रक्रिया के आवश्यक अंग नहीं हैं। कठोर व्रतों का पालन करने और शरीर को अनावश्यक कष्ट और पीड़ा देने की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण और प्रभावी तरीकों से निर्मलीकरण और नियंत्रण किया जा सकता है। हर साधक को अपने व्यक्तिगत साधनों का उपयोग बुद्धिमत्तापूर्वक करना चाहिए।

ईश्वर-प्रणिधान का सामान्य अर्थ है, ईश्वर की शरणागति। यह वास्तव में भक्ति का ही एक स्वरूप है और भक्ति उत्पन्न करने का एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सफल साधन है। हमने पिछले एक अध्याय में ईश्वर के प्रति भक्ति या प्रेम उत्पन्न करने की समस्या का अध्ययन किया था। हमें भक्ति-मार्ग के लक्ष्य और भक्ति के स्वरूप का थोड़ा ज्ञान होने के साथ-साथ अपने स्वभाव के इस पक्ष को विकसित करने के साधनों का भी ज्ञान हो चुका है। वांछित फल-प्राप्ति के लिए हमें इस सारे ज्ञान का उपयोग गम्भीरता और अनवरत दृढ़ता से करना पड़ेगा। सफलता पाने के लिए अभ्यास, निष्ठा और दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है। हमारे अन्दर भक्ति सहज ही उत्पन्न नहीं हो जाती। हमारी बहुत कड़ी परीक्षा ली जाती है और इससे हममें बार-बार निराशा उत्पन्न हो सकती है। परन्तु जब भक्ति उत्पन्न हो जाती है तो वह हमारे जीवन को ही बदल देती है। हम इतने अधिक उल्लसित और आनन्दित हो उठते हैं कि हमें लगता है कि हमने जो त्याग, प्रयत्न किये हैं या कष्ट उठाये हैं वे हमें प्राप्त वरदान और ईश्वर-कृपा की तुलना में कुछ भी नहीं है।

अतः आप देखेंगे कि पाँच शब्दों के इस सूत्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। योगी-जीवन की उच्च अवस्थाओं के लिए अपने आपको तैयार करने की समग्र विधि इससे हमें ज्ञात हो जाती है। हमारे स्वभाव के लगभग प्रत्येक पक्ष इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। यदि बताए गये तीन साधनों का निष्ठा, सावधानी और उत्साह के साथ अभ्यास किया जाए तो हमारा निम्न स्वभाव और शरीर आत्मा के उचित यंत्र ही नहीं बन जाएँगे अपितु उपलब्धियों के नये क्षेत्र भी खुल जाएँगे। ऐसी छिपी शक्तियाँ और क्षमताएँ प्रकट होने लगेंगी जिनका हमें कोई अनुमान ही नहीं होता।

जो कुछ हमने सीखा है उसका यदि हम अभ्यास करना प्रारम्भ कर दें तो हमारा जीवन शीघ्र ही बदल जाएगा और हम यह आश्चर्य करना बंद कर देंगे कि क्या समाधि का अभ्यास करना सम्भव है, क्या हम प्रेम करने की ऐसी क्षमता उत्पन्न कर सकते हैं कि हम अपने प्रेमास्पद से थोड़ा बहुत ऐक्य प्राप्त कर सकें?

हम फिर एक ऐसे विद्यार्थी का उदाहरण लेते हैं जो महान् गणितज्ञ बनने का दृढ़ निश्चय कर चुका है। अंकगणित के साधारण प्रश्न करने प्रारम्भ कर देने से गणित में उसकी रुचि हो जाती है। वह अवकलन और समाकलन गणित के बारे में चिन्ता छोड़ देता है क्योंकि उनको तो वह बाद में सीखेगा ही। उसका अन्तिम लक्ष्य उसके मन में बराबर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहता है परन्तु वह अपना समय और शक्ति उन बातों में नष्ट नहीं करता जिनका उस समय उससे कोई संबंध ही नहीं है। जो कार्य वह कर रहा होता है वह इतना आकर्षक और रुचिकर होता है कि उस समय उसके लिए वह पर्याप्त होता है।

किसी भी प्रकार के सर्जनात्मक कार्य करने में प्रसन्नता होती है। प्रारम्भिक योग की क्रियाओं द्वारा अपने स्वभाव को परिवर्तित कर डालने का कार्य उच्चतम सर्जनात्मक कार्य है। एक चित्र या मूर्ति बनाने की अपेक्षा यह कार्य अधिक वास्तविक और क्रियात्मक है। कलाकार का कार्य तो निर्जीव वस्तुओं से सम्बन्धित होता है। जो व्यक्ति अपने निम्न स्वरूप में से अपने सच्चे आत्म-तत्व को प्रकट करने के कार्य में लगा है वह जीवित और वास्तविक वस्तुओं के सम्बन्ध में कार्यरत है। वह जीवन की समस्या सुलझा रहा है। जो भविष्य में होने को है उसीका जीवित चित्र बनाया जा रहा है। हमारे निम्न स्वभाव के अनगढ़ संगमर्मरी पत्थर में से हमारे भविष्य की परिपूर्ण मूर्ति गढ़ी जा रही है। इस कार्य की दिव्य सर्जनात्मकता ही हमारे जीवन को संगीतमय बना देती है, भले ही बाह्य जगत् में हमें कठिनाइयों और परेशानियों का अनुभव क्यों न हो। यह तो कली की उस जीवित प्रक्रिया के समान है जो इस स्वाभाविक प्रक्रिया में निहित समस्त सहज आनन्द के साथ पुष्प बनने के लिए प्रयत्नशील है। हम भविष्य को वर्तमान में लाने का प्रयत्न करते हैं। हम वह होने का प्रयत्न करते है जो हम हैं। हम तो नहीं परन्तु हमारा अन्तरतम आम-तत्त्व जानता है कि मूर्ति का स्वरूप क्या होगा। जैसे ही हम हाथ में छेनी लेकर अपने निम्न स्वरूप-रूपी संगमर्मरी पत्थर को तराशना शुरू करते हैं हमें उसके निर्देशन का आभास होता है। चित्र बनाने या कविता लिखने में क्या आनन्द है इसे कलाकार ही जानते हैं। वे ही अनुमान लगा सकते हैं कि हमारे अन्दर मूलतः छिपी जीवित दिव्य-छबि की बाह्य अभिव्यक्ति से कितना आनन्द होगा। चित्र तो एक निर्जीव वस्तु है, मूर्ति एक निर्जीव वस्तु है, परन्तु अन्तर से धीरे-धीरे अभिव्यक्त होने वाला यह जीवित-तत्त्व तो अनन्त क्षमताओं वाली दिव्य सत्ता है जो दिव्य प्रेम, ज्ञान और शक्ति के प्रवाह का अधिकाधिक उपयुक्त माध्यम बन जाती है। पूर्ण छबि इस समय भले ही भावी अनदेखी और अनजान चीज हो परन्तु उसकी बाह्य अभिव्यक्ति का कार्य क्रियात्मक है और वही योग की प्रारम्भिक क्रिया को आनन्द और उत्साह प्रदान करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस कार्य में आयु का, परिस्थितियों का और मृत्यु तक का तनिक भी महत्त्व नहीं है। यदि हम इस कार्य में लग गए हैं तो वह मृत्यु के पश्चात् भी अबाध गति से चल सकता है क्योंकि हमारा उद्देश्य या लक्ष्य हमारे अन्दर है और जहाँ भी हम हों हमारे साथ रहेगा। समस्त बाह्य विषय-वस्तुएँ तो दृश्यमान जगत् से सम्बन्धित हैं परन्तु अब हमने जीवन का तार अपने अन्तर में छिपे शाश्वत आत्मतत्त्व से जोड़ दिया है। वही तत्त्व हमें अपनी ओर लाने के लिए हमारा निर्देशन कर रहा है। यही प्रारम्भिक योग का सच्चा अर्थ है और जो भी लगन के साथ इस कार्य में लगेगा उसके लिए वास्तव में इसका केवल यही अर्थ हो सकता है।

योग सूत्र का दूसरा भाग योग के उच्च अभ्यास की प्रारम्भिक तैयारी के स्वरूप पर तो प्रकाश डालता ही है, साथ ही यह दर्शन की रूपरेखा भी विधिवत् और तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत करता है जिस पर यह साधना आधारित है। ऐसी मान्यता है कि योग का यह दर्शन सांख्य दर्शन से लिया गया है और सांख्य-दर्शन हिन्दू-दर्शन की छह पद्धतियों में से एक है। इसमें संदेह नहीं कि यह सांख्य-दर्शन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है यद्यपि कुछ आधारभूत अन्तर भी हैं जिनको अनदेखा नहीं किया जा सकता। इन्हीं के कारण कुछ विद्वान् यह शंका करते हैं कि इन दोनों में कोई वास्तविक सम्बन्ध है भी या नहीं। ये दोनों दर्शन-पद्धतियाँ अतीत काल से हमें उपलब्ध रही हैं और हजारों वर्षों तक साथ-साथ प्रचलित रहीं हैं। उनके आदि स्रोत के कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण ऐसे प्रश्नों का निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है जिनमे केवल सैद्धान्तिक दार्शनिक की ही रुचि हो सकती है। साधक के लिए ऐसे प्रश्न अधिक महत्त्व के नहीं हैं। उसका सम्बन्ध तो उस व्यावहारिक साधना से है जो समय की कसौटी पर और हजारों वर्षों के अनुभवों से सही सिद्ध हुई है और जिसे वह अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए विश्वास के साथ अपना सकता है। योग का दर्शन इस साधना के लिए आवश्यक आधार प्रस्तुत करता है और बस यही बात महत्त्वपूर्ण है।

प्रयागात्मक विज्ञान में सिद्धान्त की आवश्यकता और उसका महत्त्व विभिन्न विधियों में परस्पर सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक समग्र विधि का अङ्ग बना देने के कारण होता है। परन्तु उस सिद्धान्त की सत्यता या प्रामाणिकता से उन विधियों की व्यावहारिक उपयोगिता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बहुत समय तक विद्युत्-सिद्धान्त और विद्युत-शक्ति का विभिन्न कार्यों के लिए अत्यन्त सफलता-पूर्वक प्रयोग होता रहा यद्यपि उस शक्ति की कार्य-विधि को स्पष्ट करने वाले उस समय प्रचलित सिद्धान्त अत्यन्त ही अपूर्ण और असन्तोषजनक थे। यदि भविष्य के अनुसंधानों के कारण विद्युत्-सम्बन्धी सम्पूर्ण सिद्धान्त पूर्णतः अमान्य सिद्ध हों तो विद्युत् नियमों पर आधारित विज्ञान और वैज्ञानिक विकास और उद्योगों में उसका प्रयोग इन अनुसंधानों से बिल्कुल अप्रभावित रहेगा क्योंकि ये नियम और प्रयोग प्रयोगात्मक तथ्यों पर आधारित हैं, न कि किसी प्रकार की कल्पना या सिद्धान्त पर। यही बात योग के दर्शन पर भी लागू होती है। इसका दर्शन उत्कृष्ट और अत्यन्त तर्कसंगत है। जीवन के गहनतम रहस्यों को उद्घाटित करने में और अपने अन्तर में उस परमतत्त्व को खोजने के लिए इसके साधनों का प्रयोग एक विज्ञान के रूप में किया जा सकता है। इस दर्शन की मान्यता या अमान्यता से योग के रूप में इसके साधनों की उपयोगिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अब हम उस दर्शन को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करें जिस पर पातञ्जलि की योग-साधना आधारित है। यह दर्शन दूसरे भाग में तीसरे से अट्ठाईसवें सूत्र तक २६ सूत्रों में क्रमशः दिया गया है। इन सूत्रों की विस्तार से व्याख्या करना तो यहाँ सम्भव नहीं है। उनमें निहित विचारों की थोड़ी रूप-रेखा मात्र और जिस तर्क-श्रृंखला पर यह दर्शन आधारित है उसकी कुछ कड़ियाँ यहाँ दी जा सकती हैं।

यह दर्शन मानव के दुःखों, सीमाओं और भ्रान्तियों की समस्या से प्रारम्भ होता है। इस समस्या में कुछ अपवादों को छोड़कर सभी मनुष्य उलझे हैं। मानव-जीवन के इस स्पष्ट तथ्य को दूसरे भाग का १५ वाँ सूत्र संक्षेप में प्रस्तुत करता है। उसका अभिप्राय है, भोगों के परिणाम, उनके विनाश की चिन्ता और उनसे उत्पन्न संस्कारों के तथा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों, विचारों और इच्छाओं में परस्पर विरोध के कारण सबके सब (कर्म फल) विवेकी पुरुष के लिए दुःख-स्वरूप हैं। कुछ लोग सम्भवतः यह सोचेंगे कि यह कथन बहुत ही व्यापक और अत्यन्त निराशावादी है। परन्तु हम इस प्रश्न पर एक पहले अध्याय में विस्तार से विचार कर चुके है और इसकी और व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। संसार के सभी महान् गुरुओं ने मानव-जीवन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के इस आधारभूत तथ्य से ही प्रारम्भ किया। इसलिए हम इस सूत्र के कथन की सत्यता को स्वीकार कर सकते हैं।

फिर एक और प्रश्न उत्पन्न होता है। यह मान भी लें कि मानव-जीवन में सर्वत्र ही दुःख है तो क्या इस दुःख से बचना या मुक्त होना सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल स्पष्ट, असंदिग्ध और सुनिश्चित है। यह दूसरे भाग के १६वें सूत्र में दिया गया है : "जो दुःख अभी प्राप्त नहीं हुआ है उससे बचा जा सकता है और बचना चाहिए।" इसी प्रकार का उत्तर जीवन के सही दर्शन से मिलना भी चाहिए। उस दर्शन का क्या लाभ जो जीवन के दुःखों और सीमाओं का तो उल्लेख करे परन्तु उसका कोई सही उपाय न बताए या उन दुःखों से मुक्त होने की आशा ही न दिलाए। परन्तु फिर भी हमारे बहुत से आधुनिक दर्शन इसी प्रकार के हैं। वे प्रश्न उठाते हैं और उन्हें अनुत्तरित ही छोड़ देते हैं। उनके बताए उपाय केवल थोड़ा आराम देने वाले होते हैं या वास्तव में उपाय होते ही नहीं हैं। परन्तु हम आगे और विचार करें।

दृढ़तापूर्वक यह कहने के पश्चात् कि जीवन के दुःखों से बचना या मुक्त होना सम्भव है, यह दर्शन दुःखों या क्लेशों के कारण का विश्लेषण करता है। यह उसकी परिपूर्णता और प्रभावशीलता का एक और प्रमाण है। यदि आप किसी रोग या कष्ट से पीड़ित हैं तो उसका सामना करने की दो विधियाँ हैं। या तो आप आराम देने वाले ऐसे उपाय कर लें जो रोग से कष्टप्रद लक्षणों को अस्थायी या आंशिक रूप से दूर कर दें या आप अधिक प्रभावशाली और युक्तिसंगत विधि अपना कर रोग के कारण का पता लगाएँ और फिर उसका उपचार कराएँ। केवल इसी विधि से रोग को पूर्णतः और सदा के लिए जड़ से निकाल पाना सम्भव होगा। योग का दर्शन यही पिछला मार्ग अपनाता है। यह मानव दुःख और सीमाओं के मूल कारण को बताता है और ऐसा उपाय प्रस्तुत करता है जो कारण को ही समाप्त कर दे और इस प्रकार रोग को पूर्णतः और अन्ततः निकाल दे। मानवीय दुःखों के कारण का विश्लेषण क्लेशों के सिद्धान्त में दिया गया है। इसमें कारणों और परिणामों की पाँच कड़ियों की एक श्रृंखला है। ये हैं, अविद्या या मूल अज्ञान, अस्मिता अर्थात् मुक्त, परिपूर्ण और स्वतंत्र शुद्ध-चेतना का उसकी दृश्य अभिव्यक्ति से तादात्म्य हो जाना। तीसरी और चौथी कड़ियाँ हैं राग और द्वेष, जिनका अर्थ है विभिन्न प्रकार के आकर्षण और विकर्षण। चेतना का अपने कोषों और वातावरण से तादात्म्य हो जाने पर इनकी उत्पत्ति होती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। पाँचवीं कड़ी इन कारणों और परिणामों का अन्तिम प्रभाव है। उसे अभिनिवेश कहते हैं। इसका अर्थ है, सांसारिक जीवन और इन्द्रिय सुखों में सहज आसक्ति और यह भय कि कहीं मृत्यु उन सबसे उसे वंचित न कर दे। अतः यह स्पष्ट है कि प्रथम कारण अविद्या या अज्ञान है और अन्तिम परिणाम विभिन्न प्रकार की सीमाओं और भ्रान्तियों में मानव-जीवन बिताना है। हम इसके और विस्तार में नहीं जाएँगे परन्तु आगे बढ़ने से पहले एक बात अवश्य स्पष्ट की जा सकती है। अविद्या साधारण प्रकार का अज्ञान नहीं है। यह सामान्य दार्शनिक अर्थ में समझा जाने वाला अज्ञान भी नहीं है। यह एक पारिभाषिक शब्द है जिसका वास्तविक अर्थ है, अपने सच्चे स्वरूप का बोध न होना। हम व्यक्त जगत् के चक्र में इसलिए पड़े हैं कि हमें अपने सच्चे दिव्य-स्वरूप का बोध नहीं रहा। अतः आत्मा का व्यक्त जगत् के चक्कर में पड़ने का निमित्त कारण अविद्या ही है। वह इस चक्र में क्यों और कैसे पड़ जाता है। ये वास्तव में जटिल प्रश्न हैं और समझ के क्षेत्र के परे हैं। सम्भवतः इन प्रश्नों का उत्तर हम तब पा सकें जब मुक्त होने पर अपने परम-तत्त्व का हमें बोध हो जाए। इस समय तो हमें इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम इस चक्र में पड़े हैं और यह हमारे लिए आवश्यक और वांछनीय है कि हम इन अवांछनीय परिस्थितियों और सीमाओं से निकल जाएँ।

यह स्पष्ट है कि यदि अपने सच्चे स्वरूप या परमतत्त्व का बोध न होना ही हमारे बन्धन का व्यक्त जगत् के चक्र में पड़ने का कारण है तो इसका स्थायी उपाय केवल यही होगा कि हम परमतत्त्व या अपने सच्चे स्वरूप का बोध प्राप्त करें। जिस तर्क पर योग का दर्शन आधारित है उस शृङ्खला की यह अगली कड़ी है। यह बताती है कि मानव-जीवन में दुःख रूपी अन्तिम परिणाम का आदि कारण अपने स्वरूप के बोध का विस्मरण है। अतएव जीवन के दुःखों से मुक्त होने का एक मात्र उपाय उस परम-तत्त्व का निश्चयात्मक और पूर्ण बोध प्राप्त कर लेना है। इसको दूसरे भाग के २६ वें सूत्र में इस प्रकार व्यक्त किया गया है : "अविद्या को दूर करने का उपाय उस परमतत्त्व के बोध का निरन्तर अभ्यास करना है।" इसी को इस सूत्र में निश्चल और निर्दोष विवेक ज्ञान कहा गया है। यहाँ अस्थायी उपचार या क्षणिक उपाय नहीं बताये गये हैं जैसा कि अधिकांश आधुनिक दर्शनों में होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगला स्वाभाविक प्रश्न यह है कि उस परम-तत्त्व का बोध कैसे प्राप्त हो। इसका उत्तर दूसरे भाग के २८ वें सूत्र में इस प्रकार दिया गया है "योग के अंगों का अनुष्ठान या अभ्यास करने से अशुद्धि का नाश होने पर आत्मिक ज्ञान का प्रकाश होता है जिससे परम-तत्त्व का बोध हो जाता है।" इसके बाद २९ वें सूत्र में योग के सर्व-विदित आठ अंगों को बताया है।

संक्षेप में, यही योग दर्शन है। यह बताता है कि अपने निज स्वरूप के बोध का विस्मरण हो जाने के कारण आत्मा व्यक्त जगत् के चक्र में पड़ जाता है। इसी के परिणामस्वरूप उसका अपने कोषों से तथा उनसे संबंधित तत्त्वों से तादात्म्य हो जाता है। इस तादात्म्य के कारण इस जगत् में व्यक्तियों और विषय-वस्तुओं से उनके राग-द्वेष के बन्धन उत्पन्न होते हैं। इन्हीं से प्राप्त विभिन्न प्रकार के अनुभव वास्तविक या सम्भावित दुःखों के कारण होते हैं। फिर यह दर्शन उपाय बताता है। स्वाभाविक ही ये उपाय चक्र में पड़ने की प्रक्रिया को उलट देते हैं। आत्मा को अपने सच्चे स्वरूप के बोध की पुनः प्राप्ति पर ही इस प्रक्रिया की परिसमाप्ति होती है। योग विज्ञान और कुछ नहीं, बस वह प्रविधि है जिससे यह सब कार्य विधिवत् और वैज्ञानिक ढंग से सम्पन्न किया जा सके।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : २४

योग-साधना के आठ अंग

पातञ्जलि योग-सूत्र में वर्णित योग-साधना को अष्टांग योग कहा गया है। इसका अर्थ है कि इसमें आठ अंग हैं, या इसे आठ भागों में विभक्त किया गया है। भागों की संख्या और उनके स्वरूप में योग की विभिन्न पद्धतियों में भिन्नता है।

योग-साधना के आठ अंगों का उल्लेख द्वितीय भाग के २९वें सूत्र में इस प्रकार किया गया है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।
(२-२९)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के आठ अंग हैं।

योग-साधना को समझने के लिए हम इनमें से प्रत्येक पर संक्षेप में विचार करेंगे। संबंधित सूत्र के विस्तृत विवरण के लिए साधक टीका का अध्ययन कर सकता है। एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है और एक-एक करके इन विभिन्न अभ्यासों पर विचार करने से पूर्व उसका उत्तर देना आवश्यक है। वह प्रश्न यह है कि योगाभ्यास में क्या इन्हें क्रमिक अवस्थाएँ समझना चाहिए या इनका स्वतंत्र रूप से अलग-अलग अभ्यास किया जा सकता है? अभ्यासों के स्वरूप से यह स्पष्ट ही है कि इनमें एक प्रकार का आनुक्रमिक संबंध है। उदाहरण के लिए, धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास इसी क्रम से किया जाना चाहिए क्योंकि एक ही प्रक्रिया की ये तीन क्रमिक अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास भी इसी क्रम से करना चाहिए, क्योंकि किसी भी अभ्यास की सफलता उससे पूर्व के अभ्यास में, कम से कम आंशिक दक्षता प्राप्त करने पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी ने यम-नियम का अभ्यास करके अपनी भावनाओं और कामनाओं पर थोड़ा नियंत्रण नहीं कर लिया है तो वह प्राणायाम का अभ्यास नहीं कर सकना। इसी प्रकार, धारणा, ध्यान और समाधि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का अभ्यास स्थूल शरीर पर पूर्ण नियंत्रण और मन पर दबाव डालने वाली सामान्य कामनाओं से मुक्त हुए बिना किया ही नहीं जा सकता। परन्तु यदि कोई उच्च-योग का विधिवत् अभ्यास करने का इच्छुक नहीं है तो उसके लिए किसी भी एक साधन का स्वतंत्र रूप से अभ्यास करना सम्भव है, यद्यपि इसमें भी उसे कठिनाई होगी। उसे शीघ्र ही अनुभव होगा कि उसे अपने अभ्यास-क्षेत्र को बढ़ाना पड़ेगा और संबंधित साधनों का भी अभ्यास करना ही होगा। फिर भी, हम तो विभिन्न साधनों को उपरोक्त सूत्र में दिए क्रम से ही लेंगे।

अतः हम पहले यम और नियम से ही प्रारम्भ करेंगे। ये ही योगी-जीवन के आधार हैं। इनका उद्देश्य उपयुक्त चरित्र और उपयुक्त मनः-स्थिति का निर्माण करना है क्योंकि गम्भीरता के साथ योगाभ्यास करने के लिए ये दोनों ही परम आवश्यक हैं। यम और नियम के बीच की सीमा रेखा को अच्छी-तरह निर्धारित नहीं किया गया है क्योंकि दोनों का वास्तविक अभिप्राय निम्न स्वभाव को आत्मा के एक पवित्र, सन्तु-लित, शान्त और पूर्णतः नियंत्रित यंत्र के रूप में परिवर्तित करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन दोनों अभ्यासों में विभिन्न विधियों का उपयोग किया जाता है परन्तु लक्ष्य एक ही होता है। यौगिक-साधना के लिए आवश्यक नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक आधार तैयार करने के लिए जिन गुणों और मनःस्थितियों को विकसित करना होगा वे निम्न दो सूत्रों में दी हुई हैं। प्रत्येक में पाँच साधन बताये गये हैं और यम और नियम का क्षेत्र थोड़ा-बहुत निर्धारित किया गया है।

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (२-३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव) आत्म-संयम के ये पाँच अभ्यास यम कहलाते हैं।

शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्व प्रणिधानानि नियमाः। (२-३२)

शौच (शुद्धि), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति नियम हैं।

यम और नियम में बताए साधनों का विस्तृत विवरण साधक "योग-सूत्र" की टीका में देख सकता है। यहाँ तो इनके संबंध में कुछ सामान्य बातों पर ही विचार किया जाएगा।

यद्यपि ये साधन हमारे स्वभाव के विभिन्न पक्षों को प्रभावित करते हैं और विभिन्न गुणों और प्रवृत्तियों को विकसित करते हैं तथापि यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मानव जीवन को विभिन्न भागों में विभाजित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं किया जा सकता। हमारे स्वभाव के सभी पक्ष एक दूसरे से अत्यधिक सम्बन्धित हैं और वास्तव में उन्हें अलग-अलग विकसित नहीं किया जा सकता, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है। हमें अपने मन और चरित्र की समस्या को एक साथ ही लेना होगा भले हो अपने स्वभाव की किसी विशेष बुराई या प्रवृत्ति को दूर करने के लिए हम किसी विशेष पक्ष की ओर कुछ समय तक विशेष ध्यान दें। इसका यह भी अर्थ होता है कि अपने निम्न स्वभाव के सम्बन्ध में इन दो सूत्रों में बताई सामान्य बुराइयों तक ही हमारा प्रयत्न सीमित न रह जाए। उदाहरण के लिए हम यह न मान बैठें कि हम क्रोध, ईर्ष्या आदि करने के लिए स्वतंत्र है क्योंकि यम-नियम वाले सूत्रों में इन मानवीय बुराइयों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यदि हम ऐसा करते हैं तो सारी शक्ति जो एक सुनिश्चित प्रवृत्ति के रूप में व्यक्त होती है वह अपनी अभिव्यक्ति की नई दिशा ढूँढ़ लेगी और ऐसी नई अवांछनीय प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होगी जिनको सोचते थे कि वे हम में हैं ही नहीं। वास्तव में नियम में सम्मिलित शौच (पवित्रता) और संतोष के अन्तर्गत वे सभी अवांछनीय प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं जिनका स्पष्ट उल्लेख यम में नहीं किया गया है। यदि इन दोनों का अभ्यास अच्छी तरह किया जाए तो हम अपने मन और चरित्र का एकांगी नहीं, सर्वांगीण विकास कर सकेंगे।

दूसरी बात यह समझनी है कि उपरोक्त वर्णित अवांछनीय प्रवृत्तियों को समाप्त करने के लिए आत्म-निरीक्षणात्मक जागरूकता की आवश्यकता नहीं है। ये तो निर्देश हैं। इनका पालन तो तर्क या अपने उद्देश्य का विश्लेषण किए बिना ही करना है। उदाहरण के लिए यदि हममें झूठ बोलने की प्रवृत्ति है, तो हमें अपने मन में यह तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए कि उन विशिष्ट परिस्थितियों में हमारा झूठ बोलना उचित है या नहीं, अथवा हम यह पता लगाएँ कि झूठ बोलने में हमारा उद्देश्य क्या था अथवा उस क्षण हम अपनी मनःस्थिति जानने का प्रयत्न करें। हमें तो सारे संशयपूर्ण विचारों को बिल्कुल निकाल देना चाहिए और निशंक होकर सत्य बात कहनी या करनी चाहिए। इसके लिए हमें केवल अपनी मानसिक क्रियाओं और प्रवृत्तियों का सामान्य बोध आवश्यक है। यदि हमने सही कार्य करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है तो फिर हम बिना किसी कठिनाई के ऐसा कर सकेंगे। यही कारण है कि भाग दो के सूत्र ३१ में पातञ्जलि ने हमारे बच निकलने की कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्भावना ही नहीं छोड़ी है। इन व्रतों का तो हमें सभी परिस्थितियों में पालन करना चाहिए। सही कार्य या विचार करने में अथवा सही भावना की अनुभूति में किसी प्रकार के संकोच या सन्देह को बाधक नहीं बनने देना चाहिए। हमारा निम्न स्वभाव अत्यन्त ही चालाक है और हमसे गलत काम कराने या अपने गलत तरीकों पर चलते रहने के लिए सभी प्रकार के बहाने खोज निकालेगा। गलत कार्य करने को उपयुक्त सिद्ध करने के लिए यह हमारे सामने सभी प्रकार के तर्क रखेगा। मूलतः गलत उद्देश्यों और कार्यों को छिपाने के लिए यह सत्य का लबादा ओढ़ने की चेष्टा करेगा। घृणा को प्रेम के रूप में प्रस्तुत करेगा और यदि हममें बुराई के साथ ढिलाई, तर्क या अनेक प्रकार से समझौता कर लेने की आदत है तो यह हमें अनेक प्रकार से धोखा देने का प्रयत्न करेगा। हमारी इस आन्तर-प्रक्रिया ने ही इस कल्पना को जन्म दिया है कि शैतान हर समय हमें प्रेरित करता रहता है और हमसे पाप कराता है। इसका उपाय सुनिश्चित और अत्यन्त प्रभावकारी है। आप एक बार यह निश्चय कर लें कि आप सभी परिस्थितियों में सदैव सही कार्य ही करेंगे और बुराई या गलती से समझौता नहीं करेंगे, परिणाम चाहे कुछ भी हो। फिर कुछ समय तक आप अपने निश्चय पर अडिग बने रहें। तब आप देखेंगे कि कितनी शीघ्रता से गलत काम करने की प्रवृत्ति आपके जीवन में रहेगी ही नहीं और सही कार्य करना सरलतम और अत्यधिक स्वाभाविक हो जाएगा। हमारे मन में शंका, दुविधा और तर्कशीलता सही कार्य करने में बाधक ही नहीं बनतीं, बल्कि वह आन्तरिक संघर्ष भी उत्पन्न करती हैं। इससे उन लोगों का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है जो समय-समय पर बुराई से समझौता कर लेते हैं। बाह्य जगत् तक में आपको एक बहुत ही सामान्य मनोवैज्ञानिक बात देखने को मिलती है। जो लोग बुराई से समझौता कर लेते हैं उन्हें और लोग अनेक प्रकार से गलत कार्य करने के लिए प्रलोभन देते हैं। परन्तु जो इस प्रकार का समझौता नहीं करते उनसे कुछ नहीं कहा जाता। जिस भ्रष्ट व्यक्ति को रिश्वत लेने की आदत होती है उसे सदैव ऐसे लोग मिल ही जायेंगे जो थोड़े से धन के लिये उसे सब प्रकार के काम करने के लिए प्रेरित करेंगे, परन्तु वास्तव में ईमानदार और सत्यनिष्ठ व्यक्ति को कोई भी परेशान नहीं करेगा। एक अन्तर्निहित नैतिक नियम है जो सर्वत्र जीवन को नियन्त्रित कर रहा है। व्यक्तियों की बाह्य परिस्थितियाँ अधिकांशतः उनके मन की आन्तरिक स्थितियों और प्रवृत्तियों को ही प्रतिबिम्बित करती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहज भाव से और बिना दुविधा के सही कार्य करने का एक सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि हमारी बुरी प्रवृत्तियों के सूक्ष्म पक्ष भी हमारे ध्यान में आने लगते हैं। इसका कारण यह है कि मन और भावनाओं के धीरे-धीरे पवित्र होने से बुद्धि का प्रकाश अधिक आसानी से मन में आने लगता है और अधिक स्पष्टता और विवेक के साथ चीजों को देखने में वही हमारी मदद करता है। अतः अपने सच्चे स्वरूप और मनःस्थिति का सही बोध हमें अधिक सरलता और प्रभावशाली ढंग से होने लगता है। इससे अपनी बुरी प्रवृत्तियों के जिन सूक्ष्म स्वरूपों को हम पहले जान तक नहीं पाते थे उन्हें समाप्त करने में हमें सहायता मिलती है।

यम के अन्तर्गत बताए पाँच गुणों को सामान्य तौर पर देखने से ऐसा लगेगा कि वे नैतिक आचार के बहुत उच्च नियम नहीं हैं। निश्चित ही, चोरी न करना और झूठ न बोलना नैतिकता के बहुत उच्च स्तर के संकेत नहीं हैं। परन्तु पातञ्जलि ने सोच-विचार कर ही बुरी प्रवृत्तियों के निकृष्टतम स्वरूप दिए हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति उन्हें देख सके और यदि वह वास्तव में उत्सुक है, तो उन्हें दूर करने का प्रयत्न कर सके। उन प्रवृत्तियों के निकृष्ट स्वरूपों को समाप्त करने पर ही हमें उनके सूक्ष्म स्वरूपों का भान हो सकेगा, जिन्हें फिर बाद में समाप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग है ही नहीं। इन गुणों को उनकी उच्चतम अवस्था तक विकसित करके उनके सूक्ष्म स्वरूपों तक को समाप्त कर देना है। यह बात आगे दिए दस सूत्रों में स्पष्ट हो जाती है। उन सूत्रों में बताया गया है कि इन दस गुणों को पूर्णावस्था तक विकसित करने के क्या परिणाम होते हैं। यम-नियमों के दस तत्वों में से प्रत्येक के लिए एक-एक सूत्र हैं। उनमें आप देख सकते हैं कि इन गुणों को किस सीमा तक विकसित किया जा सकता है और इन सामान्य-सी बातों के पीछे कितनी आश्चर्यजनक सम्भावनाएँ भी छिपी हैं। इस रोचक प्रश्न पर यहाँ और विचार करना आवश्यक नहीं है, परन्तु इस समस्या का सावधानी से अध्ययन करने पर साधक को यह जानने में सहायता मिलेगी कि सत्यनिष्ठता में कितनी सम्भावनाएँ छिपी हैं, और प्रत्येक परिस्थिति में किसी भी मूल्य पर सही काम करने की सहज परन्तु अनिवार्य, आदत से क्या प्राप्त किया जा सकता है। सत्य में स्थित होना या धर्मनिष्ठ होना एक महान् उपलब्धि है। यह योगी-जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं है बल्कि बहुत अंशों में उसका एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अङ्ग है और उसके कारण उच्च योग का अभ्यास अत्यन्त ही सरल और निरापद हो जाता है। भाग दो के २८वें सूत्र में जिस आध्यात्मिक प्रकाश का संकेत है वह सत्यनिष्ठ होने से ही प्राप्त होता है। इस सूत्र में उसे ज्ञान-दीप्ति कहा गया है।

यम-नियम से सम्बन्धित और भी सूत्र हैं परन्तु उन पर यहाँ विचार करना आवश्यक नहीं है। फिर भी एक सूत्र अत्यन्त ही व्यावहारिक महत्व का है। अतः आगे बढ़ने से पूर्व उस पर विचार किया जा सकता है। यह दूसरे भाग का ३३वाँ सूत्र है।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

जब वितर्क (अनुपयुक्त विचार) बाधा पहुँचाये (यमनियम के पालन करने में) तब उनके प्रतिपक्षी विचार का बार-बार चिन्तन करना (उपाय है)।

अपने निम्न स्वभाव को रूपान्तरित करने का कार्य आसान नहीं है। वास्तव में प्रमुख कठिनाई यह है कि हमारे आदर्शों के होते हुए भी अवांछनीय प्रवृत्तियों को जड़ से निकाल देने के हमारे निश्चय के होते हुए भी, ये हमें परेशान करती रहती हैं। हम क्या करें, किसी अवांछनीय प्रवृत्ति को समाप्त करने का सर्वोत्तम उपाय क्या है? पहली बात जो हमें ध्यान में रखनी है वह यह है कि ऐसी सभी प्रवृत्तियों की जड़ हमारे मन में होती है, भले ही उनमें से कुछ की अभिव्यक्ति केवल स्थूल शरीर में ही हो। प्रत्येक कार्य से पहले विचार होता है, चाहे वह चेतन मन में हो या अचेतन मन में। 'अवचेतन' के स्थान पर 'अचेतन' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया गया है क्योंकि किसी भी अच्छे कार्य के लिए प्रेरक शक्ति मन के उच्च खण्डों से आती है। अतः यह स्पष्ट है कि इन प्रवृत्तियों को निकालने के लिए हमें मन के क्षेत्र में जाना होगा और केवल उनकी बाह्य अभिव्यक्ति को रोकने के लिए संघर्ष करने की अपेक्षा उन्हें वहाँ निष्क्रिय बना देने का प्रयत्न करना होगा। किसी भी अवांछनीय प्रवृत्ति को मानसिक स्तर पर निष्क्रिय बना देने की सलाह इस सूत्र में दी गई है। परन्तु विपरीत विचार पर बराबर चिन्तन करने का क्या अर्थ है? इसका अर्थ केवल विपरीत विचार पर सोचते रहना मात्र नहीं है, बल्कि विपरीत दृष्टिकोण पर ध्यानपूर्वक विचार करने का प्रयत्न करना है। अतः यदि आप किसी से घृणा करते हैं तो आप उसकी अच्छाई पर, विभिन्न बातों में उसके दृष्टिकोण का, जिन कठि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाइयों के बीच वह कार्य कर रहा है, उनका विचार करने का प्रयत्न कीजिए। अथवा यदि आपकी किसी भोगासक्ति में लिप्त हो जाने की प्रवृत्ति है तो आप यह सोचिए कि बाद में कष्ट के रूप में आपको कितना मूल्य चुकाना होगा। इस प्रकार विचार करना किसी विचार को यंत्र-वत् दोहराना मात्र नहीं है, बल्कि यह हमारी आदतों और प्रवृत्तियों का सच्चाई और बुद्धिमत्तापूर्ण विश्लेषण है। यह कार्य उस समय नहीं करना है जबकि वह प्रवृत्ति व्यक्त होनें को हो। इसे तो उस समय करना चाहिए जब मन अपेक्षाकृत शान्त हो और आप स्थिर चित्त से विपरीत दृष्टिकोण पर विचार कर सकें। अभिव्यक्ति के समय तो एक मात्र प्रभावी और उचित तरीका, जैसा कि बताया जा चुका है, बिना सोचे उसकी अभिव्यक्ति को रोक देना है, क्योंकि यही करना उचित है और आपने सही कार्य करने का निश्चय भी किया है। इस रोचक विषय की और व्याख्या करना आवश्यक नहीं है और हम अब यौगिक-साधना के अगले अभ्यास, आसन, को लेते हैं।

योग-सम्बन्धित अभ्यासों में से सम्भवतः जिससे सबसे अधिक लोग परिचित हैं वह है योगासन। वास्तव में बहुत से लोगों के लिए योग कुछ आसन करना अथवा स्वास्थ्य सुधारने के लिए इसी प्रकार के शारीरिक अभ्यासों के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। फिर भी, योगी के जीवन में आसन की महत्त्वपूर्ण भूमिका के विषय में बहुत कम लोग ही जानते हैं। इसका उद्देश्य शरीर द्वारा मन में उत्पन्न अशान्ति को समाप्त करना है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर और मन एक-दूसरे से जुड़े हैं। शरीर की अव्यवस्थित क्रियाएँ और हलचल मन में व्यवधान उत्पन्न करती रहती हैं और धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करने से पहले इन व्यवधानों को समाप्त करना आवश्यक है। अतः शरीर को एक स्थिति में स्थित कर दिया जाता है और उसी स्थिति में उसे काफी समय तक रखा जाता है। यह देखा गया है कि इसके परिणामस्वरूप वह वातावरण में उत्पन्न सभी बाह्य परिवर्तनों, जैसे गर्मी, सर्दी आदि (जिन्हें द्वन्द्व कहा जाता है) के प्रति संवेदन-शून्य हो जाता है और वह मन में ऐसे व्यवधान उत्पन्न नहीं करता जो इन परिवर्तनों से उत्पन्न होते हैं। इससे शरीर प्राणायाम और प्रत्याहार के अगले दो अभ्यासों के लिए भी तैयार हो जाता है।

योग का अगला साधन प्राणायाम है। इसको भी बहुत गलत समझा गया है, विशेषकर पाश्चात्य देशों में। वहाँ इसका अर्थ है शारीरिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वास्थ्य सुधारने के उद्देश्य से कुछ श्वास-सम्बन्धी अभ्यास करना। यदि प्राणायाम ठीक से किया जाए तो कुछ अभ्यासों में अधिक प्राण-वायु के अन्दर जाने से स्नायु-मण्डल पर इसका अच्छा प्रभाव होने के कारण स्वास्थ्य में सुधार तो होता ही है। परन्तु योग में इसका मूल उद्देश्य यह नहीं है। इसका उद्देश्य तो प्राणमय कोष (छाया शरीर) में प्राण के प्रवाह पर पूर्ण और सचेतन नियन्त्रण प्राप्त करना है जिससे इसको जहाँ आवश्यक हो वहाँ ले जाने में सहायता मिले। यह केवल कुम्भक अर्थात् साँस को पूरी तरह रोककर ही धीरे-धीरे किया जा सकता है। जब प्राण के प्रवाह पर नियन्त्रण हो जाए तो फिर उसका उपयोग कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए किया जा सकता है जिससे भौतिक जगत् की चेतना का सम्बन्ध वासना और मनोमय कोषों से हो सके। प्राणायाम से खतरा यहीं उत्पन्न होता है। इसीलिए इसका अभ्यास योग-गुरु के निर्देशन और पूर्व तैयारी के बिना नहीं करना चाहिए।

प्राणायाम का दूसरा उपयोग मन को एकाग्र करने के लिए किया जाता है। प्रायः लोगों को यह बात नहीं मालूम कि किसी कोष और उस कोष के माध्यम से कार्य करने वाले मन को जोड़ने वाली कड़ी प्राण ही है। प्राण के द्वारा ही मन किसी कोष में कार्य करता है और कोष मन को प्रभावित कर सकता है। इसलिए यदि हम प्राण पर नियन्त्रण कर लें तो किसी भी कोष द्वारा मन में उत्पन्न सभी प्रकार के विक्षेपों या व्यवधानों को समाप्त कर सकते हैं।

अतएव यह स्पष्ट हो गया होगा कि अवचेतन मन में छिपी वास-नाओं और सभी प्रकार की प्रवृत्तियों से ही मन के विक्षेप उत्पन्न नहीं होते। प्राणमय कोष में प्राण का अव्यवस्थित संचार भी ऐसे विक्षेपों का कारण होता है। पहले प्रकार के विक्षेप यम-नियम से तथा दूसरे प्रकार के विक्षेप प्राणायाम से दूर किए जाते हैं। साधक अब यह अच्छी तरह समझ सकता है कि दैनिक ध्यान के समय मन को एकाग्र करने के प्रयत्नों में प्रायः सफलता क्यों नहीं मिलती। योग-शास्त्र इस समस्या का वैज्ञानिक ढंग से निराकरण करता है और धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास प्रारम्भ करने से पूर्व विक्षेप के इन सब कारणों को दूर करने को कहता है। मानसिक कार्यों के लिए जो सामान्य एकाग्रता पर्याप्त होती है वह योगाभ्यास के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। एकाग्रता की तीव्रता को धीरे-धीरे तब तक बढ़ाना आवश्यक है जब तक कि वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्यान की अगली अवस्था तक न पहुँच जाए और समाधि की अन्तिम अवस्था में उसकी परिसमाप्ति न हो जाए। यह कार्य सफलतापूर्वक करने के लिए मन में उत्पन्न होने वाले विक्षेपों को छोड़ कर पहले अन्य सभी विक्षेपों को विधिवत् समाप्त करना होगा।

अब हम योगाभ्यास के पाँचवें अंग, प्रत्याहार, पर विचार करेंगे। इसका उल्लेख दूसरे भाग के ५४ वें सूत्र में किया गया है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

अपने विषयों से सम्बन्ध-रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना ही प्रत्याहार है।

सामान्यतः प्रत्याहार का अर्थ ठीक से समझ में नहीं आता। इसके सभी प्रकार के अर्थ लगा लिए जाते हैं। प्रत्याहार का सही महत्त्व तब ही समझ में आ सकता है जब हम इसे एक अभ्यास के रूप में समझें जिसका उद्देश्य पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मन के बाह्य जगत् से होने वाले समस्त सम्बन्धों को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाए। हम सब जानते हैं कि हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान किस प्रकार होता है। विभिन्न प्रकार के कम्पन या कण इन्द्रियों के सम्पर्क में आते हैं उनमें कुछ प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। फिर ये स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क के कुछ केन्द्रों में पहुँचते हैं। वहाँ एक रहस्यपूर्ण प्रक्रिया द्वारा स्नायुओं से प्राप्त संवेग संवेदनों में परिवर्तित हो जाते हैं। विज्ञान इसके परे नहीं जा सका है। परन्तु गुह्य अनुसंधानों के अनुसार प्राण और प्राणमय कोष तथा वासना कोष के कुछ केन्द्र भी इस प्रक्रिया में कार्य करते हैं। यहाँ इस प्रश्न के विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है। हमें तो केवल यह समझ लेना है कि मस्तिष्क और सूक्ष्म कोषों के कुछ केन्द्रों का मन से सम्पर्क होने के कारण ही मन में इन्द्रिय-सम्पर्क-जन्य स्वरूप बनते हैं। जब तक मन इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत् के सम्पर्क में रहेगा उसमें इन्द्रिय-सम्पर्क-जन्य स्वरूप निरन्तर बनते ही रहेंगे। यह सच है कि इन्द्रियों के सम्पर्क में आने वाले सभी कम्पनों की ओर मन ध्यान नहीं देता। सभी प्रकार के ध्वनि-कम्पन हर समय कानों से टकराते रहते हैं परन्तु हम सभी की ओर ध्यान नहीं देते। हम जानते हैं कि मन जितना अधिक किसी अन्य क्रिया में व्यस्त रहता है उतना ही कम यह इन कम्पनों की ओर ध्यान दे पाता है, यद्यपि ये कम्पन बराबर कानों से टकराते रहते हैं। परन्तु किसी अन्य विषय-वस्तु में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन के एकाग्र हो जाने से बाह्य जगत् से सम्पर्क टूट जाना आंशिक और अनैच्छिक होता है। किसी भी ओर के इन्द्रिय-जन्य-सम्पर्क से मन में कभी भी विक्षेप हो सकता है। प्रत्याहार का उद्देश्य मन का बाह्य जगत् से सम्पर्क पूर्णतः और स्वेच्छा से काट देना है ताकि जब कभी भी योगी अपने मन के अन्तरतम में प्रवेश करके किसी विषय-वस्तु या समस्या पर एकाग्रता से ध्यान केन्द्रित करना चाहे तो वह इन्द्रियों के द्वार बन्द करके बाह्य जगत् से अपना सम्पर्क स्वेच्छा से काट दे। फिर यह सम्भावना नहीं रहती कि ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं से मन में किसी भी प्रकार का विक्षेप या व्यवधान उत्पन्न हो सके। वह फिर मन में उस समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है। ज्ञानेन्द्रियाँ तो रहती हैं परन्तु उनमें कार्य करने वाली बोध-शक्ति मन के अन्दर सिमट जाती है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्रियों की बोध-शक्तियाँ मन के ही अंग हैं ऐसे अंग जिनके माध्यम से मन बाह्य जगत् में से अपने विकास के लिए इन्द्रिय-जन्य सामग्री एकत्रित करता है। उसने धीरे-धीरे और परिश्रम के साथ अपने इस कार्य के लिए ज्ञानेन्द्रियों को यंत्र के रूप में निर्मित और विकसित किया है। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न किसी भी विक्षेप के बिना, मन जब कभी भी ध्यान, धारणा और समाधि में प्रवृत्त होना चाहता है तो प्रत्याहार के द्वारा वह इन्द्रियों की बोध-शक्ति अपने अन्दर खींच लेता है।

जहाँ तक प्रत्याहार की कार्य-विधि का संबंध है यह मन की एकाग्रता की मात्रा पर अंशतः निर्भर करती है। यदि मन काफी एकाग्र है तो बाह्य जगत् से सम्पर्क स्वतः ही कट जाता है। परन्तु योग की उच्च अवस्थाओं में जहाँ काफी लम्बे समय तक अत्यधिक एकाग्रता की आवश्यकता होती है तो प्राण के माध्यम से ज्ञानेन्द्रियों के कार्य करने का लाभ लिया जाता है। अतः प्राण-प्रवाह पर नियंत्रण करके ज्ञानेन्द्रियों के कार्य को रोक देना उसी प्रकार सम्भव हो जाता है जैसे विद्युत्-प्रवाह पर नियंत्रण द्वारा रेडियो या टी० वी० को चाहे जब बन्द किया जा सकता है। यही कारण है कि प्रत्याहार से पहले प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणमय कोष में प्राणों के प्रवाह पर सचेतन नियंत्रण प्राप्त किया जाता है। इस रहस्यमय सूत्र का महत्त्व समझने के पश्चात् हम अब योग-साधना के अन्तिम तीन अंगों को ले सकते हैं। इन्हें अन्तरंग साधन कहा गया है ताकि पहले पाँच बहिरंग साधनों से इनका अन्तर्भेद किया जा सके।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धारणा, ध्यान और समाधि पूर्णतः मानसिक प्रक्रियाएँ है और ये ही योग की सच्ची और आवश्यक साधना हैं। पहले पाँच अभ्यास तो इनमें सहायक होते हैं। उनसे तो केवल यह सुनिश्चित हो जाता है कि धारणा, ध्यान और समाधि के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं।

यह विचार कि समाधि का अभ्यास अत्यन्त कठिन हैं अथवा यह एक लगभग असम्भव-सी उपलब्धि है, गलत धारणा पर आधारित है। सामान्यतः समस्त बाधाओं और प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच हम अपना मन एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं। परिणाम यह होता है कि हम ध्यान में अपने मन को अच्छी तरह एकाग्र भी नहीं कर पाते। इससे हम स्वाभाविक ही यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि समाधि की अत्यधिक एकाग्रता प्राप्त करना सामान्य व्यक्ति के लिए लगभग असम्भव ही होना चाहिए। यदि हम बिना किसी पूर्व तैयारी के इसके लिए प्रयत्न करें तो यह कार्य असम्भव-सा ही होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे एक स्कूल में पढ़ने वाले गणित के विद्यार्थी के लिए डिफ्रेन्शियल और इन्टीग्रल केलक्यूलस के प्रश्न हल करना। परन्तु यदि आधार ठीक से और विधिवत् तैयार कर लिया गया है और वह एक-एक कदम आगे बढ़ता है तो उच्च स्तरों तक पहुँचने पर उसे इन प्रश्नों को हल करने में विशेष कठिनाई अनुभव नहीं होती। इसी प्रकार यदि आवश्यक तैयारी कर ली गई है और वांछित परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं तो धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास सरल हो जाता है। यदि मन को विक्षिप्त करने वाले तथा उसकी स्वाभाविक और स्वतंत्र क्रियाओं में बाधा उत्पन्न करने वाले समस्त अवरोधों, ग्रन्थियों और दबावों से मन मुक्त हो गया है तो उसे नियंत्रित करना तथा उससे काम लेना सचमुच आसान है। इस कार्य को वैज्ञानिक ढंग से करना ही बाह्य या बहिरंग योग का उद्देश्य है। यम-नियम से भावनाओं और काम-नाओं के विक्षेप दूर होते हैं, आसन स्थूल शरीर द्वारा उत्पन्न अवरोध दूर करता है, प्राणायाम से प्राणमय कोष में उत्पन्न विक्षेप समाप्त होते हैं, और अन्ततः प्रत्याहार ज्ञानेन्द्रियों को निष्क्रिय बना देता है। अब केवल मन को ही नियंत्रित करना शेष रह जाता है और यह मन पहले ही अवरोधों और दवाबों से मुक्त हो चुका है। अतः योगी बिना विशेष कठिनाई के धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास कर सकता है और मन की वृत्तियों का विरोध करके पहले अध्यायों में वर्णित अनुभव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राप्त कर सकता है। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की तरह योग-विधा में भी कठिनतम परिणाम उचित विधि के निर्माण और प्रयोग से आसानी से प्राप्त हो सकते हैं।

यह तो पहले ही वताया जा चुका है कि धारणा, ध्यान और समाधि एक सतत प्रक्रिया की तीन क्रमिक अवस्थाएँ हैं। एकाग्रता की मात्रा और कुछ निश्चित और स्पष्ट अवस्थाओं की प्राप्ति के कारण ही ये एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन सब बातों का विवेचन अच्छी तरह 'योग-सूत्र' की टीका में किया गया है और उन पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु कुछ प्रचलित गलत धारणाओं को दूर करने तथा टीका को समझना अधिक सरल बनाने के लिए कुछ सामान्य बातों का उल्लेख किया जा सकता है।

पहली बात तो यह समझ लेनी है कि ध्यान, धारणा और समाधि की विविध प्रक्रिया में जिस विशिष्ट विषय पर मन एकाग्र किया जाता है वह कोई मूर्त वस्तु हो. यह आवश्यक नहीं है। योग की भाषा में 'विषय' कोई भी वस्तु, सिद्धान्त, नियम, तत्व या सत्य हो सकता है। इस विषय की वास्तविकता ही इस प्रक्रिया द्वारा जानी जाती है। समाधि में समाप्त होने वाली ध्यान की इस सतत त्रिविध प्रक्रिया को योग की भाषा में संयम कहते हैं। योग-सूत्र के तीसरे भाग में उन विषयों के उनके उदाहरण दिए गये हैं जिन पर संयम का अभ्यास किया जा सकता है। इस अध्याय के अध्ययन से ज्ञात होगा कि इस उद्देश्य के लिए विषयों के कितने विभिन्न प्रकार हो सकते हैं।

सफल संयम का परिणाम होता है उस परम-सत्य का ज्ञान जिसको जानने की चेष्टा की जाती है। क्योंकि सच्चे ज्ञान के प्रत्येक अंश के साथ एक संबंधित शक्ति सम्बद्ध होती है, इसलिए किसी विषय पर संयम से उस ज्ञान से संबंधित कुछ विशिष्ट शक्ति का विकास हो जाता है। इन्हीं शक्तियों को योग की भाषा में सिद्धियाँ कहते हैं। इन्हें हम कभी-कभी मानसिक शक्तियाँ कहते हैं। परन्तु समाधि द्वारा विकसित असामान्य दृष्टि आदि जैसी निम्न शक्तियों को ही मानसिक शक्तियाँ कहा जाता है। उच्च योग की क्रियाओं द्वारा विकसित उच्च शक्तियाँ तो वास्तव में आध्यात्मिक होती हैं और इनमें तथा जिन्हें हम मानसिक शक्तियाँ कहते हैं, उनमें बहुत बड़ा अन्तर होता है। कुछ निम्न प्रकार की मानसिक शक्तियाँ तो अन्य विधियों से भी विकसित की जा सकती हैं, जैसे कुछ जड़ी-बूटियों या मंत्रों आदि के उपयोग से, जैसा कि चौथे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाग के सूत्र एक में संकेत दिया गया है। उन्हें प्राप्त करने के लिए समाधि का अभ्यास आवश्यक नहीं है। परन्तु योग की समस्त उच्च शक्तियाँ केवल समाधि के द्वारा ही विकसित हो सकती हैं और जीवात्मा के विकास और चेतना की उच्च अवस्थाओं की प्राप्ति का परिणाम होती हैं। वे सदैव व्यक्ति के नियंत्रण और अधिकार में रहती हैं क्योंकि उसने अपने आध्यात्मिक स्वरूप के विकास के द्वारा उन्हें प्राप्त किया है।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इन विशिष्ट सिद्धियों के अनेक प्रकार होते हैं। हम जानते हैं कि निम्न मन के क्षेत्र तक में किसी भी प्रकार का ज्ञान, कितना ही तुच्छ क्यों न हो, व्यक्ति को एक प्रकार की शक्ति प्रदान करता है। किसी व्यापार या व्यवसाय से संबंधित ज्ञान से व्यक्ति धन कमाने की तथा अपने लिए सभी प्रकार के सुख-वैभव प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करता है। अणु शक्ति के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान से वैज्ञानिकों को प्राणिमात्र का जीवन-स्तर सुधारने या उसे नष्ट करने की शक्ति प्राप्त हो गई है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है यदि योग-साधना से चेतना की उच्च अवस्थाएँ विकसित होने पर योगी को परमोत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होने के कारण, अत्यन्त असाधारण शक्तियाँ प्राप्त हो जाएँ। एक हाइड्रोजन बम से एक सम्पूर्ण नगर के विध्वंस हो जाने की सम्भावना से हमें आश्चर्य नहीं होता परन्तु यदि कोई योगी दीवार में से होकर जा सकता है या दूसरे के मन की बात जान सकता है तो हम आश्चर्य करते हैं।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : २५

आत्मानुभूति और सुख की खोज

'योग-सूत्र' के अन्तिम भाग को समझना सबसे कठिन है क्योंकि इसमें कुछ ऐसी सूक्ष्मतम धारणाएँ दी हुई हैं जिन पर योग का दर्शन और मनोविज्ञान आधारित है। इस भाग में धर्म-मेध समाधि को छोड़ कर अन्य कोई विधि दी ही नहीं गई है। यह समाधि की उच्चतम स्थिति है। इसमें योगी मन के क्षेत्र से पूर्णतः बाहर चला जाता है और सत्य के क्षेत्र में स्थायी और अपरिवर्तनीय रूप से स्थित हो जाता है।

पिछले एक अध्याय में हम योग-दर्शन के एक पक्ष पर विचार कर चुके हैं। वह पक्ष है व्यक्त सृष्टि में आत्मा का अवतरण और विकास और एक आत्म-अनुभूत व्यक्ति के रूप में उसमें से उसका अन्ततः निकलना और सत्य के क्षेत्र में स्थित हो जाने पर भी अपने पूर्ण विकसित कोष-समूह के माध्यम से जगत् के कार्य करना। योग के समग्र दर्शन का क्षेत्र तो कहीं अधिक व्यापक है। वास्तव में, यह उस सनातन-ज्ञान के अति विस्तृत दर्शन का एक अंग है जिससे हमें उस परम-सत्य के स्वरूप और दृश्य जगतों में उसकी अभिव्यक्ति का थोड़ा ज्ञान होता है। इस प्रकार, प्रकट या अप्रकट, सम्पूर्ण गुह्य-दर्शन ही योग-दर्शन का आधार है।

योग का मनोविज्ञान स्वभावतः इस व्यापक दर्शन से संबंधित है। विभिन्न योग-पद्धतियों के मनोविज्ञान में थोड़ा-बहुत अन्तर तो है ही, परन्तु मोटे तौर पर और मूलतः सभी योग-पद्धतियों में यह लगभग एक जैसा ही है। विभिन्न पद्धतियों के अन्तर्हित मनोविज्ञान में ये अन्तर स्पष्ट दिखाई दे सकते हैं परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। ये अन्तर विधियों और दृष्टिकोण में भिन्नता के कारण हैं और जिनमें इन चीजों को अन्तर्दृष्टि से देखने की क्षमता है उन्हें ये बातें महत्त्वपूर्ण नहीं लगतीं।

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि कम से कम बाहर से योग-दर्शन सांख्य सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि इसका मनोविज्ञान भी सांख्य-दर्शन से मिलता-जुलता हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और उसी की शब्दावली में व्यक्त हो। इस मनोविज्ञान का विवेचन और प्रतिपादन योग-सूत्र में विधिवत् नहीं किया गया है। इसलिए योग के विभिन्न पक्षों से संबंधित सूत्रों को लेकर इस मनोविज्ञान को एकत्रित करना होगा। जिस जागरूक साधक ने इस विषय का अच्छी तरह अध्ययन किया है उसे इस मनोविज्ञान की मुख्य रूप-रेखा स्पष्ट दिखाई देगी और अपने आप में एक पूर्ण पद्धति के रूप में वह इसका प्रतिपादन कर सकता है, भले ही मनोविज्ञान की आधुनिक पद्धतियों से वह बिल्कुल भिन्न प्रतीत हो। योग-शास्त्र दृश्य जगत् और उसकी आधार-भूत सत्ता की ही व्याख्या करता है। यद्यपि यह दृश्य प्रकृति की समस्त बातों की ओर ध्यान देता है परन्तु इसका प्रमुख विषय जगत् के अदृश्य क्षेत्र ही हैं। इसके विपरीत, आधुनिक मनोविज्ञान का आधार दृश्य जगत् ही है जो कि आन्तरिक वास्तविकताओं का केवल बाह्यतम आवरण मात्र है और उन्हें केवल अंशतः ही व्यक्त कर पाता है। यह अनिवार्य ही है कि जो मनोविज्ञान व्यक्त जगत् की दृश्य एवं अदृश्य विषय-वस्तु से ही नहीं बल्कि उनके आधार परम-सत्य का भी विवेचन करता है वह उस मनोविज्ञान से कहीं अधिक व्यापक और गहन होगा जो सतह को केवल छूता ही है और उस सतह के नीचे गहराई में जाने से डरता है। इसलिए इन दोनों मनोविज्ञानों में किसी प्रकार की समानता की आशा की ही नहीं जा सकती और उन्हें अभी तो स्वतंत्र मानकर हो उन पर विचार करना पड़ेगा। आधुनिक मनोविज्ञान जब मनुष्य के क्रिया-कलापों में गहराई से जाएगा और गुह्य सिद्धान्त को कुछ अंशों में स्वीकार करेगा तब ही योग के मनोविज्ञान से उसके किसी प्रकार के संबंध स्थापित होने की आशा की जा सकती है। अभी तो हम इन दोनों के अन्तरों को स्वीकार कर लें और जबरदस्ती उनमें मेल बिठाने का प्रयत्न न करें, जैसा कि कुछ लोग करते हैं।

इस छोटे से अध्याय में योग के मनोविज्ञान की, अथवा उस बृहत् दर्शन की, जिसका कि यह एक अंग है रूप-रेखा तक प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर योग-सूत्र के अन्तिम भाग में थोड़ा प्रकाश डाला गया है। वह है, सुख की व्यापक खोज। क्योंकि यह प्रश्न मानव-जीवन में हमारे सामान्य अनुभव पर आधारित है और साधक के लिए अत्यन्त महत्त्व का है, अतः हम इस संबंधित सूत्र की व्याख्या करें गे,

यदि हम सम्पूर्ण मानव-जीवन को निष्पक्ष होकर देखें और उसकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण करें तो हमें क्या ज्ञात होता है ? हम यह देखते हैं कि यह विभिन्न रूपों और परिस्थितियों में कामनाओं और मन का ही खेल है। सभी प्राणी सुख की खोज में निरन्तर कामनाओं से प्रेरित होते रहते हैं। जिन असंख्य चीजों को पाने का हम प्रयत्न करते रहते हैं उन्हें यथा-सम्भव सुख-प्राप्ति का साधन बनाने के लिए कामना अनेक प्रकार से विचार का उपयोग करती है। पातञ्जलि मानव-जीवन के इस व्यापक तथ्य से प्रारम्भ करके उसके उद्गम को खोजने का प्रयास करता है। उसने यह बताने की चेष्टा की है कि कामना और विचार का प्रारम्भ कहाँ से होता है और संसार की भ्रान्तियों और सीमाओं में फँसे सभी प्राणियों द्वारा सुख की इस अनवरत और व्यर्थ खोज के मूल में क्या छिपा है।

मानव-जीवन के इस व्यापक तथ्य का हल जिन दो सूत्रों में मिलता है वे निम्नलिखित हैं :—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् । (४-१८)

मन (चित्त) की वृत्तियाँ उसके स्वामी को सदा ज्ञात रहती हैं क्योंकि पुरुष में परिवर्तन नहीं होते ।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् । (४-२४)

वह (चित्त) असंख्यों वासनाओं से चित्रित होने पर भी दूसरे (पुरुष) के लिए कार्य करता है क्योंकि वह सदैव मिल-जुल कर कार्य करने वाला है।

पहले सूत्र का अर्थ है कि किसी भी मनुष्य के चित्त या मन में निरन्तर जो भी परिवर्तन होते रहते हैं उनके पीछे आत्म-चेतना की पृष्ठ-भूमि रहती है। इस आत्म-चेतना को योगसूत्र में 'पुरुष' कहते हैं। इसलिए मन के किसी भी स्तर पर जो कुछ भी होता है वह इस चेतना में रहता ही है, अथवा दूसरे शब्दों में इस चेतना को बोध होता रहता है।

दूसरे सूत्र का अर्थ है कि मन (चित्त) सदैव वासना के यंत्र के रूप में कार्य करता है। परन्तु वासनाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं। इसलिए वह वास्तव में वासना के लिए कार्य नहीं कर सकता। मन तो किसी ऐसे तत्त्व के लिए कार्य कर सकता है जो स्थायी हो और सदैव उसके सम्पर्क में हो। पहले सूत्र में यह स्पष्ट हो गया है कि स्थायी तत्त्व आत्मा या पुरुष है। अतः यह स्पष्ट है कि समस्त वासनाओं के पीछे

१९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मा ही प्रेरक शक्ति और चित्त की वृत्तियों के समस्त परिवर्तनों का साक्षी है।

पहले हम मन और वासना पर अलग-अलग विचार करें और मानव-जीवन में उनका महत्त्व समझें। उसके पश्चात् ही हम सुख की खोज में उनके संयुक्त कार्य और प्रभाव पर विचार करेंगे।

योग-मनोविज्ञान के अनुसार ज्ञान का सिद्धान्त क्या है ? मन या जिसे योग-सूत्र में चित्त कहा गया है, एक कोष के माध्यम से कार्य करता है। उसे हम मनोमय-कोष या शरीर कहते हैं। उसका कार्य है 'जानना'। परन्तु योग-मनोविज्ञान के अनुसार उसमें जानने की क्षमता ही नहीं है क्योंकि वह अचेतन है। जानने की क्षमता उसे बुद्धि से प्राप्त होती है और बुद्धि पुरुष से प्राप्त चेतना का प्रकाश है। किसी विषय-वस्तु को देखने पर जो ज्ञान मन में उदय होता है वह पुरुष के असीम ज्ञान या उसकी सर्वज्ञता से प्राप्त होता है। विषय-वस्तु के सम्पर्क में आने पर मन दोनों से प्रभावित होता है। बुद्धि के माध्यम से कार्य करने वाली पुरुष की चेतना से तथा उस विषय-वस्तु से जिसे जानने का वह प्रयत्न करता है, सर्व-ज्ञाता या सर्वज्ञ पुरुष से इस सीमित प्रक्रिया का प्रत्युत्तर प्राप्त होता है। वही मन द्वारा प्राप्त किसी वस्तु-विषय का ज्ञान होता है। इसका कारण यह है कि पुरुष सदैव पार्श्व में रहता है और सर्वज्ञ है। वह एक ऐसा तत्त्व है जो जानने की समस्त प्रक्रिया में उपस्थित रहता है। मन में प्रकट होने वाले सभी प्रकार के ज्ञान का वह संग्रहालय भी है। अतः सर्वज्ञता की पृष्ठभूमि से विषय-वस्तु के माध्यम से एक सीमित प्रत्युत्तर प्राप्त होता है। इस सीमित प्रत्युत्तर को ही हम ज्ञान कहते हैं। हम इसे आसानी से समझ सकते हैं यदि हम इस पर विचार करें कि श्वेत प्रकाश में वस्तुओं में रंग कैसे दिखाई देता है। स्वयं श्वेत प्रकाश में सभी रंग समाये हुए हैं। जब यह विभिन्न वस्तुओं पर पड़ता है तो विभिन्न प्रकार के रंग दिखाई देते हैं। प्रत्येक वस्तु उस श्वेत प्रकाश के कुछ अंश ग्रहण कर लेती है और शेष को छोड़ देती है। ये त्यक्त रंग ही जब उलट कर प्रतिबिम्बित होते हैं तो उस वस्तु का एक विशिष्ट रंग प्रकट करते हैं। इसी प्रकार जब कोई विषय-वस्तु—आवश्यक नहीं है कि वह मूर्त ही हो—मन के द्वारा आत्म-चेतना के सामने प्रस्तुत की जाती है तो उस विशिष्ट वस्तु द्वारा प्रेरित आत्म-चेतना का एक अंश मन ग्रहण कर लेता है। आत्मा के अनन्त और सर्वव्यापी ज्ञान का जो अंश मन ग्रहण कर लेता है वही मन में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकट हुआ सीमित ज्ञान होता है। उस अनन्त ज्ञान का जितना अधिक अंश ग्रहण कर लिया जाता है ज्ञान उतना ही गहरा होता है। जब किसी विषय-वस्तु से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञान आत्मा के सर्वव्यापी ज्ञान से प्राप्त किया जाता है तो वही सबीज समाधि में उस विषय से सम्बन्धित सत्य का प्रत्यक्ष-बोधक होता है। भाग ४ के १७वें सूत्र में किसी विषय-वस्तु द्वारा मन को उपरंजित करने की उपमा इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उपयुक्त प्रतीत होती है।

इस प्रकार उपरोक्त तर्क से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ही समस्त ज्ञान का स्रोत है। जिन विषय-वस्तुओं से मन में ज्ञान उत्पन्न या प्रेरित होता है वे तो आत्मा के 'पूर्ण' ज्ञान में से इस 'आंशिक' ज्ञान को लाने के यंत्र मात्र हैं, जैसे रंगीन भौतिक वस्तुओं के रंगों का कारण वे वस्तुएँ नहीं होतीं, वे तो श्वेत प्रकाश में छिपे रंगों को प्रकट करने के माध्यम मात्र होती हैं।

अब हम वासना का विचार करते हैं। जैसा हम पहले ही देख चुके हैं हमारा जीवन अधिकांशतः वासनाओं का क्रीड़ा-स्थल है। यह वासना है क्या ? वासनाओं के उकसाने से मन जिन विषय-वस्तुओं की कल्पना करता है हम उनके पीछे सदा भागते रहते हैं। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है मानों वासना की पूर्ति करना ही मन का प्रमुख उद्देश्य है। वासना का कारण क्या है ? आइए, हम पता लगायें। इस व्यापक तथ्य का कारण जानने के लिए हमें सभी में विद्यमान एक समान घटक को खोजना होगा। मन और वासना द्वारा रचे इस नाटक में एक स्थायी घटक पुरुष है। वासना जिन विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है उनमें वह अनिवार्य घटक सदैव ही विद्यमान रहता है। वासना द्वारा इन विभिन्न वस्तुओं की खोज से सम्बन्धित क्या कोई और तथ्य भी है ? हाँ है, और वह है सुख की खोज। मन के माध्यम से वासना द्वारा विभिन्न विषय-वस्तुओं की यह खोज जाने-अनजाने सुख की ही खोज है। हम किसी ऐसी वस्तु की कामना ही नहीं करते जिससे कुछ मात्रा में सुख प्राप्त करने का उद्देश्य ही न हो। अतः सुख की खोज मानव जीवन में एक दूसरा स्थायी घटक है।

अब योग-सूत्र में दिया गया तर्क इस प्रकार है। हम सुख की खोज में ही सदैव विभिन्न विषय-वस्तुओं की कामना करते रहते हैं। विषय-वस्तु निरन्तर बदलती रहती है। वासनाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं। इस नाटक में एक ही चीज ऐसी है जो नहीं बदलती और सदैव ही बनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहती है। वह हैं पार्श्व या पृष्ठभूमि में पुरुष। तब क्या हमारे निरन्तर कामना करते रहने के लिए पुरुष ही जिम्मेदार है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें दो बातों पर विचार करना होगा। प्रथम, कामना संकल्प शक्ति के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यह संकल्प-शक्ति भ्रान्ति और सीमाओं के बीच कार्य करती है और सत् से उत्पन्न होती है। सत् दिव्य पुरुष के तीन पक्षों में से एक है। दिव्य-पुरुष का दूसरा पक्ष आनन्द है। उसका स्वरूप ही आनन्द है। यही निम्न लोकों में सुख के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। उसका तीसरा पक्ष चित् है, जो मन में प्रतिबिम्बित होता है। क्या अब हमें कामना और बाह्य वस्तुओं में सुख की निरन्तर खोज का महत्त्व स्पष्ट नहीं होता? जिस पुरुष का स्वरूप ही सत्-चित्-आनन्द है वह अभिव्यक्ति के चक्र में पड़ गया है और फलस्वरूप अपने दिव्य स्वरूप का भान ही खो बैठा है। अपने निज स्वरूप का भान खो बैठने का आखिर परिणाम क्या होगा? वह व्यक्त जगत् में, प्राप्त विषय-वस्तुओं में आनन्द खोजेगा। यहाँ विषय-वस्तु का अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है और जिससे कामना की पूर्ति हो वह इसके अन्तर्गत आ जाता है। उस पुरुष का सत्-स्वरूप जो शुद्ध आध्यात्मिक संकल्प-शक्ति के रूप में व्यक्त होना चाहिए था निम्न लोकों की भ्रान्तियों और सीमाओं से सम्पर्क हो जाने के कारण कामना में परिणत हो जाता है।

अतः व्यक्त जगत् के दृश्य और अदृश्य लोकों में विभिन्न विषय-वस्तुओं के माध्यम से जिस सुख की खोज में हम लगे हैं वह और कुछ नहीं, अपितु आत्मा द्वारा आनन्द की खोज है। माया में फँस जाने के कारण ही इसे वह अपने से बाहर की वस्तुओ में खोज रहा है। उसके तीसरे अर्थात् चित् पक्ष कीं अभिव्यक्ति होती है कल्पना शक्ति और मन की क्रियाओं में। उस शक्ति से वह अपने आस-पास के विविध जीवन से एक के बाद एक स्वरूप या स्थिति का निर्माण करता है और उनमें आनन्द खोजता है। आनन्द तो उनमें है नहीं और इसलिए उसे प्राप्त हो भी नहीं सकता। वह आनन्द उसे केवल आंशिक सुख के रूप में प्राप्त हो सकता है। विषय-वस्तु पुरुष के आनन्द पक्ष को मन में जितना जाग्रत कर सके वही उस विषय-वस्तु से प्राप्त होने वाले सुख का माप है। अतः जिस नाटक के हम सब पात्र हैं उसका अन्तर्हित महत्त्व पूर्णतः स्पष्ट है।

इस सम्पूर्ण विचार की मैं फिर से संक्षेप में पुनरावृत्ति किए देता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारे मूल दिव्य स्वरूप के तीन पक्ष हैं। ये तीन पक्ष सत्-चित्-आनन्द कहलाते हैं। ये उच्च लोकों में संकल्प-शक्ति, उच्च मन और आनन्द के रूप में और निम्न लोकों में वासना या कामना, निम्न मन और सुख के रूप में व्यक्त होते हैं। अभिव्यक्ति के चक्कर में फँसकर हमारे ये सब दिव्य गुण लोप हो जाते हैं और निम्न लोकों में ये आंशिक रूप से सामान्य वासना या कामना, विचार और सुख के रूप में प्रकट हो पाते हैं। अपने दिव्य स्वरूप की इस आंशिक अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप वासना की प्रेरणा और मन की सहायता से हम संसार में सुख की खोज में सभी प्रकार की विषय-वस्तुओं के पीछे दौड़ते रहते हैं।

इस प्रकार हमारे जीवन की समस्त धारा अविरल गति से अपने उद्गम स्रोत की ओर धीरे-धीरे बढ़ती रहती है। अन्ततः वासना संकल्प-शक्ति में, विचार प्रत्यक्ष ज्ञान में, और सुख विशुद्ध आनन्द में परिणत हो जाते हैं। अपने दिव्यस्वरूप के आंशिक बोध के फलस्वरूप माया के आवरणों का थोड़ा क्षीण हो जाना हमारी ऊर्ध्वमुखी यात्रा का प्रथम चरण है। जब मनुष्य आध्यात्मिक विकास की इस उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो सब कुछ सूक्ष्म हो जाता है और वह अपनी सूक्ष्मतम अवस्था में ही विद्यमान रहता है। आत्म-लोक पर अन्तिम और माया के इस क्षीणतम आवरण से भी आत्मा अपने आप को मुक्त कर लेता है। इसी का वर्णन चौथे भाग में धर्म-मेघ समाधि की विधि के रूप में किया गया है। जब उच्चतम विवेक जाग्रत हो जाता है और आत्मलोक तक में वह माया के सूक्ष्म स्वरूप तक को पहिचान लेता है तो वह सत् जगत् में एक अन्तिम छलाँग लगाने का निर्णय लेता है। उससे उसे अपने दिव्य स्वरूप का सत्-चित्-आनन्द के रूप में बोध हो जाता है। तभी उसके विकास के नाटक की समाप्ति होती है।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थायी और सच्चे सुख की खोज में तो विफलता ही हाथ लगेगी क्योंकि अपने निज स्वरूप को जान लेना आत्मा की नियति है, न कि सदा अभिव्यक्त जगत् में बन्दी बने रहना। यही कारण है कि दुःख और कष्ट मानव-जीवन का एक व्यापक तथ्य है। यह तो इस बात का स्पष्टीकरण है कि सुख की इच्छा न तो इस जगत् में पूरी तरह सन्तुष्ट हो सकती है और न होनी ही चाहिए क्योंकि आत्मानुभूति की अत्यधिक महान् और भव्य नियति भविष्य में हमारी प्रतीक्षा कर रही है। यदि दुःख इतना व्यापक है तो हम उदास क्यों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हों ? क्या हमें कृतज्ञ नहीं होना चाहिए कि दुःख है क्योंकि निम्न जीवन की भ्रान्तियों और सीमाओं के बन्धन से हमारी मुक्ति की पूर्ण सुनिश्चितता उन्हीं के कारण है। हम इस निम्न जीवन में अनिश्चित काल तक स्वेच्छा से निर्वासित न बने रहें इससे हमारा सुरक्षण दुःखों के कारण ही है।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्याय : २६

पथ-प्रदर्शन समस्या

मानवीय विकास का वास्तविक उद्देश्य यह है कि व्यक्ति विकसित होकर अन्ततः आत्म-प्रदीप्त, स्वतंत्र और परिपूर्ण हो जाए। स्पष्ट है, ऐसा व्यक्ति आत्म-निर्देशन के द्वारा ही अन्तिम चरणों में विकास कर सकता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में बाहर से पथ-प्रदर्शन आवश्यक होता है और वह उसे प्राप्त भी होता है। परन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति आन्तरिक विकास के मार्ग पर प्रगति करता है बाह्य निर्देशन धीरे-धीरे कम होता जाता है और उसे अपने अन्तर से ही पथ-प्रदर्शन ढूँढने के लिए और अपना दीप प्रज्वलित करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

मनुष्य को ऐसा पथ-प्रदर्शन उसके अपने अन्तर से ही प्राप्त हो यह तो उसकी संरचना के स्वरूप में ही निहित है। उसका जीवन दिव्य-चेतना का एक केन्द्र है। उसके जीवन का आदि-स्रोत वह परम-सत्ता है जो इस व्यक्त जगत् का आधार है और उसके विकास को शक्ति और निर्देशन प्रदान करता है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसमें वे सब शक्तियाँ और क्षमताएँ सुप्तावस्था में विद्यमान हैं जिन्हें हम समष्टि के कार्य करते देखते हैं। जैसे-जैसे विकास होता है ये ही सुप्त क्षमताएँ एक-एक करके उसके अन्तर से विकसित होकर धीरे-धीरे कार्य करने लगती हैं।

सनातन-ज्ञान के महान् गुरुओं ने तथा 'आत्मानुभूति की समस्या से संबंधित पुस्तकों में बार-बार इस बात का संकेत दिया गया है कि साधक को सत्य की खोज में पथ-प्रदर्शन करने वाला प्रकाश उसके अन्तर से ही प्राप्त हो सकता है। देखिए इस संबंध में 'मार्ग प्रकाशिनी' (लाइट आन दी पाथ) क्या कहता है :—

"संसार का प्रकाश तुम्हारे अपने अन्दर ही है—केवल वही प्रकाश मार्ग को प्रकाशित कर सकता है। यदि तुम उसे अपने अन्तर में देखने में असमर्थ हो तो उसे और कहीं ढूँढना व्यर्थ है।"

योग-पथ पर पथ-प्रदर्शन की समस्या का विवेचन योग-सूत्र के एक सूत्र में कर दिया गया है :—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। (२-२८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योग के अंगों का अनुष्ठान (अभ्यास) करने से, अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है जिससे परम-सत्य का बोध हो जाता है।

अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आत्मानुभूति की समस्या से गम्भीरता से जूझने वाले साधक को पथ-प्रदर्शन के प्रश्न पर अवश्य विचार करते रहना चाहिए। उसके मन में यह संदेह ही नहीं रहना चाहिए कि ऐसा पथ-प्रदर्शन केवल उसके अन्तर से ही प्राप्त हो सकता है। तब ही वह गम्भीरता और दृढ़-निश्चय के साथ उस प्रकाश को अपने हृदय के अन्दर ही खोजने का प्रयत्न करेगा। वह प्रकाश ही उसका निरन्तर और निश्चयात्मक ढंग से पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

पथ-प्रदर्शन के लिए साधक अपने अन्दर के प्रकाश की ओर कब उन्मुख हो? यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में मनुष्य में इस प्रकार के पथ-प्रदर्शन से लाभ उठाने की क्षमता ही नहीं होती। लम्बे समय तक शिक्षा के बाह्य साधनों से उसका मन विकसित होगा, चरित्र का निर्माण होगा और आध्यात्मिक क्षमताओं को व्यक्त होने की प्रेरणा मिलेगी। परन्तु प्रत्येक जीवात्मा के विकास में एक समय ऐसा आता है जब ये साधन अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। तब एक गतिशील और निश्चित आध्यात्मिक उद्देश्य की आवश्यकता ही नहीं बल्कि उसे प्राप्त करने के लिए अधिक प्रभावशाली साधनों की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। जो सत्य उसके अपने अन्दर छिपा है उसकी खोज में साधक अपने अन्तर की ओर उन्मुख होता है, अपने मन और हृदय से ऐसे परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है जिससे उसे इस कार्य को पूर्ण करने में सहायता मिले। वह आत्म-साधना के क्षेत्र में गम्भीरता से प्रवेश करता है। जो प्रकाश उसके मार्ग को प्रकाशित कर सके उसकी खोज प्रारम्भ करने का यही समय होता है।

प्रत्येक साधक के मन में दो बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए। प्रथम, उसका निर्धारित लक्ष्य क्या है? द्वितीय, इस लक्ष्य तक ले जाने वाले पथ पर उसका प्रदर्शक कौन होगा? प्रथम प्रश्न का उत्तर स्वाभाविक ही है कि व्यक्ति विशेष, उसके स्वभाव, उसके संस्कार और जिस वातावरण में वह पला है उस पर निर्भर करेगा। विकास की अवस्था तथा विकास के जिस चरण में होकर साधक उस समय गुजर रहा है उसके अनुसार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके अस्थायी उद्देश्यों में अन्तर हो सकता है। परन्तु अन्तिम लक्ष्य सभी का एक है—अर्थात् जीवन की भ्रान्तियों और कष्टों से मुक्ति और आत्मानुभूति-प्राप्त-व्यक्ति का ज्ञान तथा प्रेमयुक्त जीवन की उपलब्धि—इस प्रश्न का विवेचन अच्छी तरह विभिन्न स्थलों पर किया जा चुका है और यहाँ और अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

दूसरे प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर योगसूत्र के निम्न सूत्र में दिया गया है :—

सा पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (१-२६)

(वह) ईश्वर (सबके) पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल की सीमा के बाहर है।

संसार के विशाल रंगमंच पर विभिन्न चरणों और समय-समय पर जो नाटक अभिनीत हो रहा है और जिसमें अनेकों मानव जातियाँ आती हैं और विलुप्त हो जाती हैं उनका सच्चा और एक मात्र गुरु ईश्वर—सूर्यमण्डल का अधिष्ठाता ही है। वह जगद्गुरु है। वह उन पूर्वजों का भी गुरु है और जो विभिन्न जातियों और उप-जातियों को उनकी आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार इस सनातन ज्ञान के कुछ अंश देते रहते हैं। वह ज्ञान की दीप्ति-शिखा है जो मानव जाति के समस्त सच्चे गुरुओं के हृदयों को अपनी पूर्ण आभा से प्रकाशित करती रहती है और पथ पर चलने वाले साधकों के हृदय को भी वही, यद्यपि कम तीव्रता से, प्रकाशित करती है। ज्ञान के समस्त सच्चे गुरुओं की शक्ति और प्रेरणा के स्रोत वे ईश्वर ही हैं, अदृश्य पद-प्रदर्शक भी वही हैं। वही प्रत्येक जीवात्मा का धीरे-धीरे परन्तु निश्चितता के साथ विकास के लम्बे चक्र में पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं।

हिन्दू-शास्त्रों में यह बार-बार कहा गया है कि ईश्वर और गुरु एक ही हैं, अभिन्न हैं। किसी भी परिस्थिति में शिष्य यह न सोचे कि वे भिन्न हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ईश्वर और गुरु की अभिन्नता का अर्थ इतना ही है कि जिस ईश्वर को हम अपने आध्यात्मिक प्रयासों से खोज रहे हैं वह हमारा पथ-प्रदर्शक भी है, वही हमारे हृदय में पहले अन्तरात्मा की आवाज के रूप में और बाद में नीरव नाद के रूप में बोलता है। आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित इस महत्त्वपूर्ण सत्य का अर्थ कट्टर-पन्थियों ने विकृत कर दिया। उन्होंने इसका अर्थ स्पष्ट कारणों से यह किया है कि साधारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुरु को, उसमें समस्त मानवीय सीमाएँ और बुराइयाँ होते हुए भी, ईश्वर के समान ही पूजना चाहिए। अन्यथा—

हिन्दू-शास्त्रों में गुरु के रूप में ईश्वर के प्रतीक दक्षिणामूर्ति हैं। जगद्गुरु के रूप में उनके स्वरूप और कार्य का सुन्दर वर्णन निम्न-लिखित सुपरिचित श्लोक में दिया गया है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः॥

कितना विचित्र है! वट वक्ष के नीचे युवा गुरु अपने वृद्ध शिष्यों के बीच बैठे हैं। गुरु मौन रहते हैं फिर भी शिष्यों के समस्त संशय दूर हो जाते हैं।

परम्परागत मान्यता है कि इस श्लोक में दक्षिणामूर्ति की ओर संकेत है। गुरु-शिष्य संबंध के बारे में सम्भवतः अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण और गूढ़ विचार इस श्लोक में दिए हैं।

पहले तो हम उस नाम और स्वरूप पर विचार करें जो गुरु के दिव्य कार्य के प्रतीक हैं। इस नाम का संकेत दक्षिणामूर्ति उपनिषद् में मिलता है। उसमें कहा गया है कि दक्षिण का अर्थ है बुद्धि अर्थात् हमारी वह आत्मिक-शक्ति जिससे हम, मन की सहायता के बिना, सत्य को प्रत्यक्ष जान सकते हैं। अतः दक्षिणामूर्ति का अर्थ है, बुद्धि का मूर्तस्व-रूप। यही हमारे अन्दर दिव्य-चेतना के उस कार्य का प्रतीक है जिससे हम अपने अन्तर की गहराइयों में व्याप्त सत्य को प्रत्यक्ष जानने पाते हैं।

दक्षिणामूर्ति का स्वरूप और जिस परिवेश में उन्हें दिखाया गया है दोनों ही अत्यन्त ही अर्थपूर्ण हैं। वे आध्यात्मिक अनुभवों के रहस्यों की ओर संकेत करते हैं। दक्षिणामूर्ति की इस प्रतीकात्मकता के संबंध में पहली बात तो हमें यह समझनी है कि वे उसी स्वरूप में दिखाए गये हैं जो स्वरूप शिव का है। दोनों में अन्तर अत्यन्त नगण्य-सा है और जगद्गुरु के रूप में उनके कार्य को महत्त्व दिया गया है। निस्संदेह इसका अर्थ है कि जो सत्ता ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में ईश्वर के सृष्टि, पालन और संहार के कार्य करती है वही उस ज्ञान और विज्ञान का स्रोत भी है जो विभिन्न स्तरों पर मानव-मात्र के विकास तथा मुक्ति के साधकों के शिक्षण के लिए आवश्यक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दक्षिणामूर्ति की प्रतीकात्मकता के बारे में यहाँ विस्तार से चर्चा करना सम्भव नहीं है। परन्तु उपरोक्त श्लोक में जिन महत्त्वपूर्ण बातों की ओर संकेत है उनको संक्षेप में स्पष्ट किया जा सकता है।

उन्हें वट-वक्ष के नीचे जड़ के निकट बैठे क्यों दिखाया गया है? वट-वृक्ष मानवीय ज्ञान का प्रतीक है। उसकी अनेक जड़ शाखाएँ ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की प्रतीक हैं। जैसे-जैसे वृक्ष बढ़ता है अनेक जड़-शाखाएँ बनने लगती हैं। परन्तु वृक्ष मन से उत्पन्न ज्ञान अर्थात् अपराविद्या का प्रतीक है न कि उस ज्ञान की जिसे परा विद्या कहते हैं और जो दिव्य-चेतना के प्रत्यक्ष सम्पर्क से प्राप्त होती है। अपराविद्या मन के माध्यम से व्यक्त होती है और भेद उत्पन्न करती है। पराविद्या पूर्ण होती है और सदैव ही दिव्य-चेतना में अपनी समग्रता से विद्यमान रहती है। यह बुद्धि के द्वारा प्राप्त होती है परन्तु निम्न लोकों में अपनी आंशिक और अपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए मन की सहायता लेती है। यही कारण है कि दक्षिणामूर्ति वट-वृक्ष के मूल के निकट परन्तु वृक्ष से पृथक् बैठे दिखाये गये हैं।

युवा गुरु और वृद्ध शिष्य का विरोधाभास इस बात का प्रतीक है कि ज्ञान का स्रोत नित्य और सनातन है। समय और काल के क्षेत्र के जन्म, विकास और मरण सम्बन्धी नियम उस पर लागू नहीं होते। यह सनातन ज्ञान समय और काल के क्षेत्र में गुरुओं को दिया जाता है। वे आध्यात्मिक रूप से तो विकसित होते हैं परन्तु उन्हें मन के अपूर्ण और अस्थायी माध्यम से कार्य करना पड़ता है। वे और उनकी शिक्षाओं, दोनों ही पर विकास और नाश सम्बन्धी नियम लागू होते हैं। उन गुरुओं के शरीर तो अन्य लोगों की तरह वृद्ध और मृत्यु को प्राप्त होते ही हैं, उनकी शिक्षाएँ भी कालान्तर में उनका उपदेश करने वालों के अज्ञान और कमजोरियों के कारण, विकृत हो जाती हैं। परन्तु जिस सनातन-ज्ञान से ये सब शिक्षाएँ प्राप्त हुई थीं वह युवावस्था की भाँति सदैव स्फूर्त, गतिशील और निर्मल बना रहता है, क्योंकि वह ईश्वर की दिव्य-चेतना का ही एक अंश है।

इस श्लोक में दूसरा विरोधाभास यह है कि गुरु मौन रहते हैं फिर भी शिष्यों के समस्त संशय दूर हो जाते हैं। दक्षिणामूर्ति की प्रतीकात्मकता की सम्भवतः यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। इस रहस्य को समझने के लिए हमें यह याद रखना होगा कि जो वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सके वह अपरा-विद्या है। वह मन तक सीमित है। जीवन के उच्चतम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और अत्यन्त गहन रहस्य मन के क्षेत्र से परे हैं और उन्हें वाणी द्वारा व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। उन्हें तो प्रत्यक्ष अनुभव के रूप में ही बताया जा सकता है। शिष्य की चेतना इतनी उच्चावस्था तक ले जाई जाती है जहाँ वह सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सके और उसे उस सत्य का वास्तविक बोध प्राप्त हो जाए। निम्न जीवन से संबंधित बातों तक के लिए भी मन ज्ञान-प्राप्ति का अनुपयुक्त साधन है। आध्यात्मिक क्षेत्र की बातों के लिये तो यह बिल्कुल ही अपर्याप्त और अनुपयुक्त है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच संबंध का ज्ञान, दिव्य प्रेम का स्वरूप, जीवात्मा संसार चक्र में क्यों पड़ता है—ऐसे सभी प्रश्न मन की समझ के परे हैं। इन्हें तो मन के परे अपने अन्तर की गहराइयों में प्रत्यक्ष अनुभूति से समझा जा सकता है।

सर्वातीत सत्यों को जानने के लिए तो प्रत्यक्ष अनुभूति की आवश्यकता है ही, अपने आन्तरिक जीवन से संबंधित सामान्य संशय और कठिनाइयाँ तक बुद्धि के प्रकाश से दूर हो सकती हैं। यह प्रकाश अपने अन्दर से ही आता है और इसे दक्षिणामूर्ति के प्रकाश की एक किरण कहा जा सकता है। जब तक यह प्रकाश हमारे मन को आलोकित न करे, मानसिक ज्ञान अधिकांशतः निष्फल होता है और उसके गहरे और सच्चे महत्त्व स्पष्ट नहीं होते।

दिव्य-गुरु प्रत्येक साधक के हृदय में स्थित हैं। वे ही हृदय की आन्तरिक नीरवता में अपनी दिव्य वाणी द्वारा उसका निर्देशन करने की प्रतीक्षा में हैं। यही उनका स्वरूप है। इस पर विचार करने के पश्चात् हम उनसे अपना सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लाभों की संक्षेप में चर्चा करें। एक विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक का मिलना आध्यात्मिक जीवन की सबसे कठिन समस्या है। पथ-प्रदर्शक भी ऐसा हो जो इस मार्ग पर कठिनाइयों पर विजय पाने में तथा परीक्षणों में सफल होने में हमारी सहायता कर सके, निरुत्साहित होने पर अपना बल दे सके और अज्ञान और निराशा के कारण भटकने पर हमें प्रकाश दिखा सके। अनेक सच्चे साधक बाह्य जगत् में एक उपयुक्त गुरु ढूँढ़ने में अपना जीवन व्यर्थ बरबाद कर देते हैं। वे उस परम-गुरु की ओर ध्यान ही नहीं देते। वह तो उनके अत्यन्त निकट है। उसका ज्ञान, शक्ति और करुणा असीम है और सदैव सुलभ है। वह उनकी तनिक-सी भी आकांक्षा तक से सदैव अवगत रहता है और सहायता के लिए हल्की-सी, परन्तु सच्ची, पुकार का प्रत्युत्तर देता है। इन समस्त परिस्थितियों में श्रद्धा और विश्वास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का अभाव ही सच्ची कठिनाई है। हमें इस बात में श्रद्धा ही नहीं होती कि अन्तर में स्थित आन्तरिक गुरु हमें मार्ग बताने के लिए तत्पर हैं। हमें विश्वास ही नहीं होता, हममें वह क्षमता है कि हम उससे सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकें और सहायता प्राप्त कर सकें। यदि हमारे अन्दर परम श्रद्धा है, यदि हम उसकी ओर दृढ़ निश्चय के साथ उन्मुख हों, और उससे पथ-प्रदर्शक बनने की प्रार्थना करें तो ऐसे समस्त संशय दूर हो सकते हैं। जैसे-जैसे हम अपने आन्तरिक जीवन में सहायता के लिए ऐसे गुरु पर निर्भर रहने लगेंगे तो हम देखेंगे कि अधिकाधिक सहायता हमें प्राप्त होने लगती है और अन्ततः किसी भी बाह्य सहायता की हमें आवश्यकता नहीं रहती। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार सहायता प्राप्त करने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ जुटाने में हमें भी यथा-सम्भव प्रयत्न करना होगा। क्योंकि बुद्धि का प्रकाश उसी मन को आलोकित कर सकता है जो पवित्र, शान्त, संयत और भक्ति से परिपूर्ण हो।

परम-गुरु के रूप में दक्षिणामूर्ति के कार्य का वर्णन करते समय एक प्रश्न पर और विचार किया जा सकता है। साधकों का मुक्ति-मार्ग पर पथ-प्रदर्शन करने वाले मानव मात्र के सच्चे गुरुओं का दक्षिणामूर्ति से क्या सम्बन्ध है? क्योंकि, निस्सन्देह विभिन्न श्रेणियों के गुरु और महात्मागणों का अस्तित्व है और वे लोगों के आध्यात्मिक विकास में विभिन्न प्रकार से सहायता करते हैं। जो साधक दक्षिणामूर्ति को अपना परम गुरु मानता है क्या उसके जीवन में इन गुरुओं का कोई स्थान नहीं है? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें यह याद रखना होगा कि समस्त सद्गुरु जीवन्मुक्त होते हैं, सत्य में स्थायीरूप से स्थित होते हैं और अतः उनकी चेतना का दक्षिणामूर्ति की चेतना से तादात्म्य हो जाता है। एक प्रकार से वे उनकी दिव्य-चेतना के प्रहरी हैं और सभी साधकों के सम्बन्ध में उनकी दिव्य-योजना-पूर्ति के माध्यम हैं। जब कभी किसी साधक को सहायता की आवश्यकता होती है और वह उसका अधिकारी होता है तो परिस्थितियों के अनुसार इन्हीं गुरुओं के माध्यम से वह सर्वोत्तम ढंग से प्रदान की जाती है। कैसे और किसके द्वारा यह सहायता दी जाती है यह जानना साधक का काम नहीं है। इन बातों को तो उसे उन पर छोड़ देना चाहिए जो उस परम-गुरु की इच्छा को पूर्ण दक्षता और ज्ञान के साथ पूरा करने में लगे हैं। उसे तो उस सहायता और निर्देशन को ग्रहण करने के लिए तत्पर और सतर्क रहना चाहिए चाहे वह किसी भी रूप में आए। उसका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी गुरु से भौतिक सम्पर्क स्थापित हो सकता है अथवा उसका निर्देशन अन्तर से हो सकता है अथवा उसे अपने स्वयं के साधनों पर भी दिया जा सकता है जिससे उसकी आन्तरिक शक्ति और आत्म-विश्वास बढ़े। सहायता का स्वरूप परिस्थितियों और शिष्य की आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहता है। अपनी मानसिक पवित्रता, अंह के अभाव और उस दिव्य-चेतना से अपने मन की एकता क अनुसार सामान्य शिक्षक भी दक्षिणामूर्ति के एक अपूर्ण यंत्र के रूप में कार्य कर सकते हैं।

■

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारे कुछ प्रकाशन

अदृश्य सहायक (Invisible Helpers by C.W.L.) पंड्या बैजनाथ 3.25

आध्यात्मिक जीवन (Talks on 'At the Feet of the Master' by A. B. and C. W. L.) कौशल्या देवी मोहता 6.50

बौद्ध-धर्म (Buddhism by A. B.) कौशल्या देवी मोहता 1.00

भारत समाजीय नित्य-पूजा विधान (नवीनतम संस्करण) पंड्या बैजनाथ 1.25

ब्रह्म-विद्या की प्रथम पुस्तक (First Book of Theosophy) —P. Pavri 9.00

भारतीय आदर्श (Indian Ideals by A. B.) रामचन्द्र शुक्ल 1.30

भुवर्लोक (Astral Plane by C. W. L.) पंड्या बैजनाथ 1.80

चक्र, कुण्डलिनी और शास्त्रोक्त अनुभव (The Chakras by C. W. L) पंड्या बैजनाथ 1.80

ध्यान : अभ्यास और परिणाम (Meditations : Its Practice & Results by Clara Codd) रामचन्द्र शुक्ल 0.75

ध्यान माला (Daily Meditation on The Path and Its Qualifications by E. G. Cooper) रामचन्द्र शुक्ल 2.00

श्री गुरु चरणेषु (At the Feet of the Master by Alcyone) पंड्या बैजनाथ 1.25

हिन्दू-धर्म (Hinduism by A. B.) कौशल्या देवी मोहता 0.80

हृदय के सिद्धान्त (Doctrine of the Heart by A. B.) रविशरण वर्मा 1.60

कर्म सिद्धान्त (A Study in Karma by A. B.) श्रीमती माधुरी बिहारी 1.25

मार्ग प्रकाशिनी (Light on the Path by M. C.) भाष्य सहित रामचन्द्र शुक्ल 2.25

मानव कहाँ से, कैसे और किधर (Based on Man : Whence, How & Whither by A. B. & C. W. L. पंड्या बैजनाथ 1.75

सनातन ज्ञान (Ancient Wisdom by A. B.) पंड्या बैजनाथ 6.00

थिऑसोफी के मूल सिद्धान्त (First Principles of Theosophy by C. J.) रामचन्द्र शुक्ल भाग 1, 2, 3 7.00

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Books By Dr. I. K. TAIMNI

Glimpses into the Psychology of Yoga	... Cloth	36 00
	Card Cover	25 00
Gayatri	... Cloth	15 00
	Paper	8 00
Man, God and the Universe (Quest)	Card Cover	33 00
Science and Occultism	... Cloth	18 00
	Stiff Board	12 00
Science of Yoga, The (giving Yoga Sutras of Patanjali, with transliteration in Roman, Translation in English and Commentary)	... Cloth	27 00
	Card Cover	18 00
Secret of Self-Realization, The (giving Aphorisms of *Pratyabhijna Hridayam*, with transliteration in Roman, translation in English and Commentary)	... Cloth	12 00
	Card Cover	6 00
Self-Culture	... Cloth	27 00
	Paper	18 00
Self-Realization Through Love (giving *Narada Bhakti Sutra*, with transliteration in Roman, English translation and Commentary)	... Cloth	12 00
	Card Cover	6 00
Ultimate Reality and Realization, The (giving *Siva-Sutra* with Roman transliteration, English translation and Commentary)	... Cloth	21 00
	Card Cover	12 50

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारे कुछ प्रकाशन

आध्यात्मिक जीवन (Talks on "At the Feet of the Master")
by A. B. & C. W., अनु॰—कौशल्या देवी मेहता

बुद्ध और क्राइस्ट (By C. J.) अनु॰—रामचन्द्र शुक्ल

ब्रह्मविद्या की प्रथम पुस्तक (First Book of Theosophy)
Editor P. Pavri

भुवर्लोक (Astral Plane) by, C. W. L. अनु॰—पंड्या बैजनाथ

दुःख का अर्थ और उपयोग (The meaning and use of Pain)

दिव्य ज्योति (The Yoga of Light) by G. Hodson

ध्यान माला (Daily Meditation, on the Path and its)
Qualifications (by E. G. Cooper) अनु॰—रामचन्द्र शुक्ल

श्री गुरुदेव चरणेषु (At the Feet of the Master)

हृदय के सिद्धान्त (Doctrine of the Heart) by H. P. B.

ध्यान के श्लोक (Based on the Secret Doctrine)
by H. P. B. (अनु॰—पंड्या बैजनाथ)

जीवन की पहेली (Riddle of Life) by A. Besant

जीवन का रहस्य (Mystery of Life) by Clara Codd

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवनमुक्त और मुक्तिमार्ग (Based on the Masters and the Path)
by C. W. L. अनु॰—पंड्या बैजनाथ

कर्म (Karma) by A. B.

किशोर नागरिक (School boy as a Citizen) by A. B.

मरण मुक्ति का द्वार (आध्यात्मिक कविताओं का संग्रह)

महाभारत (The Epic Story of the Great War) by A. B.
(अनु॰—जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव)

मनुष्य के सात तत्व (Seven Principles of Man)
by Dr. A. B. (अनु॰—मालती रानी)

मनुष्य तथा उसके कोष (Man and His Bodies)
by Dr. A. B. (अनु॰—जे॰ पी॰ श्रीवास्तव)

ब्रह्म जिज्ञासु का जीवन (Theosophic Life)
by Dr. A. B. (अनु॰—डा॰ रघुवीर शरण गुप्ता)

मार्ग की खोज (Seek out the Way)
by Rohit Mehta (अनु॰—श्रीदेवी मेहता)

मार्ग प्रकाशिनी (Light on the Path)
by M. Collins (भाष्य सहित—रामचन्द्र शुक्ल)

मुमुक्षु का मार्ग (The Path of Discipleship) by Dr. A. B.

निर्वासित देवता (Gods in Exile) by V. V. Van Der Leeuw

मेरी प्रतिज्ञा (I Prsomise) by C. Jinaradassa

नीरव नाद (Voice of the Silence) by H. P. B.

नैवेद्य (In His Name) by C. J. (अनु॰—रामचन्द्र शुक्ल)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राज योग (राजाराम सखाराम भागवत)

संगीत लहरी (श्रीमती श्रीदेवी मेहता)

संत सौरभ (श्रीमती श्रीदेवी मेहता)

सनातन धर्म और युग धर्म (पुत्तन लाल विद्यार्थी)

सनातन ज्ञान (Ancient Wisdom) by A. B.

थिऑसोफी की कुन्जिका — एच. पी. ब्लेभेट्स्की

मानव पुनरुत्थान — राधा बर्नियर

अदृश्य सहायक — सी. डब्लू सी ड्बीटर

बाहरी प्रांगण — एनी बेसेन्ट

मनुष्य के कोष और उनकी शुद्धि — पंड्या बैजनाथ

मृत्यु और उसके पश्चात — पंड्या बैजनाथ

जीवन का विश्व व्यापी नियम

शोक संतप्तों के लिये (To Those Who Mourn) by C. W. L.

थिऑसोफी का व्यवहार दर्शन (Practical Theosophy) by C. J.

थिऑसोफी परिचय (Text Book of Theosophy)
by C. W. Leadbeater (अनु०—पंड्या बैजनाथ)

थिऑसोफी के मूल सिद्धान्त (First Principles of Theosophy)
by C. J. (अनु०—रामचन्द्र शुक्ल)

व्यावहारिक आत्मविद्या (Practical Occultism) by H. P. B.

योग एक परिचय (An Introduction to Yoga) by A. B.

व्यक्ति व्यवहार और विकास (डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी)

Eternal Search of Wisdom by S. Dayal

Fundamental of Divine Life by Vinay Bihari

Glossary of The Theosophical Terms,)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

High Light of Modern Theosophical Thought
by Dr. B. R. Mullick

Hand Book of Indian Section

Knowledge and Wisdom by N. Sri Ram

Mystic Experiences by Dr. Bhagwan Das

Rishi, Devapi and Maru

The Science of Religion or Sanatan Vaidik Dharma
(by Dr. Bhagwan Das)

Spirtual Organisation and Exploitation
by Rohit Mehta

Theosophy and Education

Theosophy Explained (by P. Pavri)

Two Talks (by Radha Burnier)

Yoga Vashistha and its Philosophy
(by Prof. B. L. Atreya)

In Honour of Dr. Annie Besant

Theosophy and Theosophical Society

विचार शक्ति-एनी बेसेन्ट

योगाभ्यास - एस. एस. वर्मा

मानव का पुनरुत्थान - एन. श्री. राम

गायत्री - आइ. के. तैमिनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi